UNIVERSITY-SILVER-JUBILEE-GRANTHAMĀLĀ

[Vol. 9]

VAIDIKA SAṀHITĀOṀ MEṀ NĀRĪ

Written & Edited
By
DR MĀLATĪ ŚARMĀ
M A., PH. D

VARANASI
1990

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi

•

Published by—
Dr Harish Chandra Mani Tripathi
Publication Officer
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi—221 002

•

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi—221 002

•

First Edition—1000 Copies

Price—Rs 96 00

•

Printed at —
Tara Printing Works
Kamaccha, Varanasi

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला

[नवम पुष्प]

वैदिक-संहिताओं में नारी

लेखिका तथा सम्पादिका

डॉ० मालती शर्मा

एम०ए०, पी-एच०डी०

वाराणसी

२०४७ वैक्रमाब्द   १९१२ शकाब्द   १९९० खेस्ताब्द

अनुसन्धानप्रकाशनपर्यवेक्षक—
निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१ ००२

●

प्रकाशक—
डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी
प्रकाशनाधिकारी,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१ ००२

●

प्राप्ति-स्थान—
विक्रय-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी—२२१ ००२

●

प्रथम संस्करण—१००० प्रतियाँ
मूल्य—९६=०० रुपये

●

मुद्रक—
तारा प्रिंटिंग वर्क्स,
कमच्छा, वाराणसी

प्ररोचना

"वैदिक-संहिताओ मे नारी" शोध-प्रवन्ध नारी की प्रतिष्ठा के विषय मे वैदिक सन्दर्भों का अच्छा सकलन है। वेदो मे नारी का स्थान बहुत महनीय और स्फूर्तिमान् है। यद्यपि मातृदेवताओं की सख्या वहाँ बहुत अधिक नही है, तब भी 'उषा', 'वाक्', 'अरण्यानी' और 'अदिति' जैसी देवियो का स्थान वैदिक वाङ्मय मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। इनसे सम्बद्ध सूक्तो मे न केवल प्रचुर काव्यतत्त्व है, अपितु उदात्त सृष्टिसयोजनभाव और चरम रहस्य का उद्भेदन किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध एक बहु-आयामी अध्ययन है। वैदिक परिशीलन के क्षेत्र मे निश्चय ही यह उपादेय है। तत्कालीन सामाजिक परिवेश और उस परिवेश के असख्य विभागो के प्रवर्तन और सञ्चालन मे वैदिक-नारी के योगदान की अभिव्यक्ति इस प्रवन्ध के द्वारा स्पष्ट हुई है। मैं इस प्रवन्ध की लेखिका आयुष्मती डॉ० मालती शर्मा को एतदर्थ धन्यवाद देता हूँ।

विद्यानिवास मिश्र
कुलपति,
सम्पूर्णानन्द-सस्कृत-विश्वविद्यालय

वाराणसी
गुरुपूर्णिमा,
वि० स० २०४८

भूमिका

प्रस्तुत ग्रन्थ **'वैदिक-संहिताओ मे नारी'** की भूमिका का लेखन स्वय मे इस विषय के ग्रन्थ के लेखन की भूमिका बन जाता है, अर्थात् समूचा ग्रन्थ ही इस विषय की भूमिका हो जाता है और समूची भूमिका इस विषय का ग्रन्थ बन जाती है। इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हमे आर्यो की भाषा, वाङमय, साहित्य तथा संस्कृति की पृष्ठभूमि का रेखाकन करना पडेगा। आर्यावर्त्त के आर्यो का साहित्य वेद था। वेद का अर्थ है ज्ञान। वेद का बडा अश कवितामय है। उसमे जो एक-एक पद्य होते है, उन्हे 'ऋच्' या 'ऋचा' कहा जाता है। जो ऋचाएँ गेय होती है, उन्हे 'साम' कहा जाता है। इसीलिये भगवान् कृष्ण ने गीता मे कहा है **'वेदाना सामवेदोऽस्मि'**[1]। वेद का कुछ अंश गद्यमय भी है। उस गद्य के एक-एक सन्दर्भ को 'यजुष्' कहा जाता है। ऋचाओ, सामो और यजुषो को 'मन्त्र' भी कहते हैं।

आर्य लोग निरे योद्धा ही नही थे। उनमे अपने चारो तरफ की वस्तुवो को ध्यान से देखने और उनके विषय मे चिन्तन-मनन करने की अपार शक्ति थी। अपने विचारो को उन्होने तेजस्विनी, किन्तु ललित भाषा मे अभिव्यक्ति दी। ऋचाएँ, साम और यजुष् पहले फुटकर रूप मे थे। भिन्न-भिन्न ऋषियो के परिवारो तथा शिष्य-परम्पराओ मे उनका सग्रह होता गया। इस प्रकार उनकी सहिताएँ बनी। 'सहिता' का अर्थ है 'सकलन' या 'सग्रह'। आर्यावर्त्त की भाषा के सभी प्रकार के उच्चारणो का वर्गीकरण और विश्लेषण करके भारतीय वर्णमाला का प्रणयन हुआ। इस 'ब्राह्मी' वर्णमाला का आविष्कार ससार के सबसे पूर्ण आविष्कारो मे से एक था।

वर्णमाला निश्चित होने और लिखना प्रारम्भ होने से साहित्य के सकलन की प्रवृत्ति और बढी तथा सभी प्रकार के ज्ञान को पुष्टि मिली। महर्षि कृष्णद्वैपायन महाभारत युद्ध के समकालीन थे। उन्होने अन्तिम बार अपने काल तक के 'वेद' अर्थात् 'ज्ञान' की सहिताएँ बना दी, जो आज तक चली आ रही है। उन्होने ऋचाओ की एक सहिता बनायी, जिसमे ऋचाओ को छाँटकर ऋषि क्रम तथा विषय क्रम मे बाँट दिया। इसी प्रकार सामो और यजुषो की अलग-अलग सहिताएँ बनायी। ये तीनो 'ऋक्सहिता', 'सामसहिता' और 'यजु.सहिता' मिलकर त्रयी कहलायी। त्रयी हमारे साहित्य का सबसे पुराना सग्रह है। दूसरे प्रकार के कुछ भिन्न-भिन्न मन्त्रो को महर्षि कृष्णद्वैपायन ने त्रयी से अलग 'अथर्वसंहिता' के रूप मे सगृहीत किया और फिर उसी तरह उन्होने ऐतिहासिक आख्यानो को भी एक सहिता बनायी, जो

१. श्रीमद्भगवद्गीता—१०।२२।

'पुराणसंहिता' के नाम से प्रथित हुई। इस प्रकार **'त्रयी'** के साथ **'अथर्ववेद'** एव **'पुराणवेद'** को मिलाकर पांच वेद कहे गये। 'वेद' अर्थात् 'ज्ञानकोश' का इस प्रकार बँटवारा करने के कारण महर्षि कृष्णद्वैपायन **'वेदव्यास'** अर्थात् वेद-विभाजक कहलाए।

आर्यो के धर्म-कर्म प्रारम्भ मे बहुत सरल थे। बाद मे वे उत्तरोत्तर जटिल होते गए। **'देव-पूजा'** और **'पितृ-पूजा'** उनकी मुख्य पहचान थी। वह पूजा यज्ञ मे आहुति देने से प्रारम्भ होती थी। यज्ञो के लिए प्रत्येक गृहस्थ के घर मे सदा अग्नि प्रज्वलित रहती थी। इन्द्र को मुख्य देवता का स्थान प्राप्त था। प्रकृति की बड़ी-बड़ी शक्तियो मे आर्य लोग दैवी अभिव्यक्ति देखते थे और उन्ही शक्तियो की उन्होने भिन्न-भिन्न देवताओ के रूप मे कल्पना की थी। उदाहरण के लिए **'द्यौः'** अर्थात् आकाश एक देवता हुए, उसी तरह 'पृथिवी' भी। **'द्यावा-पृथिवी'** का जोड़ा प्रायः युगनद्ध माना गया। 'वरुण' भी 'द्यौः' के एक रूप माने गये। वे 'द्यौ' को ज्योति के सूचक के रूप मे प्रसिद्ध हुए।

इसी प्रकार **'सूर्य'** के भिन्न-भिन्न गुणो से कई अन्य देवताओ की कल्पना हुई। प्रभात वेला **'उषा'** सुन्दरी के रूप मे प्रकट होती है। उसका प्रेमी सूर्य उसके पीछे-पीछे चलता है। उदय होता हुआ सूर्य ही **'मित्र'** है। वह मैत्रीपूर्ण देवता मनुष्यो को नीद से उठाता और कर्तव्य मे अभिप्रेरित करता है। यही सूर्य पूर्णरूप से उदित होकर अपनी किरणो से सारे जगत् को जीवनदान देता है, तब वह **'सविता'** कहलाता है। इस तथ्य का बड़ा मनोहारी निरूपण मैत्रायणीय-आरण्यक मे किया गया है—"तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ वाऽऽदित्यः सविता स वा एव प्रवरणीय आत्मकामेनेत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्गो देवस्य धीमहीति सविता वै देवस्ततो योऽस्य भर्गाख्यस्त चिन्तयामीत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ धियो न. प्रचोदयादिति बुद्धयो वै धियस्ता योऽस्माक भर्ग इति यो ह वाऽमुस्मिन्नादित्ये निहितस्तारकोऽक्षिणि वैष भर्गाख्यो भाभिर्गतिरस्य हीति '''शश्वत्सूयमानात् सूर्य., सवनात् सविता, आदानात् आदित्यः, पवनात् पावन [१]"। इन प्रतीकात्मक वर्णनो के विश्लेषण से हम पाते हैं कि आर्यो की देव-कल्पना मधुर और सौम्य थी। घिनौने, डरावने तथा अश्लील देवताओ के लिए वहाँ स्थान नही था[२]। उसमे कवि के स्निग्ध तथा उर्वर हृदय और अन्तर्दृष्टि की झलक

१ मै० आ० ६।७।

२. महर्षि अरविन्द ने वैदिक देव-सत्ता की शक्ति का विवेचन करते हुए लिखा है कि—"वे देव कौन से हैं, जिनका यजन करना है? वे कौन है, जिनका यज्ञ में आवाहन करना है? जिससे यह वर्धनशील देवत्व मानवसत्ता के अन्दर अभिव्यक्त हो सके और रक्षित रह सके? सबसे पहला (देव) है 'अग्नि'; क्योकि उसके बिना यज्ञीय-ज्वाला आत्मा की वेदी पर प्रदीप्त ही नही हो सकती। अग्नि की वह ज्वाला है सकल्प की सप्तजिह्व शक्ति,

दृष्टिगोचर होती है। बाद मे यज्ञो का आयोजन आडम्बरपूर्ण ढंग से होने लगा, किन्तु साधारण आर्य अग्नि मे अपनी दैनिक आहुति स्वय दे लेता था। देवों के अतिरिक्त वह पितरा का तर्पण भी स्वय कर लेता था। आर्यो के चिन्तन मे 'देव-पूजा' के साथ ही साथ 'पितृ-पूजा' का सह अस्तित्व मानवजाति की महायात्रा मे बेमिसाल माना गया।

आर्यो का सामाजिक जीवन भी उनके जीवन की अन्य बातो की तरह सरल था। समाज मे ऊँच नीच की भावना कुछ कुछ जरूर थी, पर विशेष भेद न थे। 'आर्य' और 'दास' मे बडा भेद था, पर आर्यो और दासो मे भी परस्पर सम्बन्ध हो

परमेश्वर की एक ज्ञान प्रेरित शक्ति। यह सचतन (जागृत) तथा बलशाली सकल्प हमारी मर्त्यसत्ता के अन्दर अमर्त्य अतिथि है, एक पवित्र पुरोहित और दिव्य कार्यकर्ता है, 'पृथिवी' और 'द्यौ' के बीच मध्यस्थता करने वाला है। जो कुछ हम 'हवि' प्रदान करते है, उसे यह उच्चतर शक्तियो तक ले जाता है और बदले म उनकी शक्ति, प्रकाश तथा आनन्द हमारी मानवता के अन्दर ले आता है।

दूसरा देव है शक्तिशाली इन्द्र। वह शुद्ध 'सत्' की शक्ति है, जो 'भागवत-मन' के रूप म स्वत अभिव्यक्त है। जस अग्नि एक ध्रुव है, ज्ञान से आविष्ट शक्ति का ध्रुव, जो अपनी धारा का ऊपर 'पृथिवी से द्यौ की तरफ भजता है। वैसे ही 'इन्द्र' दूसरा ध्रुव है, शक्ति से आविष्ट प्रकाश का ध्रुव, जो 'द्यौ' से पृथिवी' पर उतरता है। वह हमारे इस जगत में एक पराक्रमी वीर योद्धा के रूप में अपने चमकीले घोडो के साथ उतरता है और अपनी विद्युत् तथा 'वज्र' के द्वारा अधकार एव विभाजन का विनाश करता है और जीवन दायक दिव्य जल की वर्षा करता है। 'शुनी (अतर्ज्ञान) की खोज के द्वारा खोयी या छिपी हुई ज्योतियो का ढूढ निकालता है। हमारी मनोमय सत्ता के द्युलोक मे सत्य के सूर्य को ऊँचा चढा देता है।

तीसरा देव है 'सूर्य-देवता', उस परम सत्य का स्वामी—सत्ता के सत्य, ज्ञान के सत्य, क्रिया और प्रक्रिया के सत्य, गति और व्यापार के सत्य का स्वामी। इसलिए सूर्य है सभी वस्तुओं का स्रष्टा, बल्कि अभिव्यञ्जक और यह हमारी आत्मा का पिता, पोषक तथा प्रकाशदाता है। जिन ज्योतियो को हम चाहते है, वे इसी सूर्य के 'गोयूथ' है, गौएँ है। यह सूर्य हमारे पास दिव्य उषाओ के पथ से आता है और हमारे अन्दर रात्रि मे छिपे पडे जगत् को एक के बाद एक खोलता तथा प्रकाशित करता जाता है, जब तक कि यह हमारे लिए सर्वोच्च परम आनन्द का नही खोल देता।

इस आनन्द का प्रतिनिधिभूत देवता है 'सोम'। उसके आनन्द का रस (सुरा) छिपा हुआ है पृथिवी के प्ररोहो मे, पौधो मे और सत्ता के जल में। यहाँ हमारी भौतिक सत्ता तक में उसके अमरतादायक रस है और उन्हे निकालना है, उनका 'सवन' करना है और उन्हें सब देवताओ को हविरूप में प्रदान करना है, क्योकि 'सोमरस' के बल से ही ये देव बढेंगे और विजयशाली होंगे (वेद-रहस्य, द्वितीय सस्करण, उत्तरार्ध, पृष्ठ-२० २१)।

ही जाते थे। राजा भरत के काल मे दीर्घतमा नाम के ऋषि थे। कहते हैं कि उनसे पहले 'विवाह-संस्था' प्राय नही थी। उन्होने विवाह सस्था की स्थापना की। तबसे विवाह पवित्र और स्थायी सम्बन्ध माना जाने लगा। युवक युवती को अपना साथी चुनने की स्वतन्त्रता थी। विनोद के कार्यों और स्थानो मे उन्हे 'अभ्ययन' (परस्पर मिलने) और 'अभिमनन' (मनाने) के यथेष्ट अवसर मिलते थे। राज पुत्रियो के स्वयवर होते थे। विधवाएँ पुन विवाह कर सकती थी। स्त्रियां हर काम मे पुरुषो का साथ देती थी। वैदिक-ऋषियो में भी अनेक स्त्रियो की गणना होती थी। 'रोमशा',[1] 'लोपामुद्रा'[2] 'विश्ववारा',[3] 'शश्वती',[4] 'अपाला',[5] 'यमी',[6] 'घोषा',[7] 'सूर्या',[8] "इन्द्राणी',[9] 'उर्वशी',[10] 'दक्षिणा',[11] 'सरमा',[12] 'जुहू',[13] 'वाक्',[14] 'रात्रि',[15] 'गोधा',[16] 'श्रद्धा',[17] 'इन्द्रमातर',[18] 'यमी',[19] 'शची',[20] एव 'सार्पराज्ञी',[21] आदि ब्रह्मवादिनी ऋषिकाओ की यशोगाथा से सम्पूर्ण वैदिक-वाङ्मय देदीप्यमान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्यो का वैदिक समाज ऐसे ताने बाने से बुना गया था, जिसम जीवन रथ को स्फूर्ति एव प्रेरणा देने वाले स्रोत, चाहे वे विद्या केन्द्र हो, चाहे यज्ञशालाएँ हों, चाहे तत्त्व साक्षात्कारी वाद सभाएँ हो, चाहे विनोदोत्सव के प्रसग हो हमेशा नर-नारी को केन्द्र म रखकर गतिमान् रहे। ऋग्वेद के अध्ययन से प्रगट होता है कि वैदिक समाज के अनुसार नारी के विना गृह की कल्पना ही नही की जा सकती थी। वैदिक पत्नी कठोर सयम एव त्याग से आदर्शो का निर्वाह करती, शीलपूर्वक गृहकार्य करती तथा घर मे ही रहा करती थी। वह सन्तति तथा पति की सेवा मे ही अपनी चरितार्थता मानती थी। वस्तुत वैदिक-कालीन नारी परिवार मे प्रेयसी, रक्षिका, सम्बन्ध विस्तार का कारण तथा धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एव सास्कृतिक व्यवस्था के उत्कर्ष का आधार थी, क्योकि इन सवकी समष्टि के भीतर वह समाज उत्कर्ष की कोटि को प्राप्त करता था, जिसके द्वारा आर्य लोग विद्या सस्था, विवाह-संस्था, यज्ञ सस्था, देव पितृ सस्था तथा समाज सस्था को गति प्रदान करते थे।

वैदिक-काल म पुरुषो के समान स्त्रियो को भी ब्रह्मचर्य आश्रम मे प्रवेश कर गुरु से अभिन्नरूप मे शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। बुद्धिमती कन्या माता-पिता

१ ऋ० स० १।१२६।७ २ वही–१।१७९।१, ३ वही–५।२८।१-६।
४ वही–८।१।३४, ५ वही–८।९१।१, ६ वही–१०।१०।१।
७ वही–१०।३९।४०, ८ वही–१०।८५।१, ९ वही–१०।८६।१।
१० वही–१०।९५।२, ११ वही–१०।१०७।१, १२ वही–१०।१०८।२।
१३ वही–१०।१०९।१, १४ वही–१०।१२५।१, १५ वही–१०।१२७।१।
१६ वही–१०।१३४।७, १७ वही–१०।१४५।१, १८ वही–१०।१५१।१।
१९ वही–१०।१५३।१, २० वही–१०।१५४।१, २१. वही–१०।१५९।१।

के लिये आदर्श कन्या मानी जाती थी। ऋग्वेद मे 'घोषा'[१] एवं 'वध्रिमती'[२] को प्रभूत बुद्धिशालिनी कहा गया है। पुत्र के अभाव मे विवाहित कन्याएँ भी अपने पिता के साथ रहा करती थी तथा उन्हे पुत्रोचित सभी अधिकार प्राप्त थे। पिता की अन्त्येष्टि-क्रिया भी वे कर सकती थी।

वैदिक कालीन कन्याओ का बालको को भाँति ही उपनयन-सस्कार भी होता था। यजुर्वेद मे कहा गया है कि कन्याओ का उपनयन सस्कार होता था, तथा वे सन्ध्योपासन की विधि भी पूरी करती थी[३]। युवती कन्या का, जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया हो, ऐसे वर के साथ विवाह किया जाता था, जो स्वय ब्रह्मचारी हो। उस समय बाल-विवाह की प्रथा नही थी। अत युवावस्था से पूर्व उन्हे विद्याध्ययन के लिये पर्याप्त समय मिलता था। कन्याएँ वेदाध्ययन करती, कविताएँ बनाती तथा वैदिक मन्त्रो की रचना करती थी। वैदिक-वाङ्मय मे उनके मन्त्र भी सम्मिलित किये गये हैं। वे अपनी तपस्या से ऋषियो का स्थान प्राप्त कर लेती थी। कन्याएँ विदुषी बनकर अध्यापिकाएँ तथा ऋषिकाएँ भी हुआ करती थीं। ऋग्वेद से लडकियो के वीणा आदि वाद्य यन्त्रो के साथ गाने तथा नृत्य करने का ज्ञान प्राप्त होता है।

ऋग्वेद के अनेक सूक्तो का आविष्कार नारियो द्वारा भी हुआ है। ब्रह्मवादिनी 'घोषा' ने दशम-मण्डल के ३९वे एव ४०वे सूक्तो का साक्षात्कार किया था। अपने पति अगस्त्य के साथ 'लोपामुद्रा' ने ऋग्वेद के प्रथम-मण्डल के १७९वे सूक्त का दर्शन किया[४]। 'अपाला'[५] एव 'रोमशा' के साथ सूर्य पुत्री 'सूर्या'[६] ने भी मन्त्रो की रचना की थी। इन्द्रदेव की पत्नी 'इन्द्राणी' ने ऋग्वेद के दशम-मण्डल के सूक्त की रचना की थी[७]। इसी प्रकार ऋग्वेद के १५९व सूक्त की ऋषिका पुलोमपुत्री 'शची' कही गयी है। इसके अतिरिक्त 'वागम्भृणी',[८] 'रात्रि',[९] 'भारद्वाजी',[१०] 'श्रद्धा',[११] 'कामायनी'[१२] आदि वैदिक युग की मन्त्र द्रष्ट्री विदुषियाँ थी, जिन्होने कन्याओ के बुद्धि वैभव के आदर्श को उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठित किया।

विवाहोपरान्त पत्नी पति के साथ धार्मिक-कृत्यो मे भाग लेना ही अपना आदर्श नही मानती थी, अपितु वह स्वय स्वतन्त्ररूप से धार्मिक कृत्यो को भी सम्पन्न करती थी। पत्निया कभी अपनी रुग्णावस्था दूर करने के लिये, कभी पुत्र-प्राप्ति के लिये, कभी पति एव परिवार पर अपने शासन के लिये तपस्या, यज्ञ तथा देवस्तुतिया

---

१ ऋ० स० १।११७।१९, २ वही–१।११६।१३, ३ यजुर्वेद–८।१।
४ ऋग्वेद–१।१७९, ५ वही–१०।९१, ६ वही–१०।८५।
७ वही–१०।१४५, ८ वही–१०।१२५; ९ वही–१०।१२७।
१० वही–१०।१५१, ११ वही–१०।१६५, १२. वही–१०।१६८।

किया करती थी। उदाहरणस्वरूप 'घोषा' ने अपने रोग की निवृत्ति के लिये,[१] 'वध्रिमती' ने पुत्र प्राप्ति के लिये,[२] 'शची पौलोमी' ने सपत्नियो को पराभूत एव पति को वश मे करने के लिये यज्ञानुष्ठान किये थे[३]।

उन दिनो आर्य लोग आर्यावर्त्त मे अपने अधिकारो का विस्तार कर रहे थे। पुरुष प्राय. युद्ध-कार्यो मे व्यस्त रहा करते थे। इसलिये स्त्रियाँ पारिवारिक एव सामाजिक जीवन म बहुत क्रियाशील रहा करती थी। वे कृषि एव पशुपालन का कार्य भी किया करती थी। वस्त्र बुनती और दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ बनाती थी। वे धनुप बाण आदि अस्त्र शस्त्र भी बनाती थी। स्त्रियाँ सोने-चाँदी के आभूषण धारण करती थी। उन दिनो पर्दे की प्रथा नही थी। स्त्रियो को सार्वजनिक समारोहो से अलग नही रखा जाता था। स्त्रियो के प्रति समाज का दृष्टिकोण उदार एवं स्नेहपूर्ण था। ऋग्वेद मे स्त्रियो के प्रति आशसा एव सद्भावना पायी जाती है[४]। ऋग्वेद का ऋषि अग्नि देवता और उषा-देवी की तुलना गृहपत्नी से करता है, जो गृह के लोगो की सुख-शान्ति का उत्तरदायित्व निभाती है[५]।

आर्यो मे युवको युवतियो का मिलना जुलना जैसा स्वस्थ और खुला होता था, वैसा ही उनका विवाह का आदर्श उज्ज्वल और ऊँचा था। वेद मे 'सूर्या' के विवाह का वर्णन अत्यन्त मनोरञ्जक और हृदयग्राही है[६]। विवाह एक पवित्र और स्थायी सम्बन्ध माना जाता था, पर वह आज कल के हिन्दू विवाह की तरह जड, अन्धा और निर्जीव गँठजोड न था। विधवाएँ देर तक विधवा नही रहती थी। उन्हे फिर से अपना प्रेमी खोजने और विवाह करने 'पुनर्भू' होने मे कोई रुकावट न थी। प्राय वे अपने देवर से भी विवाह कर लेती थी[७]। दहेज की प्रथा भी थी[८] और शुल्क लेकर लडकी देने की भी[९]।

प्रस्तुत अनुसन्धान-कार्य "वैदिक सहिताओ मे नारी" आर्य-नारी की पूर्व वर्णित यशोगाथाओ से ओत प्रोत है। इस प्रबन्ध को आठ अध्यायो मे बाँटा गया है। सभी अध्यायो के प्रतिपाद्य विषय सभी अध्यायो के विषयो से अन्योन्याश्रित होकर ओत-प्रोत है। इसीलिये प्रारम्भ मे ही निवेदन किया जा चुका है कि इस अनुसन्धान-प्रबन्ध का शीर्षक तथा इसकी भूमिका एक-दूसरे का स्थान ले सकते हैं। विद्वज्जन स्वयं देखेंगे कि इस प्रबन्ध के प्रथम-अध्याय म वैदिक-वाङ्मय को शाखा-प्रशाखाओ का रेखाङ्कन किया गया है। द्वितीय-अध्याय मे नारी-वाचक शब्दो की व्युत्पत्तियाँ तथा उनके अर्थो के आरोह-अवरोहो को दर्शाया गया है। तृतीय-अध्याय का प्रतिपाद्य

---

१ ऋग्वेद—१।११७।७, २ वही—१।११६।१३, ३. वही—८।१५९।१।
४ अ० वे० २।३०।१, ५ ऋग्वेद—१।६६।३, ६ अ० व० १।१४।१।
७. ऋ० व० १०।४०।२, ८ अ० वे० १४।१।६, ९ निरुक्त—३।४।

विषय षोडश संस्कारो की विवेचना और उनके केन्द्र मे नारी का धुरी होना निरूपित है। चतुर्थ अध्याय आर्य-नारियो की शिक्षा और उसके द्वारा उनके ऋषित्व-प्राप्ति के विस्तार का दिग्दर्शन कराता है। पचम-अध्याय आर्य-नारियो द्वारा साक्षात् किये गये मन्त्रो एव तद्युगीन समाज-व्यवस्थाओ की ओर इगित करता है। षष्ठ-अध्याय नारियो के अधिकारो एव उनके प्रति सामाजिक अनुशंसाओ की ओर उँगली उठाता है। सप्तम अध्याय मे नारी के शैक्षिक, सामाजिक, पारिवारिक एव सास्कृतिक अवदानो की विवेचना हुई है। अष्टम-अध्याय नारियो के उत्सग से प्राप्त सम्बन्धगत समादर को प्रतिबिम्बित करता है।

पाठकवृन्द से विनम्र निवेदन है कि यह प्रबन्ध मुख्यरूप से वैदिक वाङ्मय को केन्द्र मे रखकर लिखा गया है, अत समुद्रोपम श्रुति-वाङ्मय से कितने मौक्तिक पकड मे आ सके है, इसका निर्णय मैं कृपालु पाठको पर ही छोडती हुई विराम लेती हूँ। मुख्यरूप से यहाँ ज्ञाताज्ञात ऋषियो, महर्षियो, मुनियो, तत्त्व चिन्तको, विद्वानो के प्रति सप्रणति आभार मानती हूँ, जिनके चिन्तन के बीज अनादिकाल से आर्यावर्त्त को ओजस्वी बनाये हुए हैं। इस ग्रन्थ मे मुद्रण-जन्य, प्रमाद-जन्य एव असामर्थ्य-जन्य जो भी त्रुटिया रह गयी है, उनके लिये विद्वज्जन से विनम्रतापूर्वक क्षमा-प्रार्थना के अतिरिक्त कोई विकल्प नही।

वाराणसी
वसन्त पञ्चमी,
वि० स० २०४७
(१२।२।१९९१)

विद्वज्जन कृपाभिलाषिणी
मालती शर्मा

कृतज्ञता-प्रकाश

इद नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्य पथिकृद्भ्य. ॥ (ऋक् संहिता-१०।१४।१५)

वैदिक वाङ्मय, विशेष रूप से वैदिक-संहिताओ के अध्ययन की ओर मेरी प्रवृत्ति बाल्यावस्था से हो रही है। वैदिक-साहित्य के प्रति मेरी इस स्वाभाविक अभिरुचि को सदा तीव्र बनाये रखने मे परमपूज्य मेरे तातपाद पण्डितप्रवर श्रीविश्वनाथ भारद्वाज वानप्रस्थी तथा पितृकल्प तन्त्रसम्राट् पण्डित अक्षयवर पाण्डेय महाराज का बहुत बडा योगदान रहा है। पतिपरायणता मे "श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्" की उक्ति को चरितार्थ करने वाली परमसाध्वी मेरी माता विमला देवी मुझे बाल्यकाल मे ही छोडकर सदा-सर्वदा के लिए चली गयी, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि जाने से पूर्व उन्होने अपना मातृहृदय मेरे पूज्य पिता जी को अर्पित कर दिया था। अपनी धुन के पक्के मेरे पिता ने मुझे संस्कृत पढने हेतु पाँच वर्ष की अवस्था मे साङ्गवेद विद्यालय, रामघाट, वाराणसी मे भर्ती करा दिया। अपनी छः बहनो मे सबसे छोटी होने के कारण मै अपनी बड़ी बहनो से प्यार एव प्रोत्साहन पाती रही और विशेषरूप से अपनी सबसे बडी बहन विद्यारूपा विद्या देवी की प्रेरणा से धीरे-धीरे अपने लक्ष्य की ओर बढने लगी। मेरे पूज्यपाद पिता की दृढ-प्रतिज्ञा थी कि वे मेरा विवाह किसी संस्कृतज्ञ से ही करेंगे। मेरे पूर्वजन्म के पुण्य एव मेरे माता-पिता के संस्कारो के कारण मेरा विवाह डॉ० रामरङ्ग शर्मा, एम० ए०, पी-एच्०डी० वर्तमान संस्कृत-विभागाध्यक्ष, दयानन्द महाविद्यालय, वाराणसी के साथ २७ नवम्बर १९६४ ई० को सम्पन्न हुआ।

मैंने १९७६ ई० मे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम० ए० (संस्कृत, वैदिक-ग्रुप) की उपाधि प्राप्त की। परीक्षाफल ज्ञात होते ही मेरे हृदय मे "वैदिक-संहिताओ मे नारी" इस विषय पर शोधकार्य करने की भावना बलवती हो उठी। विषय की गुरुता तथा कार्य की दु साध्यता का भान मुझे उस समय होने लगा, जब मैं प्रस्तुत विषय पर अनुसन्धान हेतु किसी ऐसे विद्वान् की खोज करने लगी, जो पौरस्त्य एव पाश्चात्य, दोनो की अभिनव-शोधप्रणाली मे दक्ष हो। मेरे सौभाग्य से मेरे पतिदेव के भी गुरु डॉ० वीरेन्द्र वर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत-पालि-विभाग मे प्रोफेसर तथा अध्यक्ष नियुक्त हो गये। डॉ० वर्मा का नाम सुनते ही मेरे पतिदेव ने कहा—"अदूरवर्तिनीं सिद्धिं विगणयात्मन."। आशा एव विश्वास का सम्बल लिये मैने डॉ० साहब से प्रार्थना की कि अपनी शिष्य-परम्परा का यह प्रसाद आप मुझे भी दें। मेरी प्रार्थना पर अपने व्यस्त कार्यक्रमो के होते हुए

भी मेरे शोध-निर्देशन की अनुमति श्रद्धेय गुरुदेव ने दे दी। इस वात्सल्यपूर्ण उदारता ने मेरे हृदय मे आशा का सचार किया, जिसके लिये मैं परमपिता परमात्मा की सदा कृतज्ञ रहूँगी। उसी सहृदयता का ही फल है कि आज मैं यह शोध-प्रबन्ध भारत के मूर्धन्य विद्वान् शिक्षा जगत् के विख्यात मनीषी आचार्यप्रवर डॉ० वीरेन्द्र वर्मा के मार्गनिर्देशन मे प्रस्तुत करने मे सफल हो सकी हूँ। इस अवसर पर मैं वेद-वेदाङ्गो के मूर्द्धन्य विद्वान् याज्ञिक-सम्राट्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व वेद-विभागाध्यक्ष स्वर्गीय **पण्डित गोपालचन्द्र मिश्र** की अतीव कृतज्ञ हूँ, जिन्होने इस शोध प्रबन्ध की रूपरेखा प्रस्तुत करने मे मेरा सहयोग किया।

नारी की आध्यात्मिक अन्तश्चेतना को जागृत कर उसे आधुनिक समाज के परिवेश मे समुपस्थित करना ही मेरे इस अनुसन्धान-प्रयास की नवीन उपलब्धि है। इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करने मे मुझे ख्यातिलब्ध विद्वानो तथा उनकी कृतियों से बहुमूल्य सहयोग मिला है, एतदर्थ मैं उनके प्रति विनम्र-भाव से अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

मैं ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को पूरी तत्परता से टङ्कित करने वाले पुत्रकल्प **चि० विनोद कुमार त्रिपाठी** की भी आभारी हूँ, जिन्होने अपेक्षित अवधि में ही अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है। इसी प्रसङ्ग में मैं अपने पुत्र (ज्ञानप्रकाश, आनन्द-प्रकाश, वेदप्रकाश) और पुत्री (गीता, साधना, सुधा) को भी कृतज्ञ हूँ। विशेष रूप से, ज्येष्ठ-पुत्री **श्रीमती गीता शर्मा**, एम० ए० (संस्कृत) बी० एड्० की सराहना करना चाहती हूँ, जिसने मुझे गार्हस्थ्य-सम्बन्धी चिन्ताओ से मुक्त रखा। उसी का सुफल है कि आज मेरी 'गीता' हरिद्वार मे **'विद्यार्थी'** के करकमलो मे सुरक्षित है।

माँ सरस्वती के वरदपुत्र, हिन्दी को भारत-माँ के भाल को सौभाग्य-बिन्दी एव सुर-भारती को अपना सर्वस्व स्वीकार करने वाले, ललित निबन्धकारो के ललाम-भूत, परम श्रद्धेय, निर्भीक लेखक तथा वक्ता, सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति माननीय **डॉ० विद्यानिवास मिश्र** की मैं आभारी हूँ, जिन्होने अपने अत्यन्त व्यस्त कार्यक्रमो मे से समय निकालकर इस शोध-प्रबन्ध पर अपनी शुभाशसा लिखकर मेरा गौरव बढाया है।

मै सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्वकुलपति मनीषिप्रवर **प्रो० वि० वेंकटाचलम्** जी के उपकार को किन शब्दो मे स्मरण करूँ? जिन्होने इस अनुसन्धान-प्रबन्ध के प्रकाशन की सहर्ष स्वीकृति प्रदान की। एतदर्थं मैं उनके प्रति सप्रणति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सतत-प्रयत्नशील प्रकाशनाधिकारी, कर्मठ विद्वान् **डॉ० हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी** की सहृदयता के प्रति मैं आभार किन

शब्दो मे व्यक्त करूँ, यह मेरी पहुँच के बाहर की वस्तु है, क्योंकि उन्होने अपने सहयोगियो श्रीहरिवंश कुमार पाण्डेय तथा श्रीकन्हई सिह कुशवाहा के साथ इस शोध-ग्रन्थ को अलङ्कृत करने मे अपना बहुमूल्य समय दिया है।

सुविख्यात मुद्रक तारा प्रिन्टिग प्रेस, वाराणसी के व्यवस्थापक **श्रीरमाशङ्कर पण्डया** जी को भी मैं कृतज्ञ हूँ, जिन्होने बडी लगन एवं तत्परता के साथ इस ग्रन्थ का मुद्रण सम्पन्न किया।

अन्त मे मै सुयोग्य विद्वान् पाठको से निवेदन करती हूँ कि वे मेरी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष होने वाली भूलो पर सहानुभूतिपूर्वक विचार कर मेरा उस ओर ध्यान आकृष्ट करें, जिससे भूल-सुधार का मार्ग प्रशस्त हो सके, क्योंकि भूल होना अस्वाभाविक नही है—

गच्छत स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादत ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जना ॥

वाराणसी
विजय दशमी
वि० सं० २०४७
(२९।९।१९९०)

मालती शर्मा

समर्पण



कीर्तियंस्य स जीवति

जीवन-पर्यन्त शिक्षा एवं समाज-सेवा के

प्रति समर्पित **स्व० शिवप्रवेश चौबे**

की पुण्य-स्मृति को यह कृति

सादर समर्पित

जन्म—१०-५-१९४० **गोलोकवास—२५-१-१९८७**

विषयानुक्रमणिका

वैदिक-संहिताओं में नारी

प्रथम अध्याय

मुख्य-विषय का उपक्रम—

विश्व के प्राचीनतम वाङ्मय मे वेदो का स्थान नि सन्देह महत्त्वपूर्ण है। हमारी सम्पूर्ण सस्कृति, सभ्यता और सस्कारो के स्रोत वेद ही है। भारतीय साहित्यिक क्षितिज के ये ऐसे उन्मेष है, जिनमे समस्त ज्ञान का भण्डार भासित होता है और निखिल विद्याओ के मूलभूत सिद्धान्तो का साक्षात्कार। तप पूत विश्ववन्द्य महर्षियो की इस पुण्य-भारतभूमि ने भारतीय-सस्कृति के रूप मे मानव-सस्कृति का जो अमर सन्देश दिया, उसके असीम सौरभ ने नि सन्देह विश्व के कण-कण को सुरभित किया है। यद्यपि कालचक्र के अव्याहत प्रभाव ने मानव-जाति की सास्कृतिक परम्पराओ को भौतिक जगत् के परिवर्तन की विविधतापूर्ण रेखाओ मे भर दिया है, तथापि भारतीय-चिन्तन के मूल-तत्त्व महाकाल के वक्ष स्थल पर आज भी अमरता के अमिट निशान बनाये हुए हैं। वेदो के रूप मे गूंजने वाली ऋषियो की वाणी का मङ्गलमय स्वर चाहे इस धरती के साधारण-जनो के लिये बोधगम्य न हो, परन्तु वैदिक-सस्कृति के सस्कारो ने उन पर अपनी अमिट छाप छोडी है। यही कारण है कि भारतीय जन-जीवन अतीत से भविष्य तक, स्थूल से सूक्ष्म तक एव अनादि से अनन्त तक दृष्टि रखकर ही अपनी व्यवस्था मे प्रवृत्त होता है। फलत वैदिक उदात्त भद्र भावनाओ के भरोसे भोला भूलोकवासी अपने उज्ज्वल सदाचार से स्वर्ग को धरती से इस प्रकार जोड लेता है, कि उसे अनायास ही देवत्व की प्राप्ति सम्भव हो जाती है।

(अ) वेद-शब्द की उत्पत्ति एवं व्युत्पत्ति—

आनन्दकन्द-सच्चिदानन्द विभु ने अपने सदश से कर्मकाण्ड, चिदश से ज्ञान-काण्ड एव आनन्दाश से उपसनाकाण्ड के रूप मे वेदत्रयी ऋक् (पद्यात्मक), यजु: (गद्यात्मक) तथा साम (गीतात्मक) को अभिव्यक्त किया। वेदत्रयी से तात्पर्य है कि वेदमन्त्रो के तीन प्रकार थे—पद्य, गद्य तथा गीति। अथर्ववेद के मन्त्रो का अन्तर्भाव इन्ही तीन प्रकारो मे ही हो जाता है। इस प्रकार "वेदत्रयी" एव "वेद-चतुष्टय" मे कोई भेद नही, केवल विषय-भेद प्रतीत होता है। कुछ भारतीय एव पाश्चात्त्य विद्वानो का मत है कि वेदत्रयी का सम्बन्ध श्रौतयज्ञो से है और अथर्ववेद का सम्बन्ध श्रौतयज्ञो से नही है। ऐसा लगता है कि उपर्युक्त तीन वैदिक-सहिताओ के पश्चात्

ही अथर्वसंहिता का प्रचार प्रसार हुआ हो। इस सम्बन्ध मे आगे संहिताओ के महत्त्व प्रतिपादन के समय विस्तार से वर्णन किया गया है।

"वेद" शब्द की व्यापकता के कारण विद्वानो ने इसकी व्युत्पत्ति के विविध प्रकारो पर प्रकाश डाला है। प्राचीन ग्रन्थो मे प्रयुक्त "वेद" शब्द अपने आद्युदात्त एव अन्तोदात्त स्वराङ्कन के कारण भी व्युत्पत्ति-भेद का कारण है। आद्युदात्त "वेद" शब्द ऋग्वेदसंहिता मे प्रथमा विभक्ति के एकवचन मे पन्द्रह बार प्रयुक्त हुआ है और तृतीया विभक्ति के एकवचन मे एक बार। ऋग्वेद मे अन्तोदात्त "वेद" शब्द प्रयुक्त नही हुआ। यजु संहिता एव अथर्व-संहिता मे "वेद" शब्द अन्तोदात्त मिलता है। "वेद" शब्द के इसी स्वर भेद के कारण महर्षि पाणिनि ने उञ्छादि (६।१।१६०) तथा वृषादि (६।१।२०३) गणो मे पृथक्-पृथक् रूप मे पाठ किया है। करण-कारक मे घञ् प्रत्यय करने पर घञन्त "वेद" शब्द अन्तोदात्त होगा और भाव या अधिकरण मे प्रत्यय होने पर आद्युदात्त होगा। स्वराङ्कन के आधार पर ही वैदिक मन्त्रो का अर्थ कराने हेतु ही सम्भवत. निरुक्तकार महर्षि यास्क ने अपनी रचना (निरुक्त १।१८) मे अर्थ-बोध पर बल देते हुए कहा—वेद को पढकर उसके अर्थ को न जानने वाला स्थाणु के समान है। बिना अर्थ बोध के पढा गया मन्त्र उसी तरह फलहीन है, जिस प्रकार अग्नि-सयोग के बिना सूखा इन्धन। अर्थज्ञान के बिना वेद-मन्त्रो का केवल पाठ-मात्र करने वालो के सम्बन्ध (ऋक्संहिता १०।७१।५) मे कहा गया है—फलरूपी अर्थ के बिना वेद-मन्त्र-रूपी वाणी को पढने वाले की तुलना दूध न देने वाली कृत्रिम गौ की सेवा करने वाले के साथ की गयी है।

पवित्र ज्ञान, पवित्र विद्या के द्योतक "वेद" शब्द की व्युत्पत्ति "विद्"जानना, "विद्"-होना, "विद्लृ"-प्राप्त करना, "विद्"-मनन करना धातुओ से प्रदर्शित की गयी है। "वेद" शब्द के अनेक पर्याय है, जिनमे प्रमुख है—श्रुति, वेद, छन्दस्, ब्रह्म, निगमागम, आम्नाय मन्त्र। "श्रूयते इति श्रुति.", "इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहार-योरलौकिकमुपाय यो ग्रन्थो वेदयति स वेद. (तैत्तिरीयसंहिता-भाष्य भूमिका)। "मननात् मन्त्रा"।

आगतं पञ्चवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते ॥ इत्यादि।

"वेद" शब्द विद्, विद्लृ धातुओ के करण व अधिकरण-कारको मे घञ् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। "वेद" शब्द वैदिक वाङ्मय मे सर्वाधिक लोकप्रिय होने के कारण प्रयुक्त हुआ है। काठक, मैत्रायणीय और तैत्तिरीय-संहिताओ मे "वेद"

शब्द की व्युत्पत्ति बताई गयी है। (तै० म० १।४।२०), (तैत्तिरीय-ब्राह्मण ३।३।९।६९)। आनन्दतीर्थ ने अपने विष्णुतत्त्वनिर्णय मे "वेद" शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे कहा है। आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुश्रुत' के सूत्रस्थान (१।१४) म वेद शब्द के बारे मे कहा गया है। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र (१।१) की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' मे वेद शब्द के सम्बन्ध मे लिखा है। अमरकोष (१।५।३) की टीका मे क्षीरस्वामी ने लिखा है। "वेद" की उत्पत्ति के बारे मे और जैनाचार्य हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' (पृ० १०६) मे "वेद" शब्द की व्युत्पत्ति की है। महर्षि स्वामी-दयानन्द-सरस्वती ने भी ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका मे लिखा है।

(आ) वैदिक-शाखा-विस्तार—

वेद और वैदिक साहित्य दो विभिन्न अर्थों के द्योतक है, क्योकि वेद शब्द जहाँ केवल चार मन्त्र-सहिताओ का ज्ञान कराता है, वही वैदिक शब्द सम्पूर्ण वैदिक-वाङ्मय का, जिसके अन्तर्गत सहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, एव छ वेदाङ्ग आते हैं। यहाँ एक जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है कि ये शाखाएँ क्या है? क्या वैदिक-सहिताओ का समुदाय वेदो का अवयव है या वेदो का व्याख्यान? यदि शाखाओ को वेदो का अवयव माना जाये तो उनसे सम्बन्धित सूत्रादि ग्रन्थ भी वेद मानने होगे, जो कि सिद्धान्तत वैदिक-विचारधारा के विपरीत है। बृहज्जाबालोपनिषद् के आठवें ब्राह्मण के पाँचवें काण्ड मे वर्णित विषय से प्रतीत होता है कि वेद और उसकी शाखाएँ पृथक् है। विश्वरूप बालक्रीडा (१।७) मे भी स्पष्ट सकेत है कि वैदिक शाखाओ मे भी अन्तर है। द्वितीय मत कि शाखाएँ वेदो का व्याख्यान है, यह युक्तिसगत प्रतीत होता है। इस विचार की पुष्टि मे वायुपु० (अध्याय ६१) मे भी कहा गया है। पाणिनीय सूत्र "तेन प्रोक्तम्" (४।३।१०१) पर टीका करते हुए महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने एव जिनेन्द्रबुद्धि ने भी वेद और शाखाओ का अन्तर स्पष्ट किया है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने माध्यन्दिन शतपथ (१।४।३।३५) म दोनो के अन्तर को स्पष्ट किया है।

वैदिक-सहिताओ को अक्षुण्ण बनाये रखने की दृष्टि से महर्षि वेदव्यास ने अपने पुत्र-सहित चार शिष्यो को इन्हे पढाया। इन शिष्यो का नाम था—पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु। जिन्हे सूत्राचार्य, भाष्याचार्य, भारताचार्य एवं महाभारताचार्य के नाम से भी जाना जाता है। क्रमश पैल को विशेषरूप से ऋग्वेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद, जैमिनि को सामवेद और सुमन्तु मुनि को अथर्ववेद पढाया। भगवान् वेदव्यास की इस शिष्य मण्डली ने गुरुमुख से अधीत सहिताओ का पर्याप्त प्रचार-प्रसार किया। फलतः सहिता-सरिता अपने अनेक स्रोतो के रूप मे

प्रवाहित हो उठी एव वेद-कल्पतरु अपनी विभिन्न शाखा-प्रशाखाओ के साथ फैल गया। शाखा शब्द के साथ "चरण" शब्द का भी प्रयोग होता है। कुछ लोग "शाखा" और "चरण" शब्द मे अन्तर मानते है, (किन्तु आजकल दोनो का प्रयोग समानार्थक हो गया है)। वैदिक शाखाओ का विस्तार कब हुआ, इस पर विस्तृत प्रकाश पुराणो तथा चरणव्यूह मे डाला गया है। विशेपरूप से महाभारत के आदिपर्व (९९।१४-१२) मे शाखा-विस्तार के काल का सकेत मिलता है। पाश्चात्य विद्वान् कीथ, मैकडानल आदि व्यास को ऐतिहासिक व्यक्ति ही नही मानते। अत इस विपय मे या तो वे मौन है, नही तो जो कुछ कहा भी है, वह हमारी भारतीय मान्यताओ के विरुद्ध है। वैदिक शाखाओ को इस प्रकार समझा जा सकता है—

(क) ऋग्वेदीय शाखाएँ—

प्राचीन युग मे वैदिक विचारधारा की अत्यधिक मान्यता का ही परिणाम था कि शाखाओ की सख्या मे वृद्धि होती गई। महामुनि शौनक ने अपने चरणव्यूह मे ऋग्वेद की पाँच, यजुर्वेद की छियासी, सामवेद की एक हजार एवं अथर्ववेद की नौ शाखाओ का प्रतिपादन किया है। दूसरी ओर महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने महाभाष्य मे ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०१, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की ९ शाखाओ का वर्णन किया है। इस प्रकार पूर्वोक्त ११३१ शाखाओ मे से अब कुछ ही शाखाएँ अवशिष्ट रह गयी हैं, शेप अध्ययन-अध्यापन के अभाव मे विस्मृति के गर्भ मे समा गयी है—ऐसा प्रतीत होता है।

ऋग्वेदीय २१ शाखाओ को मुख्यतया इन पाँच भागो मे विभक्त किया गया है—(१) शाकला., (२) वाष्कला, (३) आश्वलायना., (४) शाख्यायना, (५) माण्डूकेया.। इसके अनन्तर शाकल-वाष्कल आदि इन पाँच भागो के भी उप-विभाग हैं, जिनका वर्णन शिष्य-परम्परा के अनुसार इस प्रकार है–(१) शाकल शाखा के पांच भेद–१–मुद्गल, २–गालव, ३–शालीय, ४–वात्स्य, ५–शैशिर। (२) वाष्कल-शाखा के चार भेद—१–बौध्य, २–अग्निमाठर, ३–पराशर, ४–जातू-कर्ण्य। (३) आश्वलायन-शाखा, (४) शाख्यायन शाखा के चार भेद—१–शाख्यायन, २–कौपीती, ३–महाकौपीतकि, ४–शाम्बव्य। (५) माण्डूक्य-शाखा के दस भेद—१–बह्वृच, २–पैङ्ग्य, ३–उद्दालक, ४–शतबलाख, ५–गज, ६–वाष्कलि, ७–ऐतरेय, ८–वासिष्ठ, ९–सुलभ, १०–शौनक। ऋग्वेदीय शाखाओ मे एक-मात्र शैशिरीय शाखा ही इस समय उपलब्ध है। इस शाखा को शाकल्य भी मानते हैं। इस पर सायणाचार्य का भाष्य भी है। शाकल्य-सहिता मे पदो की सख्या १५३८२६ है।

आथर्वण परिशिष्ट चरणव्यूह मे ऋग्वेद की सात शाखाओ का वर्णन है। स्कन्दपुराण मे २४ शाखाओ का प्रतिपादन है। पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर ने इन वैदिक शाखाओ के बारे मे विचार व्यक्त करते हुए स्पष्ट कहा है, कि कुछ शाखाओ को हमने खो दिया है। शैशिरीय शाखा को मान्यता देते हुए मैक्सम्लर ने कहा है।

(ख) यजुर्वेदीय शाखाएँ—

वेदो के गद्य भाग को यजुष कहा गया है। जिस प्रकार सामवेद मे "उद्गाता" की प्रधानता है, उसी प्रकार यजुर्वेद मे 'अध्वर्यु" का प्राधान्य है। यही कारण है कि महर्षि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य मे "एकशतमध्वर्युशाखा" का प्रतिपादन कर यजुर्वेद की १०१ शाखाओ की गणना की है। ये शाखाएँ यजुर्वेद के दो भागो—(शुक्ल और कृष्णयजु) मे विभक्त है। इन शाखाओ मे ८६ शाखाएँ कृष्णयजुर्वेद की है और शेष १५ शाखाएँ शुक्लयजुर्वेद की मानी गयी हैं। चरणव्यूह के अनुसार यजुर्वेद की कुल ८६ ही शाखाएँ है। शाखाओ से तात्पर्य वेद के किसी भाग-विशेष से नही है, अपितु उनके पाठ भेद से है। कृष्णयजुर्वेद की चार शाखाएँ उपलब्ध हैं—(१) कठशाखा, (२) कठकापिष्ठल शाखा, (३) मैत्रायणी शाखा, (४) तैत्तिरीय शाखा। शुक्लयजुर्वेद की दो शाखाएँ प्राप्त है—(१) काण्वशाखा और (२) माध्यन्दिनीय। काण्व शाखा का प्रचार प्रसार दक्षिण भारत मे एव माध्यन्दिनीय शाखा का सर्वाधिक प्रचार उत्तर भारत म है। काण्व शाखा मे ४० अध्याय, ३२८ अनुवाक एव २०८६ मन्त्र है। माध्यन्दिनीय शाखा मे ४० अध्याय, ३०३ अनुवाक एव १९७५ मन्त्र हैं।

(ग) सामवेदीय शाखाएँ—

सामवेद का सगीत से घनिष्ठ सम्बन्ध है। पतञ्जलि के मत से साम के छन्दस और देवता होते हैं, परन्तु गौतम के विचार से साम मे छन्दस् और देवता का अभाव है। महाभाष्य, चरणव्यूह एव इतिहास-पुराणादि के अनुसार सामवेद की १००० शाखाएँ हैं। समय की क्रूरता का परिणाम ही माना जायगा कि आज एक हजार शाखाओ मे केवल तीन ही शाखाएँ मिलती हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) कौथुमी शाखा—

इस शाखा का प्रचार अधिकतर गुजरात म है।

(२) राणायनीय शाखा

इस शाखा की मान्यता विशष-रूप स महाराष्ट्र मे है।

(३) जैमिनीय शाखा

इस शाखा का प्रचलन कर्णाटक प्रदेश म है, परन्तु वहाँ भी इसका पर्याप्त प्रचार नही है।

(घ) अथर्ववेदीय शाखा—

व्यास जी ने अथर्ववेद का सम्पादन किया और उसे अपने चतुर्थ-शिष्य सुमन्तु को पढाया। चरणव्यूह के अनुसार अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं—(१) पैप्पलाद, (२) स्तौदा (३) मौदा, (४) शौनकीया, (५) जाजला, (६) जलदा, (७) ब्रह्मवदा, (८) देवदर्शा, (९) चारणवेद्या। इस समय अथर्ववेद की उपर्युक्त नौ शाखाओ मे से केवल पैप्पलाद तथा शौनक शाखाएँ ही उपलब्ध हैं। पिप्पलाद शाखा का प्रचलन अब बहुत ही न्यून हो गया है, परन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि के समय इस शाखा का प्रचलन पर्याप्त था। शौनक शाखा—यह एक ऐसी शाखा है जिसे सम्भवतः सभी अथर्ववेदी स्वीकार करते है। इसकी शौनक-सहिता पर सायणाचार्य का भाष्य है, जो बम्बई से ४ जिल्दो मे प्रकाशित हुआ है। पैप्पलाद और शौनक शाखाओ मे अन्तर स्पष्ट है। जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान् राथ के अनुसार इसमें ब्राह्मण-पाठ (गद्य) और आभिचारिक कार्यो की बहुलता है। शौनक शाखा का प्रथम मन्त्र "ये त्रिषप्ता परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रत" माना जाता है, परन्तु गोपथ-ब्राह्मण और महाभाष्य पस्पशाह्निक के मत से अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र "शन्नो देवीरभिष्टये" है। पिप्पलाद-शाखा अवश्य ही शौनक-शाखा से प्राचीन प्रतीत होती है।

(ङ) शाखा-वाङ्मय में संहिता ग्रन्थो का महत्त्व—

वैदिक-शाखाओ का विषय अत्यन्त कठिन है। विशेषकर इन शाखाओ की जटिलता एव दुरूहता और अधिक हो जाती है, जब इनके अधिकाश भाग आजकल दृष्टिगोचर नही होते। सत्य तो यह है कि जब तक वैदिक-सहिताओ की सभी या अधिकाश शाखाएँ उपलब्ध न हो, तब तक इनमे सहिता-ग्रन्थो का महत्त्वपूर्णरूप से प्रतिपादित नही किया जा सकता। जैसा कि ऊपर "वैदिक शाखा-विस्तार" मे स्पष्ट किया गया है कि ऋग्वेद की २१ शाखाओ मे इस समय केवल एकमात्र शैशिरीय शाखा (शाकल्या) ही उपलब्ध है। यजुर्वेद-सहिता की १०१ शाखाओं मे केवल ६ शाखाएँ ही मिलती हैं—चार कृष्णयजुर्वेद की और दो शुक्लयजुर्वेद की। इसी प्रकार साम-सहिता की १००० शाखाओ मे सम्प्रति केवल ३ शाखाएँ ही उपलब्ध हैं और अथर्व-सहिता की ९ शाखाओ मे केवल २ शाखाएँ ही मिलती हैं।

यह सहिता-ग्रन्थो का ही प्रभाव है कि बीज-रूप मे स्थित रहकर उन्होंने अपनी शाखा-प्रशाखाओ से ब्राह्मण, आरण्यक एव उपनिषदादि ग्रन्थो को एक सुपुष्पित तथा फलित वृक्ष के रूप मे खडा किया है। इसी सहिता-रूपी वृक्ष के चारो ओर भारतीय अनेक सास्कृतिक विचारधाराएँ प्रवाहित होती है। सभ्यता का सम्पूर्ण सौरभ सतत गतिशील सहिता-सरिता के साथ जनमानस को आह्लादित करता है।

धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, बौद्धिक, नैतिक एव काव्यात्मक किसी भी दृष्टि से इस विश्वकोश पर दृष्टिपात किया जाये, तो यह कल्पवृक्ष सद्य -फलदाता के रूप मे उपस्थित होता है। हमारा सम्पूर्ण परवर्ती साहित्य-जगत् इसी धुरी पर घूमता है। हमारे काव्य-महाकाव्यो की ये सहिताएँ ही कामधेनु है। हमारे नाटको के सूत्रधार ये ही सहिता-ग्रन्थ हैं। हमारे दर्शनो को प्रेरक दृष्टि इन्ही सहिताओ से मिलती है।

नि सन्देह भारतीय विचारधाराओ के यथार्थ ज्ञान हेतु सहिताओं का स्वाध्याय अपरिहार्य एव अनिवार्य है। संहिताओ की अपरिमार्जित भाषा तथा उनमे वर्णित रहस्यो, नवीन गवेषणाओ को अपरिपक्व मानकर कुछ आलोचक भले ही सन्तोष कर ले, परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि ये ही सहिताएँ सम्पूर्ण भारतीय-वाड्मय की आधारशिलाएँ है। मानवीय उतार-चढाव की सरणी को विना सहिताओं के समझना दु.साध्य ही नही, अपितु निराधार भी है। सहिताओ के विकास-क्रम मे एक सरल-सरस जागृति दृष्टिगोचर होती है। वसन्त के सुरभित समीर की तरह उद्वेलित एव उत्कण्ठित करने वाली मादकता इन सहिताओ की ऋचाओ, सूक्तो तथा गीतो मे है और पुष्प-पराग सा माधुर्य परिलक्षित होता है। यदि ये वैदिक-सहिताएँ न होती तो विश्व को जटिल समस्याएँ आज तक समस्याएँ ही बनी रहती। वैदिक सहिताओ की व्यापकता एव परवर्ती वाड्मय पर उनके प्रभाव का अवलोकन निम्नलिखित चित्रण से किया जा सकता है—

ऋक्संहिता—

सहिताएँ—शाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शाख्यायन एव माण्डूक्यायन।
शाखाएँ—महाभाष्य मे २१ शाखाएँ हैं, किन्तु उपलब्ध केवल पांच हैं।
ब्राह्मण—ऐतरेय तथा कौपीतक।
आरण्यक—ऐतरेय एव कौपीतक।
उपनिषद्—ऐतरेय एव कौपीतक।

यजुःसंहिता—

सहिताएँ—(क) शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयि तथा काण्व-सहिता।
(ख) कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी, काठक, कठकपिष्ठल।
(१) शाखाएँ—माध्यन्दिन एव काण्व।
ब्राह्मण—शतपथ।
आरण्यक—बृहदारण्यक।
उपनिषद्—ईशोपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद्।

(२) शाखाएँ—पतञ्जलि के अनुसार १०१, शौनक के अनुसार ८६, उपलब्ध केवल चार है।

ब्राह्मण—तैत्तिरीय।

आरण्यक—तैत्तिरीय।

उपनिषद्—कठोपनिषद्, तैत्तिरीय तथा मैत्रायणी।

सूत्रग्रन्थ—आपस्तम्ब कल्पसूत्र, बोधायन-श्रौतसूत्र, हिरण्यकेशी-कल्पसूत्र, भारद्वाज श्रौतसूत्र, मानव-श्रौतसूत्र, मानव-गृह्यसूत्र, वाराह-गृह्यसूत्र, काठक-गृह्य-सूत्र—ये आठ सूत्र उपलब्ध हैं।

सामसंहिता—

संहिताएँ—कौथुम, राणायनीय तथा जैमिनीय।

शाखाएँ—महाभाष्य के अनुसार १००० शाखाएँ हैं।

ब्राह्मण—ताण्ड्य, षड्विंश, सामविधान तथा जैमिनीय।

आरण्यक—छान्दोग्य और जैमिनीय।

उपनिषद्—छान्दोग्य, जैमिनीय एव केन।

सूत्रग्रन्थ—मशक-कल्पसूत्र, लाट्यायन-श्रौतसूत्र, गोभिल-गृह्यसूत्र, द्राह्यायण-श्रौतसूत्र, खादिर-गृह्यसूत्र, जैमिनीय-श्रौतसूत्र, जैमिनीय-गृह्यसूत्र।

अथर्वसंहिता—

संहिताएँ—पिप्पलाद तथा शौनक।

शाखाएँ—महाभाष्य के अनुसार ९, परन्तु उपलब्ध केवल पिप्पलाद और शौनक।

ब्राह्मण—गोपथ।

आरण्यक—गोपथ।

उपनिषद्—प्रश्नोपनिषद्, मुण्डक, माण्डूक्य।

सूत्रग्रन्थ—वैतान-श्रौतसूत्र तथा कौशिक-गृह्यसूत्र।

उपलब्ध वैदिक-शाखाओं का परिचय

ऋग्वेदीय शाकल-शाखा—

ऋग्वेद की एकमात्र उपलब्ध "शाकल" शाखा तथा उसके पाँच भेदो (मुद्गल, गालव, शालीय, वात्स्य, शैशिरि) के सम्बन्ध मे जयचन्द्र विद्यालंकार की मान्यता है कि एक समय राजा जनक की सभा मे महर्षि याज्ञवल्क्य के साथ पाचाल के कुरु, ब्राह्मणो का शास्त्रार्थ हुआ, जिसमे ब्राह्मण पराजित हो गये। ब्राह्मणो की पराजय के बाद विद्वान् शाकल्य, जिसका वास्तविक नाम देवमित्र था, उसने अपने

तर्कों से याज्ञवल्क्य को प्रभावित किया। शाकल्य पंजाब के उत्तरी भाग में भद्र-प्रदेश की राजधानी (आधुनिक स्यालकोट) शाकल के रहने वाले थे और उन्हें अपने पाण्डित्य का गर्व था। उन्होंने ऋग्वेद-संहिता का सम्पादन किया और उनके द्वारा या उनके शिष्यों द्वारा सम्पादित शाखाएँ "शाकल" कहलाईं।

शाकल-संहिता के तीन भाग—मण्डल, अनुवाक और वर्ग बने, जिन्हें क्रमशः अष्टक, अध्याय और सूक्त भी कहा जाता है। ऋग्वेदीय इस शाखा के मन्त्रों की ठीक संख्या के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत प्रचलित हैं। "शतपथब्राह्मण" में १२ हजार मन्त्रों का जहाँ वर्णन है, वहीं शौनक ने १०५८० ऋचाओं का वर्णन किया है। लौगाक्षिस्मृति के अनुसार कुल ऋक्-संख्या १०५८० है, जबकि अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेदीय शैशिरि शाखा में ऋग्वेद के कुल मन्त्रों की गणना १०४१७ मानी गयी है। इस अन्तर का कारण स्पष्ट है कि ऋक्सर्वानुक्रमणी में दो-दो ऋचाओं को अध्ययन-काल में एक-एक करके पढ़ने का विधान है। महर्षि शौनक ने बृहद्देवता में ऋग्वेद संहिता के मन्त्रों की कुल संख्या १०५८०, शब्दों की संख्या १५३८२६ और अक्षरों की संख्या ४३२००० स्वीकार की है। इतिहासकार विभिन्न वेदज्ञ पाश्चात्य विद्वानों में ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या १०४६७ से लेकर १०५८९ स्वीकार की है। महर्षि दयानन्द-सरस्वती की इस सम्बन्ध में अन्तिम गणना है, जिसके अनुसार १०५८९ मंत्र होने चाहिए, परन्तु प्रति मण्डल के अनुसार संख्या निम्नलिखित होती है—
१९७६ + ४२९ + ६१७ + ५८९ + ७२७ + ७६५ + ८४१ + १७२६ + १०९७ + १७५४ = १०५१२।

शाकल-संहिता की मन्त्र-संख्या का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

मण्डल	सूक्त	मन्त्र
प्रथम	१९१	२००६
द्वितीय	४३	४२९
तृतीय	६२	६१७
चतुर्थ	५८	५८९
पञ्चम	८७	७२७
षष्ठ	७५	७६५
सप्तम	१०४	८४१
अष्टम	९२	१६३६
नवम	११४	११०८
दशम	१९१	१७५४
	कुल १०१७	कुल १०४७२

शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयी शाखा—

यजुर्वेद के "कृष्ण" और "शुक्ल" दो प्रकार बताये गये हैं। शुक्ल-यजुर्वेद को ही वाजसनेयी या माध्यन्दिन-संहिता भी कहा जाता है। विशुद्ध मन्त्रात्मक भाग होने के कारण इसमे व्याख्यात्मक, विवरणात्मक तथा विनियोगात्मक अश नही है। इस शाखा को शुक्ल-यजुर्वेद मानने का यह भी एक हेतु है। इस शाखा मे ४० अध्याय, ३०३ अनुवाक एवं १९७५ मन्त्र हैं। पुराणो मे वैशम्पायन को याज्ञवल्क्य का मातुल कहा गया है। याज्ञवल्क्य की माता का नाम "वाजसना" था, इस नाम के कारण ये वाजसनेय कहलाये। इसी वाजसनेय याज्ञवल्क्य के साथ विदेहराज-जनक के अनेक सवाद हुए, जिनका पता "वृहदारण्यक उपनिषद्" आदि ग्रन्थो से चलता है। वेदाध्ययन करने वालो मे इस शाखा का बड़ा सम्मान एव प्रचार है। अध्याय-क्रम से इस शाखा के विषयो का परिशीलन कर लेने पर सम्पूर्ण यजुर्वेद-संहिता का परिचय हो जाता है।

प्रथम और द्वितीय अध्याय मे दर्श एव पौर्णमास-यज्ञो से सम्बद्ध मन्त्रो का वर्णन है। तृतीय अध्याय मे अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य-यज्ञो से आने वाले मन्त्रो का विवरण है। चतुर्थ अध्याय से अष्टम अध्याय तक सोम सम्बन्धी यज्ञो का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। नवम अध्याय मे वाजपेय तथा राजसूय यज्ञो का मन्त्र-विधान उपलब्ध है। दशम अध्याय मे सौत्रायणी यज्ञो की चर्चा है। इसके अनन्तर ११ से १८ वें अध्याय तक "अग्निचयन" का विस्तृत वर्णन है। १०८००० ईंटो से बनी वेदी को आकृति पख फैलाये पक्षी के सदृश कही गयी है। ब्राह्मण-ग्रन्थो मे इस वेदी मे लगी ईंटो की आध्यात्मिकता का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन पाया जाता है। १६वा अध्याय रुद्राध्याय कहलाता है, जिसमे भगवान् रुद्र की साङ्गोपाङ्ग कल्पना की गई है। १८वें अध्याय मे "वसोर्धारा" के मन्त्रो की चर्चा है। १९, २० और २१ अध्यायो मे सौत्रायणी-यज्ञ का विधान है। कहा जाता है कि अधिक सोमपान करने से इन्द्र रोगी हो गये और अन्त मे अश्विनी-कुमारो ने इसी यज्ञ के माध्यम से चिकित्सा कर उन्हें नीरोग कर दिया। २२ से २५वें अध्याय तक अश्वमेध-यज्ञ और २६ से २९ तक खिल मन्त्रो का विधान है, जिनमे अनेक प्रकीर्ण-विधान पाए जाते हैं। ३०वें अध्याय मे पुरुषमेध-यज्ञ तथा ३१वें अध्याय में पुरुषसूक्त, ३२ और ३३वें अध्यायो मे शिवसकल्प मन्त्रो का विधान है। ३४वें अध्याय के आरम्भ के ६ मन्त्रो मे भी शिवसकल्प की प्रार्थना की गई है। (यजु० ३४/६)। ३५वें अध्याय मे पितृ-मेध-सम्बन्धी मन्त्रो का वर्णन है। ३६ से ३९ अध्यायो मे प्रवर्ग्ययागो का वर्णन है। अन्तिम ४०वें अध्याय का सम्बन्ध ईशावास्योपनिषद् से है। उपनिषदो मे इस लघुकाय उपनिषद् का बड़ा महत्व है। उत्तर-भारत मे इस शाखा का प्रचार-प्रसार अधिक है।

शुक्लयजुर्वेदीय काण्व-शाखा—

काण्व शाखा की मान्यता आजकल महाराष्ट्र मे अधिक है, किन्तु किसी समय इसका उत्तर-भारत मे बडा सम्मान था। मन्त्रो मे "कुरु" और "पाञ्चाल" देशो के राजाओ का नामोल्लेख है (एष व कुरवो राजा, एष पाञ्चालो राजा) इत्यादि मन्त्रो से पता चलता है कि काण्व-शाखा का सम्बन्ध उत्तर-भारत से रहा है। शकुन्तला के धर्मपिता कण्व का आश्रम "मालिनी" के तट पर था। यह मालिनी नदी आज भी उत्तरप्रदेश मे बिजनौर जिले की "मालन" नदी के रूप मे प्रवाहित है। इस शाखा मे ४० अध्याय, ३२८ अनुवाक तथा कुल २०८६ मन्त्र है। इस प्रकार इस शाखा मे वाजसनेयी शाखा से १११ मन्त्र अधिक उपलब्ध होते हैं।

कृष्ण-यजुर्वेद की तैत्तिरीय-शाखा—

तैत्तिरीय शाखा का प्रचार दक्षिण-भारत मे अधिक है। विशेष रूप से महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश मे इसके अनुयायी सबसे अधिक है। पूरी शाखा ७ काण्डो मे, ४४ प्रपाठको एव ६३१ अनुवाको मे विभक्त है। विषय शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा के तुल्य है। इस शाखा के सम्बन्ध मे विष्णुपुराण मे एक कथा है। इस कथा के अनुसार गुरु वैशम्पायन ने एक बार अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से क्रुद्ध होकर कहा कि—"मैंने तुम्हे जो भी वेद विद्या दी है, उसे वापस करो"। शिष्य ने तत्काल गुरु की आज्ञा का पालन किया और सम्पूर्ण ज्ञान को वमन के रूप मे निकाल दिया, जिसे अन्य छात्रो ने तित्तिर बनकर चुन लिया। इसी कारण इसका नाम "तैत्तिरीय-शाखा" पड गया। आचार्य सायण का प्रामाणिक भाष्य इस पर है। बालकृष्ण दीक्षित एव भास्कर मिश्र ने भी इस पर सक्षिप्त भाष्य किया है। पाश्चात्य विद्वान् वेबर उपर्युक्त तित्तिर-सम्बन्धी घटना को काल्पनिक मानते हैं। तित्तिर नामक ऋषि वैशम्पायन का प्रधान-शिष्य था। उसके द्वारा प्रोक्त होने के कारण तैत्तिरीय-शाखा का नाम युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इस सहिता मे मन्त्र और ब्राह्मणो का मिश्रण है।

कृष्ण-यजुर्वेदीय काठक-शाखा—

यजुर्वेद की कठ शाखा के महत्त्व के सम्बन्ध मे महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है। महाभाष्य (४।३।१०१) मे कहा गया है—"ग्रामे ग्रामे काठकं कालापक च प्रोच्यते"। परन्तु आजकल इस शाखा के पाठको की सख्या नगण्य-सी हो गयी है। सामान्यत यजुर्वेद की चारो शाखाओ का विषय एक सा है। इसका कारण स्पष्ट है, क्योकि भिन्न भिन्न शाखाओ का मूलभूत वेद एक ही है। मन्त्र और ब्राह्मणो के मिश्रित-रूप का दर्शन यहाँ जैसा होता है, वैसा अन्यत्र नही। जर्मन के प्रसिद्ध

वैदिक विद्वान् श्रेडर ने इस संहिता मे ५ खण्ड, १८ भाग, ८४३ अनुवाक एवं ३०६१ मन्त्रो की मान्यता स्वीकार की है। इस शाखा के प्राचीन ४० ग्रन्थ थे, किन्तु आजकल केवल कठोपनिषद् ही उपलब्ध है। कठ सम्भवत· उदीच्य (उत्तरी) जनपद के रहने वाले थे। सम्भवत. यह जनपद पजाब मे था। महाभारत-सम्बन्धी अनेक ऐतिहासिक घटनाओ तथा महाभारत कालीन वैचित्र्यवीर्य, धृतराष्ट्र आदि व्यक्तियो के नामोल्लेख से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

कृष्ण-यजुर्वेद की मैत्रायणी-शाखा—

इस शाखा का सम्बन्ध कृष्ण-यजुर्वेद से है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि इसके मन्त्र तैत्तिरीय तथा काठक-शाखा मे भी मिलते हैं। गद्यात्मक एवं पद्यात्मक इस सहिता का बडा महत्त्व है। इस सहिता मे चार काण्ड, ५४ प्रपाठक और कुल १४४ मन्त्रो का निर्देश है। ब्राह्मण-ग्रन्थो का विस्तार यहाँ दृष्टिगोचर होता है। गाख, वाराह, दुन्दुभि, बादरायण आदि सप्त ऋषियो ने इस शाखा का प्रचार-प्रसार कर अपने अपने चरणो का विस्तार किया।

कपिष्ठल कठ-शाखा—

इस शाखा की शैली काठक-शाखा जैसी ही है। कपिष्ठल ऋषि के नाम से प्रसिद्ध यह शाखा है। इस ऋषि का नामोल्लेख पाणिनि ने अष्टाध्यायी के "कपिष्ठलो गोत्रे" (८।३।९१) सूत्र मे किया है। निरुक्त की टीका मे (निरुक्त ४।४) दुर्गाचार्य ने भी अपने को "अह च कापिष्ठलो वासिष्ठ." कहा है। सम्भवत पजाब (इस समय हरियाणा) के कुरुक्षेत्र मे सरस्वती नदी के आस पास कपिष्ठल किसी ग्राम का नाम था, जहाँ के रहने वाले कापिष्ठल कहलाने लगे। लोगो का अनुमान है कि यह स्थान आज के करनाल जिले मे स्थित "कैथल" हो सकता है। इस ग्राम का उल्लेख वराहमिहिर ने बृहत्सहिता (१४।४) मे भी किया है। यजुर्वेदीय इस शाखा की यह विशेषता है कि यह मूल-ग्रन्थ मे काठक-सहिता के समान होने पर भी अपने स्वराकन मे ऋग्वेद से मिलती-जुलती है। इस शाखा की खण्डित एव अपूर्ण एक प्रति सम्पूर्णानन्द-सस्कृत-विश्वविद्यालय के सरस्वती-भवन मे उपलब्ध है। इसमे ऋग्वेदीय शैली के अष्टक एव अध्याय ही दृष्टिगोचर होते हैं। ८ अष्टक, ६४ अध्यायों वाली इस शाखा की अपूर्णता भी अन्य सहिताओ के साथ तुलना करने हेतु अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

सामवेदीय राणायनीय-शाखा—

राणायन शाखा के ब्राह्मण-ग्रन्थ तो मिलते है, परन्तु राणायन-शाखा ग्रन्थ अभी तक दृष्टिगोचर नही हुआ। जब तक ग्रन्थ उपलब्ध न हो, उसके सम्बन्ध मे

कुछ कहना तर्कसंगत प्रतीत नही होता। विण्टरनित्स के मतानुसार स्टीवेन्सन ने सन् १८४२ मे प्रथम बार एव बेनफेने ने सन् १८४८ ई० मे सामवेद की जिस सहिता का सम्पादन किया, वही राणायनीय शाखा है। राणायनीय खिलो का एक पाठ शाङ्कर-वेदान्तभाष्य (३/३/२३) म मिलता है। हेमाद्रिरचित श्राद्धकल्प के १०७९ पृष्ठ पर राणायनीय-शाखा-सम्बन्धी विवरण मिलता है। सत्यव्रत-सामश्रमी का एक आलोचनात्मक सस्करण प्रकाशित हुआ है, जिसमे इस शाखा पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। राणायनीय-शाखा मे कुल १५४९ मन्त्र हैं। सामगान मे कुल चार प्रकार के गान होते है, जिनका विवरण राणायनीय-शाखा के साथ तुलनात्मक रूप म हम इस प्रकार से कर सकते हैं—

गान	कौथुमी, राणायनीय शाखा	जैमिनीय-शाखा
ग्राम गेयगान	११९७	१२३२
आरण्यक गेयगान	२९४	२९१
ऊहगान	१०२६	१८०२
ऊह्यगान	२०५	३५६
कुल योग—	२७२२ मन्त्र	३६८१ मन्त्र

गानो के उक्त चार प्रकार पूर्वार्चिक के अनुसार किये गये है। इनमे प्रथम ग्राम-गान सार्वजनिक स्थानो पर गाये जाते थे। आरण्यक गान पवित्र मन्दिर आदि स्थानो पर, ऊहगान सोमयाग के समय तथा ऊह्यगानो का प्रयोग रहस्यमय अवसरो पर होता था।

अथर्ववेदीय शौनक-शाखा—

आजकल उपलब्ध अथर्ववेद, शौनकीय शाखा के नाम से ही जाना जाता है। इसमे २० काण्ड, ७३० सूक्त एव ५९८७ मन्त्र पाये जाते है। इसमे आये मन्त्रो मे लगभग १२०० मन्त्र अथर्ववेद और ऋग्वेद के तुल्य है। इस समानता का कारण यही है कि प्रारम्भ मे वेद एक ही था, जिसका विभाजन बाद मे यज्ञो के विविध उपयोग के कारण किया गया। इस शाखा के मन्त्र द्रष्टा शौनक ऋषि है। शौनक गोत्रीय अनेक ऋषियो के होने के कारण इस शाखा के ऋषि का यथार्थ नाम अज्ञात है। इस शाखा के सबसे बडे २०वे काण्ड मे ९५८ मन्त्र है, ६ठें काण्ड म ४५४ मन्त्र, १९वें काण्ड मे ४५३ मन्त्र हैं। १७वा काण्ड इस शाखा का सबसे छोटा काण्ड है, जिसम केवल ३० मन्त्र है।

अथर्ववेदीय पैप्पलाद-शाखा—

इस शाखा के प्रवर्तक पिप्लाद मुनि बहुत बडे अध्यात्मवादी थे। काश्मीर मे उपलब्ध शारदा पाण्डुलिपि के आधार पर 'ब्लूमफील्ड' ने सन् १९०१ ई० मे अग्रजी अनुवाद के साथ इस शाखा-ग्रन्थ को प्रकाशित कराया। बाद मे डॉ० रघुवीर ने भी इसका एक सस्करण प्रकाशित कराया। प्राचीनकाल मे इस शाखा का बड़ा महत्व था। इस शाखा के "प्रपञ्च हृदय" के कथनानुसार इस शाखा मे २० काण्ड थे। इस शाखा की एक पाण्डुलिपि काश्मीर मे उपलब्ध हुई थी, जिसे काश्मीर महाराज ने १८७५ ई० मे जर्मन विद्वान् डॉ० राथ को उपहार मे दिया था। महाभाष्य के अनुसार "शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। श योरभिस्रवन्तु नः" मन्त्र अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र है, परन्तु प्रचलित शौनक-सहिता के षष्ठ सूक्त के प्रथम मन्त्र के रूप मे पाया जाता है। सर्वसुलभ न होने के कारण इस शाखा का विस्तृत परिचय देना कठिन है। शौनक एव पैप्पलाद शाखाओ मे अन्तर होते हुए भी इतना तो स्पष्ट है कि पैप्पलाद शाखा, शौनक शाखा से प्राचीन है।

कौथुमीय-शाखा—

कौथुमीय शाखा के दो विभाग हैं—पूर्वार्चिक एवं उत्तरार्चिक। इन्हे निम्न लिखित प्रकार से जाना जा सकता है—

पूर्वार्चिक—

इसमे ६ प्रपाठक, ६५० मन्त्र एव चार पर्व है—(१) आग्नेय, (२) ऐन्द्र, (३) पावमान, (४) आरण्य, जिनमें क्रमश: अग्निदेवता, इन्द्रदेवता, पवमान तथा अन्य देवताओ का स्तुतिगान किया गया है। सत्यव्रत सामाश्रमी के मत से पर्वो के नाम—*अर्क, द्वन्द्व, व्रत और शुक्रिय* हैं।

उत्तरार्चिक—

इसमे ९ प्रपाठक, २१ अध्याय, १२२५ मन्त्र हैं। यज्ञो की दृष्टि से इस उत्तरार्चिक को पुन. सात भागो मे बाटा गया है—दशरात्र, सवत्सर, एकाह, अहीन, सत्र, प्रायश्चित्त एव क्षुद्र। इस समय कौथुमीय-शाखा का सर्वाधिक सम्मान है। इस पर सायणाचार्य ने भाष्य लिखा है एव सातवलेकर जैसे उद्भट वैदिक-विद्वानो ने टिप्पणिया भी लिखी है।

जैमिनीय-शाखा—

जैमिनीय-शाखा अभी तक हस्तलिखित रूप मे ही उपलब्ध है। अर्थात् इसका प्रकाशन नही हुआ। बडोदा तथा लाहौर मे भी इसकी हस्तलिखित पाण्डुलिपि मिली है। विद्वानो ने अनुसन्धान के पश्चात् इसके चार पर्वो की मन्त्र-सख्या इस प्रकार

निश्चित की है—आग्नेय पर्व मे ११६ मन्त्र, ऐन्द्रपर्व मे ३५२ मन्त्र, पावमानपर्व मे ११९ एव आरण्य पर्व मे ५५ मन्त्रो का वर्णन है। इस शाखा मे कौथुमीय शाखा से ९५' मन्त्र अधिक हैं। जैमिनीय शाखा का प्रचार-प्रसार दक्षिण-भारत के कर्णाटक आदि प्रान्तो मे अधिक है। जैमिनीय शाखा के ब्राह्मण, श्रौत एव गृह्यसूत्र सभी मिलते है। कालेण्डा के अनुसार जैमिनीय शाखा की मन्त्र सख्या १६८७ है। जैमिनीय शाखा को तलवकार शाखा के नाम से जाना जाता है। सम्भव है—जैमिनीयो की यह भी एक अवान्तर शाखा रही हो। जैमिनीय-शाखा के ब्राह्मण आज भी पर्याप्त सख्या म मद्रास के तिन्नेवल्ली जिले मे पाये जाते है।

सहिता-ग्रन्थो की प्राचीनता तथा रचनाकाल—

आर्यो के मानसिक मन्त्र-उद्योगरूपी सहिताओ के रचनाकाल की ठीक अवधि जानने के लिये प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति आतुर रहा है, किन्तु आज तक किसी एक मत का समर्थक नही बन सका। सम्भवत भविष्य मे भी इस विषय पर मतैक्य होना यदि असम्भव नही, तो श्रम-साध्य अवश्य है। इस शका की पृष्ठभूमि मे निम्नलिखित प्रमुख कारण है, जिनके आधार पर ऐसा कहा गया है—

(१) काल निर्धारण म सहिताओ के अन्त साक्ष्यो एव बहि साक्ष्यो की प्रामाणिकता का अभाव।

(२) सहिता ग्रन्थो मे निश्चित तिथि तथा सवत्सरो की अनिश्चितता।

(३) परवर्ती वैदिक वाङ्मय मे तिथियो का व्यतिक्रम।

(४) भौगोलिक एव ज्योतिष सम्बन्धी विचारो की अस्पष्टता।

(५) वेदो की मान्यता म अपौरुषेय सम्बन्धी आस्था।

(६) भारतीय एव पाश्चात्त्य विद्वानो के मतो की विविधता।

इतना तो पूर्णतया सत्य प्रतीत होता है कि आज तक सहिताओ के आविर्भाव या रचनाकाल के सम्बन्ध मे जो भी मत व्यक्त किये गये हैं व अनुमान एव कल्पना के धरातल पर ही आधारित हैं। सहिताओ की प्राचीनता सिद्ध करने हेतु व्यक्त किये गये विभिन्न मतो को दो भागो मे बाटा जा सकता है—

(क) भारतीय विद्वानो का मत।

(ख) पाश्चात्त्य विद्वानो का मत।

भारतीय-मतदर्शिका सूची

भारतीय विद्वान्	समय	आधार
१—सायण	ईश्वरकृत	ऋग्वेदभाष्य-भूमिका की उपक्रमणी
२—उव्वट	,,	शुक्ल-यजुर्वेद-भाष्य
३—महीधर	,,	,,
४—महर्षि दयानन्द सरस्वती	सृष्टि का प्रारम्भ	
५—गौतम	अब से ४ लाख वर्ष पूर्व	
६—दीनानाथ शास्त्री चुलेट	अब से ३ लाख वर्ष पूर्व	
७—रघुनन्दन शर्मा	८८ हजार वर्ष पूर्व	
८—अमलेकर	८६ हजार वर्ष पूर्व	
९—अविनाशचन्द्र दास	ई० पूर्व २५ हजार वर्ष	
१०—बाल गङ्गाधर तिलक	ई० पूर्व ८ हजार से ६ हजार वर्ष	
११—नारायण भवनराव पावगी	ई० पूर्व ७ हजार वर्ष	
१२—बालकृष्ण दीक्षित	ई० पूर्व ६ हजार वर्ष	
१३—भण्डारकर पाडुरग	ई० पूर्व ३ हजार वर्ष	
१४—विद्यालकार	,, ,,	
१५—डॉ० सम्पूर्णानन्द	,, ,,	

पाश्चात्य-मतदर्शिका सूची

पाश्चात्य-विद्वान्	समय	आधार
१—जैकोबी	ई० पू० ४ हजार वर्ष	ज्योतिष
२—विन्टरनित्स	ई० पू० २ हजार ५ सौ वर्ष	मितानी शिलालेख
३—हॉग	ई० पू० २ हजार वर्ष	भाषाविज्ञान
४—ग्राट	ई० पू० २ हजार वर्ष	
५—मैक्समूलर	ई० पू० १२ सौ वर्ष	बौद्ध-साहित्य
६—श्रेडर	ई० पू० १५ सौ वर्ष	
७—कीथ	,,	
८—मैक्डानल	,,	
९—व्यूलर	ई० पू० २ हजार वर्ष	
१०—डॉ० वेबर	,,	

रचनाकाल का परिशीलन

वैदिक-संहिताओं के रचनाकाल के सम्बन्ध में व्यक्त किये गये विभिन्न मतों, विश्वासों तथा मान्यताओं का पर्यालोचन निम्नलिखित है—

(१) प्राचीन भारतीय मत—

प्राचीन भारतीय विद्वान् तो वैदिक-संहिताओं को अनादि तथा अपौरुषेय मानते है, उनके मत से संहिताओं को किसी काल की परिधि मे बाँधना युक्तिसंगत नही है। मीमांसक-मतावलम्बी वैदिक-संहिताओं के मन्त्रों के द्रष्टाओं को द्रष्टा-मात्र मानते है, रचयिता नही। दर्शनशास्त्र मे विश्वास रखने वाले नैयायिक संहिता को ईश्वर की सृष्टि मानते हैं और यह स्वीकार करते है कि वेद जगन्नियन्ता के निःश्वास-मात्र है। प्राचीन मान्यता है कि ब्रह्मा के चार मुखों से चार वैदिक-संहिताओं का आविर्भाव हुआ। संहिताओं को ऋचाओं का साक्षात्कार ऋषियों ने एक समय मे नही किया, अपितु जब कभी कोई ऋषि समाधिस्थ हुआ और उसे सत्य का जो प्रकाश मिला उसका नाम मन्त्र हो गया। श्रीमद्भगवद्गीता मे आनन्दकन्द-रसिक-विहारी भगवान् कृष्ण ने वेद की उत्पत्ति ब्रह्मन् से स्वीकार की है। भारतीय दर्शन-वेत्ताओं ने तो वेदों की स्वतःप्रामाणिकता स्वीकार की है। वैदिक-संहिताओं की प्राचीनता एवं उनकी उपयोगिता निर्भ्रान्त है। यदि कही सन्देह है तो वैदिक मन्त्रों के आविर्भाव के समय मे ही सम्भव है। इसके साथ ही साथ यह भी पूर्णतया सत्य है कि वैदिककाल का निरूपण कर उनके काल-सम्बन्धी किसी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचना यदि पूर्णरूप से असम्भव नही, तो कठिन अवश्य है। अपनी तार्किक-बुद्धि से आलोचक कुछ भी कहते रहे, परन्तु "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" मे पूर्ण आस्था रखने वाले आस्तिक भारतीय मनीषी तो वेदों को "अपौरुषेय" मानकर नतमस्तक है और भगवान् की तरह उसकी इस अमरवाणी को भी काल की सीमाओं मे संकुचित करने को किसी भी प्रकार से तैयार नही है। आर्यसमाज के प्रवर्तक, वैदिक-वाङ्मय के उद्भट विद्वान् ऋषि दयानन्द-सरस्वती वेदों को अपौरुषेय मानने वाली परम्परा के ही एक महान् पक्षधर एवं पोषक हैं।

(२) अर्वाचीन भारतीय मत—

अर्वाचीन भारतीय विद्वानों मे लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक एक ऐसे विद्वान् हैं, जिन्होंने वैदिक-साहित्य का गम्भीरता से मन्थन किया है। वेदों की रचना-तिथि निर्धारण करने मे आपने ज्योतिष-शास्त्र को आधार माना है। विद्वान् विचारक ने कृत्तिका-नक्षत्र के आधार पर ब्राह्मण-ग्रन्थों के निर्माणकाल की तरह मृगशिरस् नक्षत्र के आधार पर मन्त्रसंहिताओं के काल-निर्माण को भी

स्वीकार किया है। आपकी मान्यता है कि मन्त्र-संहिताओ के समय मे मृगशिरा नक्षत्र से रात्रि-दिन का समानान्तर निश्चित किया जाता था। खगोल-विद्या एव ज्योतिषशास्त्र के अनुसार मृगशिरा नक्षत्र का योग ६५०० वर्ष ई० पूर्व बैठता है। अतः वैदिक-संहिताओ के मन्त्रो का रचनाकाल ६५०० वर्ष ई० पूर्व मानना ही उचित है। इस प्रकार यदि मन्त्रसंहिताओ के निर्माण से पूर्व २००० वर्ष की अवधि की ही वैदिक-मन्त्रो का रचनाकाल माना जाये, तो अवश्य ही ८५०० वर्ष पूर्व कुछ वैदिक-मन्त्रो की रचना हो चुकी होगी। लोकमान्य-तिलक ने वैदिक-मन्त्रो की रचना को चार कालो मे इस प्रकार विभक्त किया है—

(अ) अदिति-युग—

वेद-मन्त्रो मे कही-कही छ मास के दिन और छः मास की रात्रि का भी वर्णन है। इसी को आधार मानकर तिलक ने भारतीयो के मूल स्थान को उत्तरीध्रुव माना है और यूरोप एशिया से होते हुए उनके भारत-प्रवेश को स्वीकार किया है। अपनी इस धारणा की पुष्टि विद्वान् ने अपनी रचना "आर्कटिक होम इन दी वेदाज़" मे की है। अपनी सुप्रसिद्ध रचना "ओरायन (मृगशीर्ष)" मे आर्य-सभ्यता के विकास को अदिति-युग कहा है। इसी समय योग-सम्बन्धी कुछ विधिवाक्यो का भी शुभारम्भ किया गया, जिनमे देवताओ के नाम, गुण, चरित्र आदि का वर्णन भी मिलता है। यह समय तिलक के अनुसार ६००० से ४००० वर्ष ई० पूर्व था।

(आ) मृगशीर्ष-युग—

मृगशीर्ष या मृगशिरा कहलाने वाला यह युग वस्तुत- भारतीय सस्कृति एव सभ्यता का महत्त्वपूर्ण युग था। इसी युग मे ऋग्वेद के अधिकाश मन्त्रो की रचना हुई। रचना की दृष्टि से इस युग की क्रियाशीलता का पता चलता है। यह समय ४००० से २५०० वर्ष विक्रम-पूर्व माना गया है।

(इ) कृत्तिका-युग—

गणित के आधार पर तिलक ने इस युग की अवधि २५०० से १४०० विक्रम-पूर्व स्वीकार की है। तैत्तिरीयसंहिता, तथा कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थो की रचना इसी युग मे हुई और वेदाङ्गा म ज्योतिषशास्त्र भी इसी समय रचा गया।

(ई) अन्तिम-युग—

विद्वान् लेखक ने इस युग मे वैदिक-धर्म के प्रतीकार मे बौद्ध-धर्म के उदय को भी माना है। गृह्यसूत्रो और दर्शनशास्त्रो के अभ्युदय एव विकास को भी इसी युग की देन माना है। इसका समय आपके मत के अनुसार १४०० से ५०० विक्रम-वर्ष पूर्व रहा है।

लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक का उपर्युक्त वैदिक रचनाकाल विवादास्पद है। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार भी वसन्त-सम्पात एवं कृत्तिका-नक्षत्र के सम्बन्ध मे भी अनेक मान्यताएँ हैं। अपने मत के प्रतिपादन में तिलक का उद्देश्य पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानो मे सामंजस्य स्थापित करना प्रतीत होता है। यही कारण है कि वैदिक मन्त्रो की रचना-सम्बन्धी तिलक की मान्यता को अधिकांश पश्चिमी वैदिक-विद्वानों ने स्वीकार किया और लोकमान्य के मत को सर्वोपरि मान लिया। वैदिककाल की मर्यादा के सम्बन्ध मे प० शंकर बालकृष्ण दीक्षित और लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक की गणना का आधार एक ही है। दीक्षित जी अपनी शती के प्रकाण्ड वैदिक विद्वान् थे, जिनके तर्कों और निष्कर्षों को लोकमान्य तिलक ने भी बड़े आदर से देखा है। इनकी धारणा है कि वेद-मन्त्रो का रचनाकाल शक-पूर्व ६००० वर्ष से प्राचीन है, नवीन नही। शकपूर्व ६००० वर्ष पहले वेदमन्त्रों की रचना कैसे हुई, यह नही बताया जा सकता। इस प्रकार यह काल अनादि, अनन्त है। दीक्षित जी ने "शतपथब्राह्मण" के एक उद्धरण से यह स्पष्ट किया है कि 'शतपथ" की रचना के समय कृत्तिकाएँ ठीक पूर्वीय बिन्दु पर उदीयमान थी। 'शतपथब्राह्मण" काल में अनन्त-सपात हुआ होगा। शतपथ की रचना २५०० वर्ष ई० पू० मानकर, वैदिक-संहिताओं का १००० वर्ष का समय मानकर वैदिक-वाङ्मय के सुमेरुरूप ऋग्वेद की रचना का समय ३५०० वर्ष ई० पूर्व माना है।

भूगर्भ-सम्बन्धी वैदिक रचनाकाल—

वैदिक-संहिताओ में भूगोल एवं भूगर्भ-सम्बन्धी ऐसे अनेक तथ्यो का चित्रण किया गया है, जिनके आधार पर वैदिक मन्त्रो का रचनाकाल निर्धारित किया जा सकता है। श्री नारायण भवनराव पावगी, श्री दीनानाथ-शास्त्री चुलेट, श्री अविनाशचन्द्र दास एवं डॉ० सम्पूर्णानन्द आदि विद्वानों ने अपने-अपने मत के समर्थन मे भूगर्भ-शास्त्रों के प्रमाणो से वैदिककाल को लाखो वर्ष पुराना सिद्ध किया है। राजपूताना मे सागर अपनी तरल-तरङ्गो से निनादित था, जिसमे सरस्वती नदी आकर मिलती थी। सिन्धु नदी के तट पर आर्यों के यज्ञ विधानो का उल्लेख है। काल के अव्याहत प्रभाव से राजपूताना के सागर के गर्भ से एक भयंकर तूफान और भूकम्प उठा और वहाँ का सागर सरस्वती नदी के साथ बालू के टीले मे परिवर्तित हो गया। ऋक्संहिता मे 'सप्तसिन्धु' और "चतुः समुद्रम्" का वर्णन है। भौगोलिक एवं भूगर्भ-विषयक वृत्तान्तो से वैदिक-मन्त्रो का रचना-काल पच्चीस हजार वर्ष ई० पूर्व तक स्वीकार किया गया है। इस मत के सम्बन्ध मे पाश्चात्य विद्वानो की धारणा है कि अनुसन्धान की कसौटी पर यह मत भावुक

ऋषियों की कल्पनामात्र सिद्ध होता है। अतः पण्डित दीननाथ शास्त्री चुलेट के ज्योतिष-सम्बन्धी मत के समान इस मत की भी आलोचनाएँ हुई हैं। आचार्य भगवद्दत्त का मत वैदिक-मन्त्रों की रचना के सम्बन्ध में स्पष्ट है कि ब्रह्मा से लेकर वेदव्यास कृष्णद्वैपायन तक सभी ऋषिगण वेदों के निष्णात विद्वान् थे। ब्रह्मा का समय १६००० वर्ष पूर्व, सतयुग का समय ४८००, त्रेतायुग का ३६००, द्वापर का २४००—इस प्रकार पूरी संख्या १०८०० वर्ष होती है। इसके पश्चात् कलियुग के ५००० वर्ष जोड़ने से लगभग १६००० वर्ष होते हैं। भगवद्दत्त जी के मत का समर्थन एशिया-माइनर से प्राप्त शिलालेख से भी होता है, जो १४०० वर्ष ई० पूर्व से प्राचीन लगता है। इस लेख में सन्धि-पत्र का वर्णन किया गया है, जिसमें इन्द्र, मित्र, अश्विनी, वरुण आदि देवताओं का वर्णन है। इस नामावली से सिद्ध होता है कि वैदिक-मन्त्रों का रचनाकाल अतीव प्राचीन है।

पाश्चात्य विद्वानों के मत—

डॉ० मैक्समूलर सम्भवतः पहले विदेशी विद्वान् थे, जिन्होंने वैदिक-संहिताओं पर विशेषकर ऋक्संहिता के निर्माणकाल के निर्णय हेतु जीवन-पर्यन्त श्लाघनीय प्रयास किया। वैदिक मन्त्रों के रचना-काल के निर्धारण में आपका आधार बुद्ध-काल है। आपने ऋग्वेद का रचनाकाल १२०० वर्ष विक्रम-पूर्व स्वीकार किया है। ४७७ वर्ष ई० पूर्व भगवान् बुद्ध का निर्वाण हुआ। अनुमानतः १०० वर्ष पूर्व बुद्ध-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ होगा। बुद्ध-धर्म के उदय से पूर्व सम्पूर्ण वैदिक-ग्रन्थों की रचना सम्पन्न हो चुकी थी। अपनी सुविधानुसार वैदिक-युग को मैक्समूलर ने चार भागों में विभाजित किया है—छन्दस्काल, मन्त्रकाल, ब्राह्मण और सूत्रकाल। इन चारों विभागों के विकास में २०० वर्षों का अन्तर माना गया है। इस प्रकार सूत्रकाल का समय ६०० वर्ष विक्रम-पूर्व, ब्राह्मणकाल ८०० वर्ष विक्रम-पूर्व, मन्त्रकाल १००० वर्ष विक्रम-पूर्व तथा छन्दस्-काल को १२०० वर्ष विक्रम-पूर्व माना है। मैक्समूलर के अनुसार यही युग मौलिक प्रतिभा का युग था, जब नव-नवोन्मेष-शालिनी कल्पनाएँ भारतीय मनीषियों के मानसरोवर में उद्वेलित हुई थीं। यद्यपि भाषागत विकास हेतु दो सौ वर्षों की अवधि बाँधना पूर्णतया अवैज्ञानिक एवं अस्वाभाविक है, परन्तु 'गतानुगतिको लोकः पारमार्थिकः' इस उक्ति के अनुसार अधिकांश लोगों ने मैक्समूलर के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया कि वैदिक-मन्त्रों की रचना आज से ३२०० वर्ष ई० पूर्व हुई थी।

प्रो० मैक्समूलर के उपर्युक्त सिद्धान्त और मान्यता का अनेक विद्वानों ने विरोध एवं खण्डन किया है। वैदिक विद्वान् न्यायाधीश स्व० के० टी० तैलंग ने तो

डॉ० मैक्समूलर, प्रो० ब्लूम फील्ड आदि यूरोपीय विद्वानो की वैदिक सम्बन्धी अर्वाचीन धारणाओ को निर्मूल बताते हुए पक्षपातपूर्ण कहा है, जो मान्य-कोटि मे नही लायी जा सकती।

जर्मन विद्वान् विटरनित्स ने वैदिक मन्त्रो के निर्माण-सम्बन्धी विभिन्न मतो की आलोचना के बाद अपना समन्वयात्मक मत देते हुए वैदिक-काल को २५०० वर्ष ई० पूर्व से ५०० वर्ष ई० पूर्व माना है। आश्चर्य यह है कि विद्वान् स्वय ही अपने मत-निर्धारण के प्रति सशकित है कि इस अवधि से पूर्व वैदिककाल मानने पर उनकी भाषा फारसी शिलालेखो जैसी लगती है जिनका काल ६ठी शती ई० पूव है।

ज्योतिर्विद् जमन विद्वान् याकोबी ने वेदो के रचनाकाल को ६५०० वर्ष ई० पूर्व निश्चित किया है। इनकी इस मान्यता का आधार कल्पसूत्र का विवाह-प्रकरण है। "ध्रुव इव स्थिरा भव' विवाह के समय कही गयी इस उपमा से "ध्रुव" शब्द की ज्योतिर्विज्ञान के आधार पर गणना की गयी और २७०० वप ई० पूर्व इस ध्रुव की स्थिति को आका गया। इसी गणना के अनुसार कल्पसूत्रो का रचनाकाल ४७०० वप निर्धारित किया और इस सिद्धान्त के पर्यालोचन क पश्चात् ६५०० वप ई० पूर्व को वैदिक रचनाकाल माना गया।

निष्कर्ष—

वैदिक-सहिताओ के रचना-सम्बन्धी विभिन्न मतो के अवलोकन के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता है कि सभी समीक्षको या समालोचको ने कल्पनाओ एव अनुमान का ही आश्रय लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन वैदिक-सहिताओ की सत्ता सनातन है और उनकी स्थिति इतनी प्राचीन है जितनी स्वय जगन्नियन्ता की।

प्रो० मैक्समूलर के मत की विस्तृत चर्चा ऊपर की गयी है, परन्तु एशिया माइनर के "बोगाज़ कुई" नामक स्थान की सन् १८९३ ई० मे खुदाई हुई, जिसमे कुछ कीलाक्षर-लेख प्राप्त हुए। खुदाई का कार्य सन् १९०५ ई० से सन् १९०७ ई० तक भी हुआ और कीलाक्षरो के अतिरिक्त चित्रलिपि आदि के रूप मे पर्याप्त सामग्री मिली। प्राप्त लेखो से "हित्ती" भाषा का पता चला, जो २००० वर्ष ई० पूर्व मानी गयी। इस भाषा के सम्बन्ध मे अनेक विवाद हुए, किन्तु जेक विद्वान् बो० ह्राजनी ने सन् १९१७ ई० म इस भाषा का सम्बन्ध भारोपीय परिवार से स्थापित किया। पश्चिमी एशिया खण्ड की दो प्राचोन "हित्ति" और ' मितानि" जातियो का पता कीलाक्षर-लेख से लगता है। इस लेख से यह स्पष्ट है कि परस्पर विरोधी इन दोना जातियो ने सन्धिपत्र लिखा था, जिसमे मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ (अश्विनौ) जैसे नामो का उल्लेख है। लेख मे मितानि जाति के इन दवताओ

के नामो को देखकर प्रो० मैक्समूलर आदि पाश्चात्य-विद्वानो की अटकल-बाजियाँ एव कल्पनाएँ कपोलकल्पित प्रतीत होने लगी, जो वैदिक-संहिताओ को अर्वाचीन मानने का दावा कर रहे थे। कीथ और मैक्डानल ने भी इसकी पुष्टि की है। प्रो० विन्टरनित्स एक समन्वयवादी विचारक है। इन्होने १४०० वर्ष ई० पूर्व के सिद्धान्त मे १००० वर्षो के ऊपर की अवधि जोड़कर वैदिक-मन्त्रो की रचना को २५०० वर्ष ई० पूर्व माना है। इनके मत से सम्पूर्ण वैदिक-साहित्य की रचना भगवान् महावीर और बुद्ध से ७५० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व के बीच मे हुई है। अपनी अनेक विसगतियो के बीच यह मत २५००० ई० पूर्व वैदिक-संहिताओ के रचना-सम्बन्धी किसी ठोस प्रमाण के अभाव मे निष्क्रिय सा रहा है।

भारतीय वैदिक-विद्वान् लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक, श्रीबालकृष्ण दीक्षित, आदि के मत प्राय॰ समान आधार पर हैं। वैदिक-मन्त्रो की तिथियाँ भी प्राय इन विद्वानो की मिलती-जुलती हैं। इनकी युक्तियाँ तथ्यो पर आधारित हैं। इन्हे मनगढन्त मानना उचित प्रतीत नही होता। यद्यपि उपर्युक्त विभिन्न मतो के महान् अन्तराल के कारण किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचना असम्भव है, तथापि बहुचर्चित मत के आधार पर वैदिक-संहिताओ के रचनाकाल को ४००० वर्ष ई० पूर्व से १००० वर्ष ई० पूर्व तक रखना उचित प्रतीत होता है।

संहिताओं मे पुरुष और नारी—

संहिता-साहित्य मे समाज के अभ्युत्थान, उत्कर्ष, प्रेयस् एव नि॰श्रेयस् मे पुरुष वर्ग तथा नारी-वर्ग का योगदान समान रूप से रहा है। समानता के इस अधिकार को देखते हुए सहज मे ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक-संहिताओ के समय बिना भेद-भाव के समाज मे पुरुष और नारी को आगे बढने का अधिकार प्राप्त था। नारी को शक्तियो को पूर्णरूप से विकसित होने की सुविधा प्रदान करने वाला उस समय का पुरुषवर्ग नि सन्देह स्त्रीवर्ग के लिए श्रद्धा एव आदर का भाजन है। इस बीसवी शताब्दी का समाज कल्पना भी नही कर सकता कि वैदिक-युग मे नारी का कितना अधिक सम्मान था। उदाहरण के रूप मे कहा जा सकता है कि समाज मे उस समय नारी का वही स्थान था, जो शरीर मे नाड़ी का होता है। शरीर मे नाडी की तीव्र-गति या मन्दगति दोनो ही गतियाँ अस्वस्थता की द्योतक हैं। अत चिकित्साशास्त्र के अनुसार शरीर की नाड़ी का समभाव मे चलना श्रेयस्कर माना जाता है। समाज मे यही स्थिति नारी की भी है। नारी भी सामाजिक बन्धनो को तोड़कर यदि तीव्र गति से चलती है या अपने विचारो को कुण्ठित कर मन्दगति का अनुसरण करती है, तो नि सन्देह वश, समाज एव राष्ट्र के भी पतन का

कारण बन सकती है। प्रत्येक भारतीय को इस बात पर गर्व होता है कि वैदिक-संहिताओं में समाज के उत्थान की ऊँचाई नारी के उत्कर्षरूपी मानदण्ड से आंकी एवं जांची जाती थी। विश्वास के प्रतीक पुरुष ने श्रद्धा की प्रतीकरूपा नारी को इतनी सुविधाएँ दी कि नारी-समाज ने पुरुष-समाज के साथ कन्धे मे कन्धा मिलाकर सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक एव बौद्धिक विकास मे प्रगति के प्रतीक-भूत प्रमाणो की भरमार कर दी है। संहिता-समाजरूपी रथ के दो समान चक्रो की तरह चलने वाले पुरुष और नारीसमाज के कुछ पुरुष रत्नो तथा नारी-रत्नो की नामावली प्रस्तुत है, जिससे उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित की जा सकती है।

वैदिक पुरुष-रत्न—

वैदिक-संहिताओ मे वर्णित पुरुष ऋषियो के पाँच भेदो का वर्णन मिलता है, जिन्हे क्रमश. ऋषि, महर्षि, ऋषीक, ऋषिपुत्रक और श्रुतर्षि कहा गया है। चरक-तन्त्र सूत्रस्थान १/७ की व्याख्या करते हुए हरिचन्द्र-भट्टारक ने इनके निम्नलिखित भेद स्वीकार किये हैं—

महर्षि—

भृगु, मरीच, अत्रि, अङ्गिरस, पुलस्त्य, क्रतु, मनु, दक्ष, वसिष्ठ, पुलहत्य।

ऋषि—

उशनस् काव्य, बृहस्पति, कश्यप, च्यवन, उतथ्य, वामदेव, अगस्त्य, उशिक्, कर्दम, विश्रवा, शक्ति, वालखिल्य, अर्वत इत्यादि।

ऋषिपुत्रक—

भृगु १९, आङ्गिरस ३३, काश्यप ६, आत्रेय ६, वासिष्ठ ७, कौशिक १३, आगस्त्य ३।

उपर्युक्त ब्राह्मण-पुरुषरत्नो के अतिरिक्त क्षत्रिय एव वैश्य पुरुषरत्नो का भी उल्लेख है, जिनमे प्रमुख हे—

क्षत्रिय—

क्षत्रिय-वंशोत्पन्न दो ऋषियो का नाम वैदिकसंहिताओ मे बडे आदर से लिया जाता है, जिन्हे वैवस्वत तथा ऐलराजा पुरूरवा कहा जाता है।

वैश्य—

वैश्य-वंशोत्पन्न भलन्दन, वत्स एव सकील नामक वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियो का उल्लेख वैदिकसंहिताओ मे है।

(२०) लोपामुद्रा। (२१) वाक् (आम्भृणी)। (२२) विश्ववारा (विश्वावरा)। (२३) शची (पौलोमी)। (२४) श्रद्धा (कामायनी)। (२५) शाश्वती (अङ्गिरसी)। (२६) सरमा। (२७) सूर्या (सावित्री)। (२८) सार्पराज्ञी। (२९) सिक्ता (निवावरी या नीवावरी)। (३०) कद्रु। (३१) जरिता। (३२) देवयानी। (३३) मेधा। (३४) रात्रि। (३५) शार्गी। (३६) श्री।

ऋषिकाएँ—

अदृष्ट-भाषा, गोपायना, गोधा (नोधा), सिक्ता (निवावरी)। आश्वलायन एवं शाख्यायन गृह्यसूत्रों के अनुसार ऋषिकाएँ जिनकी वन्दना की गयी है—वडवा, प्रातिथेयी, सुलभा, मैत्रेयी, गार्गी (वाचक्नवी)।

नारी के सहज प्राकृतिक-गुण—

सृष्टि का श्रीगणेश नारी एवं पुरुष दोनों के पारस्परिक गुणों के आधार पर ही माना गया है। बिना एक के दूसरे के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। समूचा वैदिकसंहिता साहित्य नारी के विविध रंगों से रंगा पड़ा है। नारी सदा पुरुष की सफलता में सहायिका रही है। जीवन की ज्योति, शक्ति एवं प्रेरणा की स्रोत नारी ने अपने सहज गुणों से सर्वदा पुरुष की सहज-चेतना को प्रदीप्त किया है। समाज में नारी को जो सम्मान मिला है, वह उसकी साधना, सत्यता, सहनशीलता, सौम्यता, सौष्ठवता आदि सहजगुणों का ही सुफल है। वैदिक संहिताओं में पावनता की आगार नारी की अपने पति (पुरुष) के प्रति अटल भक्ति परिलक्षित होती है। शुद्धता एवं नैतिकता की नींव बनी नारी विपत्तियों में महाक्रान्ति का रूप धारण कर महाशक्ति में अवतरित होती रही। धन की अधिष्ठात्री लक्ष्मी के रूप में, बलदायिनी दुर्गा के रूप में तथा ज्ञानदायिनी माँ सरस्वती के रूप में नारी का समाज में सदा स्वागत एवं सम्मान रहा है। आगे चलकर भी अपने इन्हीं सहज गुणों के कारण नारी सहनशीलता के लिये वसुन्धरा से अपनी समता पाती रही है। भरण-पोषण की प्रतीक सर्वसहा पृथिवी ने जनकनन्दिनी सीता के रूप में, रत्नाकर ने सागरतनया लक्ष्मी के रूप में तथा पर्वतराज हिमालय ने पार्वती के रूप में नारी-समाज के महत्त्व को सर्वोपरि माना है।

समाज को नारी की देन—

वैदिक-संहिता की नारी ने अपने व्यक्तित्व से समाज में आद्याशक्ति के स्वरूप को बनाये रखा है। नारी को अबला कहने वालों के सामने वैदिक-नारी सदा सबला रही है। महिला-शब्द का वास्तविक अर्थ ही है महान् शक्तिशाली। इसी का प्रत्यक्ष

प्रमाण है कि समाज मे शक्तिरूप मे नारी-मूर्ति को ही मान्यता मिली है। सृष्टि के उत्पत्ति-प्रसग मे नारी प्रकृति के स्पन्दन का आधार बनती है, पुरुष-ब्रह्म तो सदा प्रकृतिस्थ होकर प्रकृतिजन्य गुणो का उपभोग करता है। धार्मिक दृष्टि से साध्वी एव राज्यनीतिज्ञ के रूप मे वैदिक-नारी सदा युगद्रष्टा रही है। व्यक्तिगत नैतिकता को नारी ने सदा सार्वजनिक-रूप से सिद्ध करने की साधना की है। राजनीति को आध्यात्मिक रूप देने का श्रेय नारी को ही रहा है। सामाजिक सगठन की दृष्टि से नारी समाजवादी तथा समता हेतु सदा साम्यवादी रही है। कार्यनिधारण मे यह सदा व्यक्तिवादी, परन्तु विरोधी तत्वो के सफाये के लिये नारी सदा उग्रवादी रही है। नारी-इस शब्द मे स्नेह, वात्सल्य, ममता, त्याग, अनुराग आदि कितने भाव निहित है, जिनका सही रूप से मूल्याकन कर पाना भाषा के सामर्थ्य के बाहर प्रतीत होता है। पारिवारिक रिश्तो के लिये अतीतकाल मे जब सज्ञाओ का सृजन हुआ होगा, तब शायद "माँ" शब्द ही सर्वप्रथम निकला होगा। उसी का प्रत्यक्ष-प्रमाण है कि जब कोई शिशु या प्रौढ अपने मुख से "माँ" या 'अम्मा" कहता है, तो माँ निहाल हो उठती है। मातृत्व स्वय मे एक महान् देन है। मातृत्वहीन नारी का जीवन अधूरा है। यह सच है कि नारी के शरीर, गुण, रूप एव स्वभाव आदि का सही विकास मातृत्व के बिना कठिन ही नही असम्भव भी है। यही कारण है कि नारी मे मातृत्व की सहज-भावना उसके अन्त स्तल मे छुपी रहती है। सम्पूर्ण सभ्य-समाज की सस्कृतियो मे गुड्डे-गुडियो से खेलने, उनका विवाह रचाने के सस्कार नारी-जाति के जन्मजात गुण माने जाते हैं। वैदिक वाड्मय की नारी ने विश्व को कुछ देन दी है, जिन्हे इस प्रकार समझा जा सकता है।

(१) तेजस्विता—

स्त्रीत्व की मर्यादा बनाये रखने के लिए संहिता-काल की नारी ने नर के सामने सदा अपना ललाट ऊँचा रखा है। इस कथन की पुष्टि हेतु महर्षि अत्रि की पुत्री अपाला का चरित्र उस समय के नारी-समाज का प्रतीक माना जा सकता है। तेजस्विता की मूर्ति अपाला का जीवनवृत्त इस प्रकार है।

अपाला का जन्म मन्त्रद्रष्टा महर्षि अत्रि के घर मे हुआ। नि सन्तान महर्षि का घर इस बालिका के जन्म के साथ ही साथ जगमगा उठा। सुसस्कारो से परिपूत महर्षि का आश्रम और अधिक पवित्र हो गया। दुर्भाग्यवशात् अपाला के सुन्दर शरीर पर कुछ श्वेत-कुष्ठ के चिह्न दृष्टिगोचर हुए, जिन्हे देखकर महर्षि का सम्पूर्ण हर्ष विषाद मे परिणत हो उठा। अचूक अनुलेपो तथा औषधियो का प्रयोग भी निरर्थक सिद्ध हुआ। अपनी पुत्री की इस शारीरिक दशा से महर्षि अत्रि विचलित

हो उठे और उन्होने अपनी पुत्री की शिक्षा-दीक्षा की ओर विशेष रुचि लेना आरम्भ कर दिया। फलतः अपाला शिक्षा के क्षेत्र मे विशेष प्रतिभा के रूप मे निखर उठी। ब्रह्मवादिनी अपाला की यौवनावस्था को देखकर ज्ञानी पिता ने अपनी पुत्री का हाथ ऋषिकुमार कृशाश्व को सौप दिया। अपाला को अपने पति के घर सभी प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थी, एक पति-प्रेम को छोड़कर। विदुषी अपाला को अपने पति की इस उदासीनता को समझने मे देर नही लगी और उसके अन्तस्तल मे छुपा भारतीय नारीत्व जाग उठा। अपाला ने अपने पतिदेव से एक दिन पूछा—श्रीमन्! मेरे प्रति आपका यह उपेक्षाभाव कब तक बना रहेगा? रोष एव तेज भरे इस प्रश्न ने कृशाश्व के हृदय को झकझोर दिया और उसने मौन स्वीकृति देते हुए कहा—"मेरे मानस को प्रेम और वासना ने आलोडित कर दिया है। प्रेम के कारण मैं आपके अलौकिक प्रभाव से नतमस्तक हूँ, परन्तु मेरी रूप-वासना आपके त्वग्दोष से मुझे आपके प्रति उदासीन सा बनाती जा रही है"।

अपने पति का उत्तर सुनकर अपाला पैरो-तले रौंदी गयी सापिनी की तरह क्रोधित हो उठी और उसने नारी की सच्ची तेजस्विता दिखाने का निश्चय किया। अपाला का दृढ विश्वास था कि मानसिक दुर्बलता को दूर करने का सर्वोत्तम साधन तपश्चर्या है। तपस्या-रूपी अग्नि में तपाया गया मानव हृदय, तपाये गये काञ्चन की तरह निखर उठता है। वृत्रहन्ता इन्द्र को प्रसन्न करने हेतु अपाला ने निर्णय किया और अन्त में अपनी तपश्चर्या से उन्हे प्रसन्न कर लिया। सोमरसपायी इन्द्र ने प्रसन्न होकर वर मागने का आदेश दिया। अपाला ने प्रथम वरदान मे अपने पिता के खल्वाट सिर पर बालो के उगने की याचना की। द्वितीय वरदान मे पिता के ऊसर खेतो मे कृषि की उपज तथा तीसरे वरदान मे अपने शरीर के त्वग्दोष-निवारण की प्रार्थना की। इन्द्र ने प्रसन्न होकर 'एवमस्तु" कहकर साधिका के मनोरथ पूरे कर दिए। सबला नारी की तेजस्विता को देखकर समार स्तब्ध हो गया। अपाला के पति महर्षि कृशाश्व भी नारी-शक्ति के आगे नतमस्तक हो गये और उन्होने अपाला की सराहना की।

(२) भद्र-भावना—

वैदिक-सहिताओ मे अनेक भद्र-भावनाओ के आख्यान भरे पड़े हैं। वैदिक-काल की नारी ने सदा अन्तरात्मा की पुकार को अपनी अन्तश्चेतना से सुना है। ऋग्वेद ५/६१ मे वर्णित कहानी मे ऋषि की गौरव-गाथा का सजीव चित्रण, प्रेम की प्रखर महिमा तथा साधक की मगलमयी भद्र-भावनाओ का प्रतिपादन किया गया है। इस सूक्त की ऋचाओ मे राजर्षि रथवीति दालभ्य की धर्मपत्नी ने जिस विवेक

का परिचय दिया है, वह स्वयमेव वैदिक-सहिताओ की नारी की भद्र-भावनाओ का जीता-जागता उदाहरण है।

कथानक इस प्रकार है कि एक बार राजर्षि रथवीति ने अपनी राजधानी मे यज्ञ का विधान किया। राजा के विशेष आग्रह पर महर्षि अर्चनाना ने होता का गुरुतर-भार ग्रहण किया। अर्चनाना, महर्षि अत्रि के पुत्र और अपने समय के ब्रह्मवेत्ता माने जाते थे। ऋग्वेद के पचममण्डल के अनेक सूक्तो के वे ऋषि हैं। महर्षि अर्चनाना अपने साथ अपने ज्येष्ठ युवा-पुत्र श्यावाश्व को भी राजा रथवीति की राजधानी मे ले आए। यज्ञ की समाप्ति पर महर्षि की दृष्टि राजा की पुत्री मनोरमा पर पडी और उन्होने विचार किया "बडा अच्छा होता अगर मनोरमा मेरी पुत्रवधू बनती"। इस विचार के साथ ही महर्षि ने राजा से प्रस्ताव किया कि "आपको अपनी रूपवती राजकुमारी मनोरमा का विवाह मेरे गुणवान् पुत्र श्यावाश्व से करना होगा"। राजा ने प्रस्ताव का तत्काल अनुमोदन करते हुए कहा—"महर्षे! मेरा सकल्प गुणवान् व्यक्ति को अपनी कन्या देने का है। भला कौन ऐसा पिता होगा जो अपनी कन्या का पाणिग्रहण गुणो के मनोरम आगार आपके पुत्र से करने को उत्सुक नही होगा? मुझे तो आपका प्रस्ताव स्वीकार है, किन्तु इसके लिए महारानी की स्वीकृति का महत्त्व मेरी स्वीकृति से अधिक महत्त्वशाली है"।

महर्षि की आज्ञा पाकर राजा रथवीति अपने अन्त:पुर मे गये और उन्होने महारानी को महर्षि के प्रस्ताव से अवगत करा दिया। महारानी ने एक ही शब्द मे राजा को सचेत कर दिया कि "मन्त्रवत्ता और मन्त्रद्रष्टा म महान् अन्तर है"। मेरे कुल मे आज तक ऋषि को छोडकर अन्य किसी को कन्या नही दी गयी। इसलिये मैं तो अपनी कन्या किसी ऋषि को देना चाहती हूँ, जिससे वह वेद-माता बन सके, क्योकि ऋषि को वेद-पिता माना गया है। नि सन्देह श्यावाश्व सर्वगुण-सम्पन्न है, परन्तु ऋषित्व के अभाव के कारण मेरी पुत्री मनोरमा का विवाह उनसे नही हो सकता।

महारानी की अस्वीकृति ने महर्षि अर्चनाना तथा उनके गुणवान् पुत्र श्यावाश्व की कामना-कमलिनी पर तुषारपात कर दिया। भग्न मनोरथ श्यावाश्व ने ऋषित्व-प्राप्ति हेतु तपश्चर्या का अवलम्बन लिया, क्योकि तपश्चर्या का फल भी धैर्य के फल के समान सुखद एव मधुर होता है। ब्राह्मण-युवक ने अपने सभी सुखो को तपस्या की वेदी पर चढा दिया, जिसका उन्हे सद्य फल मिला। मरुतो ने प्रसन्न होकर श्यावाश्व के अन्तस्तल से अन्धकार-पटल को दूर कर दिया। परमतत्त्व की अनुभूति के साथ ही ऋषिपुत्र को ऋषित्व की प्राप्ति हो गयी और उन्होने अपने इष्टदेव मरुतो का यशोगान इस प्रकार आरम्भ कर दिया—

हे भगवन्! आप लोग जिसे भी सत्कर्मों से प्रेरित करते है, उसकी सर्वत्र विजय होती है। ऐसे व्यक्ति को न कोई जीत सकता है न कोई मार सकता है, न उसको कोई हानि अथवा बाधा ही पहुँचा सकता है। ऐसे व्यक्ति की सम्पत्ति की सदा रक्षा होती है। "हे मरुद्गण! आपकी दया से लोग स्पृहणीय पुत्रों के साथ धन को प्राप्त करते हैं। सामगायन करने वाले ऋषि की रक्षा तथा आपको हविष्य देने वाले को अश्व आदि की प्राप्ति होती है। आपकी दया-दृष्टि की महिमा असीम है"। इतना ही नहीं "हे मरुत लोग! आपकी महिमा स्तुत्य है और सूर्य के समान दर्शनीय है। हम आपके उपासक हैं, अतः हमें अमृतत्व प्रदान कीजिए। शुभ स्थान को जाने की इच्छा करने वालों के रथ आपका अनुसरण करते हैं"।

अपने तपोबल से ऋषित्व पद की उपलब्धि के पश्चात् श्यावाश्व अपने पिता से आज्ञा लेकर राजर्षि रथवीति से मिलने गये। राजा और रानी ने ब्रह्मर्षि श्यावाश्व का हार्दिक स्वागत किया और पुत्री मनोरमा का पाणिग्रहण उनके साथ कर दिया। इस प्रकार अपने कुल की परम्परा का पालन करने वाली महारानी ने अपनी भद्रभावना से नारीसमाज का मस्तिष्क ऊँचा कर दिया। यह नारी की दृढ़ता और सूझ बूझ का ही फल था कि ब्रह्मतेज का क्षात्रबल के साथ मंगलमय सम्बन्ध स्थापित हो सका। आज भी भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर-भाग में गोमती नदी कलकल करती हुई रथवीति के आश्रम से होकर बहती है और आदर्श नरपति के स्त्रीरत्न की भद्रभावना की कमनीय कथा लोगों को सुनाती हुई सिन्धु में प्रविष्ट होती है।

(३) पातिव्रतत्व—

वैदिक संहिताओं में नारी के पातिव्रत-धर्म-परिपालन की अनेक कथाएँ हैं, जिनसे पता चलता है कि भारतीय नारी कभी भी बाह्य चाकचिक्य या ऊपरी आडम्बर पर मुग्ध नहीं होती थी। पति-सेवा उनका सर्वोपरि धर्म था। परिणय ही पति-पत्नी को एक साथ रखने का सम्बल था। पति की अवस्था या रूप-लावण्य वैदिक-नारी के लिए कभी भी आकर्षण-केन्द्र नहीं रहा है। इस सम्बन्ध में पश्चिम आर्यावर्त के एकच्छत्र सम्राट् शर्याति की पुत्री सुकन्या का चरित्र प्रस्तुत है।

एक बार राजा शर्याति मृगया की कामना से अपनी कमनीय गात्रवाली तरुणी कन्या "सुकन्या" के साथ महर्षि च्यवन के पुष्कर-मण्डल में पहुँच गये। राजा के निषेध करने के बाद भी कुछ चंचल स्वभाववाले बालकों ने तपश्चर्या में लगे हुए वृद्ध च्यवन ऋषि को अपमानित किया। ऋषि के अपमान-स्वरूप राजा की सेना आपस में ही संघर्ष करने लगी। राजा महर्षि च्यवन की कठोर तपस्या के प्रभाव से परिचित थे, अतः तत्काल उनके पास पहुँच कर अपराध हेतु क्षमा याचना

को। महर्षि का सदय हृदय द्रवित हो गया, किन्तु प्रायश्चित्त-स्वरूप राजा को अपनी युवती पुत्री का पाणिग्रहण च्यवन से करना पड़ा। राजकन्या "सुकन्या" वृद्ध महर्षि की जंगल मे रहकर सेवा करने लगी और अभ्यागत अतिथियो की सुसेवा ही उसके जीवन का लक्ष्य हो गया। एक बार पातिव्रत धर्म की परीक्षा हेतु अश्विनी-कुमारो ने पुष्कर सरोवर से स्नान कर निकलती हुई सुकन्या से पूछा—"तुम कौन हो? देवी या मानवी? तुम वन मे अकेले क्यो रहती हो? क्या तुम्हारा शरीर आश्रम के योग्य है? कमल की साथकता किसी राजा के गले का हार बनने मे है, वन का कांटा बनने मे कभी नही"।

सुकन्या ने उत्तर दिया—वह सम्राट् शर्याति की एकमात्र राजकुमारी है तथा महर्षि च्यवन की पाणिगृहीती पत्नी। पति की सेवा करना ही मेरा एकमात्र धर्म है, इसीलिये मैं इस निजन वन मे रहती हूँ। सुकन्या का उत्तर सुन अश्विनीकुमारो ने परखने हेतु कहा—"राजकुमारी, च्यवन के जीवन की तपोमयी सन्ध्या और तुम्हारे जीवन के प्रभात का अभी अरुणोदय है। अत इस वृद्ध का परित्याग करो"। अश्विनीकुमारो का यह सुझाव सुकन्या के शान्त रमणीय जीवन पर वज्रपात की तरह गिरा और उसने उत्तर दिया—"दाम्पत्य स्नेह, प्रेमपाश मे बाधने वाला एक अच्छेद्य बन्धन है, जिसे मृत्यु भी नही तोड सकती"। इस प्रकार "सुकन्या" को अपने पातिव्रत मे अटल पाकर अश्विनीकुमारो ने च्यवन के साथ पुष्कर सरोवर मे गोता लगाया और महर्षि च्यवन को एक मनोरम युवक बना दिया। सारा ससार सुकन्या के इस पातिव्रत धर्म की गाथा गाकर आज भी अपने को धन्य मानता है।

•

द्वितीय अध्याय

शब्दार्थ-सम्बन्ध—

शब्द और अर्थ का एक दूसरे से अविभाज्य एव अनिवार्य सम्बन्ध है, अर्थात् पहिले के बिना दूसरे की स्थिति असम्भव और दूसरे के बिना पहिले की स्थिति व्यर्थ होती है। भारतीय सस्कृति के परमोपासक कविवर कालिदास ने रघुवश-महाकाव्य के मङ्गलाचरण[1] मे शब्द और अर्थ को पार्वती-परमेश्वर की भाँति अभिन्न माना है। वैदिक-परम्परा के सबल पक्षधर महात्मा तुलसीदास ने भी सीता और राम को शब्दार्थ की तरह एक ही मानते हुए कहा है—"गिरा अर्थ जलवीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न"। गिरा शब्द से उनका अभिप्राय शब्द से है। शब्द और अर्थ वस्तुत. जल और लहर के सदृश एक ही हैं। निश्चय ही शब्द और अर्थ सदैव अभिन्न रहे है और रहेगे।

शब्द कर्णेन्द्रिय का विषय है और अर्थ उसकी अभिव्यक्ति का। इसलिये शब्द अर्थ से कुछ बाह्य जान पडता है। शब्द और अर्थ ने यह अभिन्नता किस समय प्राप्त की ? यद्यपि इसका कोई व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध नही, तथापि विचार करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शब्दार्थ का सम्बन्ध उतना ही प्राचीन है, जितना कि सहिताकाल। सहिताओ का सकेत ही शब्दार्थबोध का प्रमुख कारण है। जब शब्द, साक्षात् सकेतित अर्थ या प्रसिद्ध अर्थ से भिन्न, परन्तु मुख्य अर्थ से सम्बन्धित अर्थ अथवा प्रसिद्ध अर्थ से नितान्त भिन्न अर्थ का बोध कराने वाली—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना का स्वरूप ग्रहण करता है, तो अर्थ भी वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य कहलाने लगता है।

व्युत्पत्ति की उपयोगिता—

निर् + वच् + क्तिन् से निष्पन्न शब्द "निरुक्ति" किसी शब्द के सम्पूर्ण अर्थ को व्यक्त करने का नाम है। निर् + पद् + क्तिन् से बना निष्पत्ति, वि + उद् + पद् + क्तिन् से निर्मित "व्युत्पत्ति" शब्द अर्थबोध मे सहायक होते है। तिजोरी का ताला खोलने के लिए जिस प्रकार ताली की अनिवार्यता सुतरा सिद्ध है, ठीक उसी प्रकार किसी शब्द के सम्यक् बोध के लिये उस शब्द की निष्पत्ति आवश्यक ही नही, अपितु परमावश्यक है।

---

1 वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगत पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ रघुवश–१।१ ॥

प्रत्येक शब्द का अपना एक निराला इतिहास है। शब्द समय समय पर सकोच-विस्तार की परिक्रमा करता हुआ कभी कभी अपने मूल अर्थ से बहुत दूर चला जाता है, परन्तु परिवर्तन की यह परिक्रमा उसके मूल अर्थ को नष्ट करने का सामर्थ्य नही जुटा पाती। वस्तुत शब्दो के विकास के साथ-साथ मानव-सभ्यता का इतिहास जुडा हुआ है। यदि हम किसी भी देश, जाति के उत्थान-पतन, विकास-सकोच को जानना चाहे, तो हमे उस समय मे प्रयुक्त शब्दो के भावगाम्भीर्य को समझना होगा, जिसके लिये शब्द-व्युत्पत्ति ही एकमात्र शरण है।

उदाहरण रूप मे हम "नारी" शब्द को ही देखें, जिसके साथ "नर" का शारीरिक, रागात्मक, आर्थिक एव धार्मिक सम्बन्ध होने के कारण अनेक स्वरूप बदले हैं और उनको सूचित करने के लिये विभिन्न शब्दो का निर्माण हुआ है। यह सच है कि केवल शब्द-व्युत्पत्ति के सहारे "नारी" की महिमा का गान नही किया जा सकता, हाँ, एक चावल के दाने को स्पर्श करने की भाँति जिस तरह चूल्हे पर चढाये गये अन्य चावलो की स्थिति का परिज्ञान कर लिया जाता है, उसी तरह "नारी" शब्द से भले ही पूरी अभिव्यक्ति न हो, परन्तु उसके गुण, क्रियाओ का भान तो अवश्य ही हो जाता है।

नारी-सम्बन्धी कतिपय शब्दो की व्युत्पत्ति—

सहिता-काल मे नारी-समाज की सामाजिक, मानसिक, बौद्धिक तथा सास्कृतिक स्थिति को जानने हेतु "नारी" के लिये प्रयुक्त कतिपय शब्दो का दिग्दर्शन यहाँ कराया गया है।

नारी—

"नृ" अथवा "नर" से बना नारी-शब्द नि सन्देह यजु सहिता मे बहुत ही कम प्रयुक्त हुआ है। साम-सहिता मे तो इसका प्रयोग हुआ ही नही। जहाँ तक अथर्व-सहिता का सम्बन्ध है, उसमे "नारी" और "नारि" दोनो पदो का सात सात बार प्रयोग हुआ है। ऋक् सहिता मे नारी शब्द का प्रयोग बहुतायत रूप मे हुआ, जिसका फल है कि सहिताकाल के परवर्ती वाङ्मय मे "नारी" शब्द चर्चा का मुख्य, विषय बन गया।

नृ + अन् + ङीन् = नारी अथवा नर + ङीप् = नारी इन दोनो व्युत्पत्तियो को महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने ठीक मानते हुए "नुर्धर्म्या नारी, नरस्यापि नारी" (महाभाष्य ४/४/९) का महत्त्व प्रतिपादित किया है।

नृत्व, नरत्व जाति-विशिष्टा स्त्री, नारी मानी गयी है। नृ अथवा नरशब्द से "नृनरयोर्वृद्धिश्च" तथा "शार्ङ्गरवादि०" सूत्र से ङीन् होकर नारी शब्द बनता है।

महर्षि यास्क ने "नारी" के मूलभूत शब्द "नर" की व्युत्पत्ति नृत् (नाचना) धातु से करते हुए अपनी अमर-रचना निरुक्त (५।१।३) मे "नराः मनुष्या. नृत्यन्ति कर्मसु" कहा है। इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि नर अपने कार्यो के सम्पादन मे अपने अगो का सञ्चालन करता था, इसीलिये उसे "नर" कहा गया है। "नारी" शब्द भी अपने मूलभूत शब्द "नर" के कारण उपर्युक्त विशेषणो से अलंकृत था और वह भी नर की तरह समाज मे अपने सभी अधिकारो का प्रयोग करके अर्द्धनारीश्वरत्व की परिकल्पना को सार्थक करता था।

ऋक्-संहिता ७।२०।५, ७।५५।८, ८।७७।८, १०।१८।७, १०।८६।१०-११ मे "नृ" से बने नर और नारी का प्रयोग वीरता का कार्य करने, दान देने एव नेतृत्व करने के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। संहिताओ मे नर के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर घर का कार्य करने, यज्ञ करने, दान देने, अतिथियो, साधुओ, भिक्षुओ का स्वागत-सत्कार करने तथा युद्ध मे अपने पति के साथ जाने के वृत्तान्त उपलब्ध हैं, जिससे उस समय की वस्तुस्थिति का परिज्ञान हो जाता है।

विवाहकाल मे कन्यादान और पाणिग्रहण के बाद "लाजा-होम" के अवसर पर कन्या के लिये सर्वप्रथम "नारी" शब्द का प्रयोग हुआ है (पाराशर-गृह्यसूत्र १।६।२, अ० १४।२।६३), क्योकि इससे पूर्व उसका नर के साथ सम्बन्ध नही था। "नारीत्व" की भावना आते ही उसके मुख से निकल पड़ता है—"आयुष्यमानस्तु मे पति", "एधन्ता ज्ञातयो मम"। नारी होने के बाद ही वस्तुत. उसे सौभाग्य की प्राप्ति होती है।

नारि—

अथर्व-संहिता (काण्ड ३।१२।८, ३।२३।५, ११।१।१३-१४, ११।१।२३, १४।२।२०, १४।२।३२, १८।३।२) मे ह्रस्व इकारान्त "नारि" शब्द का प्रयोग हुआ है। सायण के मत से "नारि" का भाव नरो का उपकार करने से है। यही कारण है कि आपने "नृणा महावीराधिनाम् उपकारित्वात् नारि" कहा है। "न अरिः=नारिः" का प्रतिपादन सायण ने (तै० आ० ४।२।११) किया है। ब्राह्मणग्रन्थो मे भी "नारि." शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

नारी-नारि-विभेद-कारण—

पुरुष-पूरुष शब्द की तरह नारी के भी दो रूप वैदिक-संहिताओ मे उपलब्ध होते हैं। व्याकरण की दृष्टि से निरुक्तकार ने इसे जहाँ क्रिया का पुरुष माना है, वही ऋक्-संहिता के पुरुष-सूक्त मे इसे सहस्र सिरो, आँखो तथा चरणो वाला स्वीकार करते हुए परमपिता परमात्मा की सज्ञा दी है।

पुरुष पूरुष की तरह सहिताओ मे नारी-नारि के भी दो रूप मिलते है। क्या युगल रहने की उक्ति-युक्ति यहाँ भी चरितार्थ होती है कि दीर्घ-ऊकारादि पुरुषशब्द के लिये दीर्घ ईकारान्त नारी तथा ह्रस्व-उकारादि पुरुष के लिये ह्रस्व-इकारान्त नारि शब्द का साक्षात्कार हमारे मन्त्रद्रष्टा पुरुषो तथा नारीसमाज ने किया था ?

दोनो (नारी-नारि) शब्दो पर दृष्टिपात करने पर सामान्यरूप मे कोई विशेष अन्तर इनमे दृष्टिगोचर नही होता, परन्तु अथर्वसहिता को छोडकर अन्य ऋक्-यजु साम मे 'नारि' शब्द का प्रयुक्त न होना अवश्य ही मन मे एक सन्देह उत्पन्न करता है कि क्या कारण है कि विश्व की सभ्यता के आदिम-ग्रन्थ ऋक्-सहिता मे, जहां नारीशब्द का तो बहुतायत मे प्रयोग हुआ है, वही "नारि" शब्द का एक बार भी प्रयोग क्यो नही हुआ ?

लगता है कि सर्वतोभावेन अपने नर के प्रति आत्मसमर्पण करने वाली ऋक् सहिता की स्त्री, अथर्वसहिता मे आकर कुछ बदल गयी और उसके मन मे पुरुषवग के प्रति क्षोभ की भावनाओ ने जन्म ले लिया। यही कारण है कि वैदिक सहिताओ के श्रेष्ठ भाष्यकार सायण को 'नारि" शब्द की व्युत्पत्ति मे न+अरि =नारि अथवा "नृणा महावीरार्थिनाम् उपकारित्वात् नारि" कहना पडा है।

अथर्वसहिता (७।३८।४) मे एक स्वाभिमानिनी नारी अपने पति से कहती है—' अह वदामि नेत त्व सभायामह त्व वद"। इसके अतिरिक्त मैत्रायिणी-सहिता भी इसका प्रमाण है कि अब नारी-समाज पर सभाओ मे जाने और बोलने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। "पुमास सभा यान्ति न स्त्रिय" (मै० स० ४।७।४)।

कन्यारत्न, एक पतिव्रता नारी, यज्ञाधिकार आदि सुविधाओ से सुसज्जित ऋक्कालीन नारी, "स्त्रिय पुसोऽतिरिच्यन्त' (मै० स०) मे प्रतिपादित नारी की प्रतिष्ठा जब बहु विवाह के व्यवहार से धूमिल होने लगी, तो 'नारी" शब्द ने अपना दीर्घाकार ईकार वाला घूंघट ऊपर उठाकर उसे ह्रस्व इकार मे परिवर्तित कर दिया और नारी के साथ ही नारि का भी प्रयोग होने लगा।

अन्तर स्पष्ट है कि ऋक्कालीन नारी जहां अपने पाणिग्रहण सस्कार के बाद नर के सम्पर्क के कारण अपने लिए सर्वप्रथम नारी शब्द का प्रयोग करती है, वही अथर्वसहिता की "नारि" अपनी सपत्नी से इतनी भयभीत रहती है कि वह अपने पति को नपुसक बनाने मे जादू, टोना आदि का प्रयोग करने मे भी सकोच नही करती (अथर्वस० ६।१३८।२)।

मेना—

ऋक्-सहिता (मण्डल १।६२।७, १।९५।६, २।३९।२) मे "मेना" शब्द का प्रयोग नारी के लिए किया गया है। महर्षि यास्क ने "मेना" पद की व्युत्पत्ति करते

हुए—"मानयन्ति एनाः (पुरुषाः)" (निरुक्त ३।२१।२) मे कहा, जिसका अर्थ है—पुरुषो द्वारा आदर पानेवाली नारी। लगता है परवर्ती साहित्य मे "मेना" शब्द ही लौकिक सस्कृत मे "मान्या" शब्द के रूप मे परिवर्तित हो गया।

योषा—

यु धातु (जुटाना) से निष्पन्न-योषन्, योषा, योषणा, योषित् शब्द समानार्थक हैं, जो युवती, नारी अर्थ के वाचक हैं। वैदिकवाड्मय मे "योषा" शब्द का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे हुआ है। योषन्-शब्द ऋक्-सहिता मण्डल (४।५।५) मे, योषणा—(३।५२।३, ३।५६।५, ३।६२।८, ७।९५।३) मे, योषा—(१।४८।५, १।९२।११, ३।३३।१०, ३।३८।८) मे, योषित्—(९।२८।४) मे प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त अथर्वसहिता (१२।३।२९, १४।१।५६, ६।१०।११) मे भी योषा, योषित् का प्रयोग हुआ है।

निरुक्त (३।१५।१) मे "योषा" की व्युत्पत्ति करते हुए यास्क ने लिखा है—"योषा यौते मिश्रणार्थस्य, सा हि मिश्रयति आत्मानं पुरुषेण साकम्"। अर्थात् नारी को योषा इसलिये कहा जाता है, क्योकि वह सर्वात्मना अपने को पुरुष के साथ मिला देती है।

युष्-परितर्कणे से "नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः" सूत्र से कर्ता मे अच्, गुण, स्त्रीत्वविवक्षा मे टाप् प्रत्यय होकर योषा शब्द निष्पन्न होता है। "युष. सौत्र सेवायाम्" योषति सेवते इति योषा, अर्थात् सेवा करने वाली नारी।

जाया—

"जाया" की महिमा ऋक्सहिता (३।५३।६) मे गायी गयी है। उस घर को सर्वोत्तम माना गया है, जिसमे दिव्य गुणो से मण्डित,"जाया" निवास करती है। ऋक्-सहिता (३।५३।४) मे नारी के सम्मानित स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है—"हे इन्द्र ! जाया ही घर है, यही पुरुष का विश्राम-स्थल है"।

ऐतरेयब्राह्मण मे जाया की प्रशसा मे कहा गया है—"आभूतिरेषा भूतिः" अर्थात् यही शोभा है, यही ऐश्वर्य है। व्युत्पत्ति करते हुए ऐतरेय-ब्राह्मण मे स्पष्ट कहा गया है—(तदेव जायाया जायात्व यदस्या जायते पुन.")। "तज्जाया जाया भवति यदस्या जायते पुन"। अर्थात् जाया को जाया इसलिये कहा जाता है, क्योकि पुरुष स्वय उसमे पुत्र रूप मे जन्म ग्रहण करता है। जायते अस्याम् अर्थात् गर्भ के आधार को जाया कहते हैं। "जनेर्यक्" सूत्र से यक्प्रत्यय होने पर जाया-शब्द निष्पन्न होता है।

ग्ना—

ऋक्-सहिता (१।१५।३, १।२२।१०, ५।४३।६) मे "ग्ना" शब्द का प्रयोग सामान्य नारी के अर्थ मे आया है, जैसा कि आगे चल कर ब्राह्मण-ग्रन्थो में भी इसका

प्रयोग हुआ है। "ग्ना" शब्द का विशेष रूप से ऋग्वेद मे देवपत्नी के अर्थ मे प्रयोग है—"ग्ना देवपत्नी"। ऋक्-सहिता (५।४६।८), तु० (१।६१।८ मे) "ग्ना" शब्द का प्रयोग देवपत्नी के लिये द्रष्टव्य है।

यास्क ने—"ग्ना गच्छन्ति एना." (निरुक्त ३।२१।२) कहकर "ग्ना" शब्द की व्युत्पत्ति बतायी है, जिसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि नारी को "ग्ना" इसलिये कहते हैं, क्योंकि पुरुषसंसर्ग की अभिलाषा से इसके पास गमन करता है। लौकिक-सस्कृत का गम्या शब्द "ग्ना" का ही विकसित रूप लगता है। परवर्ती वाङ्मय मे "धेना", "मेना" शब्द मिलते है, जिन्हे "ग्ना" का ही परिवर्तित रूप कहा जा सकता है।

स्त्री—

ऋक्-सहिता (१।१६४।१६, ५।६१।६) मे "स्त्री" शब्द का पुमास (मनुष्य) और एक बार "वृषन्" (पुरुष) के विपरीत प्रयोग हुआ है। ऋक्-सहिता दशम मण्डल मे उर्वशी द्वारा पुरूरवा को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि 'स्त्रियो का हृदय वृक् (भेडिया) के हृदय के समान होता है, इनकी मित्रता कभी अटूट नही होती"[१]।

ऋक्-सहिता (८।३३।१७) मे "स्त्रिया अशास्य मन." भी स्त्री शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसमे स्त्री को वश मे रखना असाध्य माना गया है।

मैत्रायणी-सहिता[२], काठक-सहिता[३] मे निरुक्तकार[४] ने स्त्रीशब्द का प्रयोग किया है।

"स्त्री" शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए—"स्त्यायाति गर्भो यस्यामिति" ऐसा कहा गया है। स्त्यै—स्त्यायते से डट् प्रत्यय, ङीप् होने से "स्त्री" रूप बनता है। क्षीर-स्वामी ने भी कहा है कि नारी को स्त्री इसलिये कहा जाता है, क्योंकि गर्भ की स्थिति उसके भीतर रहती है। भाष्यकार पतञ्जलि ने—"शब्द-स्पर्श-रूप रस गन्धाना गुणाना स्त्यान स्त्री"। अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के विकास का नाम ही स्त्री

१ पुरूरवा मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणा हृदयान्येता ॥ (ऋ० १०।९५।१६)

२ यत्स्थाली सिञ्चन्ति न दारुमय तस्मात्पुमान्दायाद स्त्र्यदायादथ यत्स्थाली परास्यन्ति न दारुमय तस्मात्स्त्रिय जाता परास्यन्ति न पुमासमथ स्त्रिय एवातिरिच्यन्ते।
(मै० स० ४।६।४, १।१०।११०)

३ परा स्थालीमस्यन्ति न वायव्य तस्मात्स्त्रिय जात परास्यन्ति न पुमासम्। (का० स० २७।९)

४ तस्मात्पुमान्दायादो दायादा स्त्रीति विज्ञायते तस्मात्स्त्रिय जाता परास्यन्ति न पुमासमिति च। (निरुक्त ३।१।४)

है, क्योंकि स्त्री इन्हे वहन करती है। "स्त्यै शब्दसंघातयो." यहाँ शब्द तथा संघात अर्थ मे "स्त्यै" धातु का प्रयोग हुआ है। "अधिकरणसाधना लोके स्त्री, स्त्यायत्यस्या गर्भ इति।" अर्थात् लोक मे अधिकरण साधना स्त्री है, जिसमे गर्भ संघात-रूप मे प्राप्त होता है।

यास्क ने "स्त्रियः एव एता. शब्दस्पर्शरूपरसगन्धहारिण्य." (निरुक्त अध्याय १४ खण्ड २०) कहकर पतञ्जलि के सिद्धान्त के विपरीत वहन के स्थान पर अपहरण को प्रमुखता दी है।

सुन्दरी (सूनरी)—

ऋक्संहिता मे[१] उषादेवी के लिये सूनरी शब्द का प्रयोग हुआ है। सूनरी का शाब्दिक अर्थ है शोभा को बढाने वाली। वस्तुत. "सुन्दरी" शब्द, वैदिक-संहिताओ मे प्रयुक्त "सूनरी" शब्द का ही विकसित रूप जान पड़ता है।

"सुष्ठु उनत्ति आर्द्रीकरोति चित्तम्" व्युत्पत्ति के अनुसार सुन्दर+ङीप् से निष्पन्न सुन्दरी (सूनरी) का अर्थ है—अपनी शोभा से देखने वाले के हृदय को द्रवित करनेवाली नारी। अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी ने "सुष्ठु नन्दयति इति नैरुक्ता" (अमरकोश ३।१।५२) कहा है।

वधू—

"वधू" शब्द नवविवाहिता नारी के लिये (ऋ० ८।२६।१३, १०।२७।१२, १०।८५।३३ आदि स्थानो मे) प्रयुक्त हुआ है। "वहति श्वसुरगृहभार या सा" अर्थात् जो श्वसुर-घर के सम्पूर्ण भार का वहन करने वाली है अथवा "उह्यते पितृगेहात् पतिगृहम् = वधूः" इस पद की निष्पत्ति "वह्-वहो धश्च" के ऊ प्रत्यय से होती है, जिसका सामान्य अर्थ है सहचरी-गृहिणी।

पुरन्ध्रि—

पुरन्ध्रि (नगर-नेत्री) शब्द का प्रयोग नारी के लिये ऋक्-संहिता (१०।८०।१) मे "अग्निर्नारीं वीरकुक्षी पुरन्ध्रिम्" के रूप मे हुआ है। "स्वजनसहित पुर धारयतीति = पुरन्ध्रि" शब्द धृन् + खच् + ङीप् से निष्पन्न होता है, जिसका सामान्य अर्थ है—पति-पुत्र-दुहितृयुक्त कुटुम्ब वाली नारी। "पुरन्धिर्योषा"-(यजु० २२।२२) मे

१ आद्या योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती।
जरयन्ती वृजन पद्वदीयत उत्पातयति पक्षिण ॥ ऋ० १।४८।५।
विश्वस्य हि प्राणन जीवन त्वे वि यदुच्छसि सूनरि।
सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रामघे हवम् ॥ ऋ० १।४८।१०।

प्रयोग हुआ है, जिसमे ईश्वर से प्रार्थना की गयी है कि हमारे राष्ट्र मे सर्वगुण-सम्पन्ना नारिया उत्पन्न हो ?

ऋक्-सहिता (१।११६।१३) मे भी "पुरन्ध्रि" शब्द प्रयुक्त है जिसमे अश्विनी-कुमारो द्वारा पुत्रोपलब्धि की बात कही गयी है।

दम्पती—

पति पत्नी के सामूहिक नाम दम्पति का उल्लेख (ऋ० ५।३।८, ८।३५।५, १०।१०।५, १०।६८।२, १०।८५।३२, एव अथर्वसहिता—६।१२३।३, ११।३।१४, १४।२।९ मे) हुआ है।

जाया च पतिश्च इस द्वन्द्वसमास से सम्पन्न होने वाले शब्द मे "जाया" शब्द के स्थान पर दमादेश हो जाता है।

पत्नी—

ऋक्-सहिता (१०।८५।३९), अथर्व सहिता (९।३।७), तैत्तिरीय-सहिता (६।५।१४) तथा मैत्रायणी-सहिता (१।५।८) मे पत्नी शब्द का प्रयोग मिलता है।

पाति रक्षति पा + इ ति से निष्पन्न रूप मे ङीप् और नुन् आगम लगाने से बना "पत्नी" शब्द सहधर्मिणी का बोधक है।

जनि, जनी—

पत्नी के अर्थबोधन मे दोनो शब्दो का प्रयोग सहिताओ मे हुआ है। ऋक्-सहिता (४।५२।१) मे "जनी" शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋक्सहिता (१।८५।१, ४।५।५, ७।१८।२, ९।८६।३२) तथा वाजसनेयि-सहिता (१२।३५, २०।४०।४३) मे इन शब्दो के प्रयोग मिलते हैं।

जन् + इन् = जनि तथा जनि + ङीष् से जनी शब्द निष्पन्न होते है।

विधवा—

विधवा (पतिविहीना) शब्द का प्रयोग (ऋ० ४।१८।१२, १०।४०।२) और ८ मे हुआ है। ऋक्-सहिता (१०।१८।७) में अविधवा नारियो का वर्णन है, जिससे विधवा नारियो के अस्तित्व का भान होता है।

विगतो धवो भर्ता यस्या: सा = विधवा। इस व्युत्पत्ति से भी पतिरहिता नारी का ज्ञान होता है।

सती—

सती शब्द का प्रयोग अथर्वसहिता (१८।३।१) मे मिलता है। सत् + ङीप् से निष्पन्न इस शब्द का अर्थ है साध्वी नारी, जो मनसा, वाचा, कर्मणा पतिपरायणा रहती है।

नारी शब्द की प्रवृत्ति-अवस्था—

पाणिग्रहण-संस्कार के बाद ही "नारी" शब्द का प्रयोग उपलब्ध है। इससे पूर्व कन्या अपने लिये कहीं भी नारी शब्द का प्रयोग नहीं करती और न समाज के लोग ही ऐसा करते हैं। संहिता-साहित्य के उपजीव्य सूत्रग्रन्थों में (पराशर गृह्य० १।६।२) सर्वप्रथम लाजाहोम के समय कन्या अपनी पूर्वावस्था का परित्याग कर अपने को नारी की अवस्था में ढालती हुई अपने लिये नारी शब्द का प्रयोग करती है।

मैं नारी हूँ, मैं अपने नर की अर्द्धाङ्गिनी हूँ, मेरे सहयोग के बिना नर अपने जीवन के माङ्गलिक कार्यों में सुचारुरूप से नहीं नाच सकता, अर्द्धनारीश्वरत्व की कल्पना मेरे सहयोग के बिना अधूरी है, इत्यादि उच्च आदर्शों के धरातल पर खड़ी होकर नारी उद्घोष करती है—*"आयुष्मानस्तु मे पतिः—एधन्ता ज्ञातयो मम"*।

वैदिक-संहिताकाल की नारी का ललाट नारीत्व के संरक्षण हेतु सदा उन्नत रहता था। ऋक्-संहिता के सूक्त (८।९१) का साक्षात्कार करनेवाली ब्रह्मवादिनी "अपाला" की तरह नारी-समाज अपने प्रवृत्तिकाल से लेकर जीवन के अन्तिम क्षण तक स्वाभिमान की भावनाओं से भरा रहता था। वासनाओं की कुण्ठा से कभी भी कुण्ठित न होने वाली कन्या अपनी कमनीय, कल्याणकारी कामनाओं के साथ स्वेच्छा से नर का साथ देने हेतु वामाङ्गी बनती थी।

नारी के विविध रूप

कन्या—

"कन्या" शब्द का प्रयोग वैदिक-संहिताओं में प्रायः हुआ है। ऋक् संहिता (१।१२३।१०,[1] १।१६१।५, ३।३३।१०[2]) में एवं अथर्वसंहिता (११।४।२, ११।५।१८, १२।१।२५) में कन्या शब्द का प्रयोग हुआ है।

कन्या के समानार्थी शब्द "कना" का प्रयोग (ऋ० १०।६१।५ में), "कनी" का प्रयोग (ऋ० १।६६।८४ में), "कन्यना" का (ऋ० ८।३५।५ में), "कनीनक" का (ऋ० १०।४०।९ में), जबकि अथर्वसंहिता (५।५।३, १४।२।५२) में "कन्यला" का प्रयोग मिलता है। (कानीन कन्यकाज्जातः, अमरकोष)।

१　कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणम्।
स्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाति॥ (ऋ० १।१२३।१०)

२　आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते॥ (ऋ० ३।३३।१०)

कन् + दीप्तौ + अघ्न्यादित्वाद् यक् + टाप् प्रत्यय से निष्पन्न "कन्या" को "स्वतन्त्रा-वरवर्णिनी" के अतिरिक्त महाभारत मे "कन्यातीर्थमनुत्तमम्" कहते हुए यहाँ तक कहा है कि कन्या-तीर्थ मे स्नान करने वाले को हजार गो-दान का फल मिलता है।

दुहिता—

यास्क ने इसकी व्युत्पत्ति निरुक्त (३।४।४) मे दो प्रकार से की है—(१) दुहिता दुर्हिता, दूरेहिता। दुर्गाचार्य ने यास्क के भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है— "सा हि यत्रैव दीयते, तत्रैव दुर्हिता भवति" अर्थात् उसे जहा दिया जाता है, वहाँ उसका आदर नही होता। अथवा "दूरे हिता दुहिता" अर्थात् उसके दूर रहने मे ही पिता का हित है। (२) "दोग्धेर्वा दुहिता" इसकी व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य ने कहा है— "सा हि नित्यमेव पितु सकाशात् द्रव्य दोग्धि, प्रार्थनापरत्वात्"। अर्थात् वह पिता से सदा द्रव्य का दोहन करती है।

"कन्या" का एक पर्याय दुहितृ (दुहिता) भी है। "दुहिता" शब्द का प्रयोग (ऋ० ८।१०१।१५, १०।१७।१, १०।४०।५, १०।६१।५,७) मे हुआ है। अथर्व-सहिता (२।१५।२, ६।१००।३, ७।१२।१, १०।१।२५) मे भी यह शब्द उपलब्ध होता है।

गौरी—

कन्या को गौरी के नाम से भी वैदिक-सहिताओ मे जाना जाता था। ऋक्-सहिता (९।१२।३) मे "सोमो गौरी अधिश्रित" कहा गया है, जिससे स्पष्ट है कि उस समय विवाह के पूर्व कौमार अवस्था मे सोम का पचन गौरी (कन्या) के शरीर मे होता था।

अमाजुर (अमाजू)—

"अमाजुर" ऐसी कन्याओ की उपाधि थी, जो जीवन भर बिना विवाह किये माता पिता के घर मे ही रहती थी। पिता के घर मे ही अविवाहित जीवन-यापन करने वाली पितृषद् भी कहलाती थी। ऐसी कन्याओ मे एक "घोषा" नामक मन्त्र-द्रष्ट्री कन्या थी, जिसने ऋक्-सहिता के प्रथम मण्डल के ११७वें सूक्त का साक्षात्कार किया था।

कन्या का जन्म—

वैदिक-सहिताकाल मे पुत्र की तुलना मे कन्या का उत्पन्न होना श्रेयस्कर नही माना जाता था। यद्यपि ऋक्-सहिता मे[1] उक्त भावना की पुष्टि प्रत्यक्ष रूप से

१ इमा त्वमिन्द्र मीढ्व सुपुत्रा सुभगा कृणु।
दशास्या पुत्रानाधेहि पतिमेकादश कृधि॥ (ऋ० १०।८५।४५)

उपर्युक्त विवरणो से पता चलता है कि वैदिक-सहिताकाल मे कन्याएँ बालको की तरह ही अपरा और परा-विद्या-निष्णात होती थी एवं उनके बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास मे कोई बाधक नही था। इसी का प्रभाव था कि उस समय पुरुषो की तरह नारियाँ भी अध्यापन-कार्य करते हुए अध्यापिका, उपाध्याया, उपाध्यायी एव आचार्या कहलाती थी। पाणिनि के वार्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी अपनी रचनाओ मे इस बात की पुष्टि की है कि कन्याओ को शिक्षा-जगत् मे पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

वधू—

"उह्यते पितृगेहात् पतिगृह (वह+ऊधुक्)=वधू (विवाहिता स्त्री) शब्द का प्रयोग वैदिक सहिताओ मे यत्र-तत्र हुआ है। ऋक् सहिता (५।३७।३, ५।४७।६, ७।६९।३, ८।२६।१३, १०।२७।१२, १०।८५।३०, १०।१०७।९) के अतिरिक्त अथर्व-सहिता (१४।२।२, ४।२०।३, १०।१।१, १४।२।९) मे "वधू" शब्द आया है।

विवाहेच्छु व्यक्ति के लिए ऋक् सहिता (१०।८५।९, ३।५२।८, ९।६९।३, १०।२७।१२) मे तथा अथर्वसहिता (१४।२।४२) मे "वधूयु" पद का प्रयोग आया है।

वैदिक-आदर्श—

सहिताकाल मे विवाह एक पवित्र धार्मिक-संस्कार माना जाता था। कन्या का पिता इस सस्कार द्वारा वर को अधिकार नही, अपितु कर्त्तव्य सौंपता था। कन्या का पिता वर से प्रार्थना करता था कि आप इसे स्वीकार करें। वर इस कन्यादान को सहर्ष स्वीकार करता था, क्योंकि उसे वह दान नही, अपितु समर्पण मानता था। परन्तु यह समर्पण केवल वर की सेवा के लिये ही नही था, क्योंकि उसके पीछे शाश्वत-सनातन समाज की सेवा का सयुक्त गुरुतर भार रहता था, क्योंकि विवाह का अर्थ होता है -"विशिष्टो वाह. = विवाह.", जिसको आदर्श-जीवन की सज्ञा दी जाती थी। यही कारण है कि विवाह के बाद वर प्रार्थना करता है[१]— 'हे विश्वदेव! हम दोनो के हृदयो को सब प्रकार से प्रकाशयुक्त करें। मातरिश्वा, धाता और देष्ट्री (सरस्वती) हम दोनो (वर-वधू) की बुद्धियो को परस्पर अनुकूल बनायें"। "सखे सप्तपदो भव" की भद्रमयी भावना का आज भारत मे भले ही दर्शन न होता हो, किन्तु सहिताकाल उस समय का साक्षी है और साक्षी हैं अग्निदेव, जिनकी उपाधि ही "व्रत-पति" है। व्रत-पति (अग्निदेव) के समक्ष

१ समञ्जन्तु विश्वदेवा. समापो हृदयानि नौ।
स मातरिश्वा स धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥ (ऋ० १०।८५।४७)

पाणि-ग्रहण करने के पश्चात् वर उपस्थित लोगो से प्रार्थना करता है[1]—"यह वधू सुमङ्गली है, मङ्गलमयी है इसको सब लोग एक साथ देखें और इसे अखण्ड सौभाग्य का आशीर्वाद देकर ही अपने अपने घर लौटे।

"ओ सौभाग्यमस्तु, शुभ भवतु" इस आशीर्वचन के पश्चात् वर वधू से कहता है[2]—"हे सुमङ्गली! तुम सन्तति-वृद्धि के साथ उन्नतशील इस घर मे स्वामिनी बने रहने के लिये सदा सजग रहना, जिससे हम अपने ससर्ग सम्पर्क से वृद्धावस्था तक गृहस्थाश्रम धर्म का पालन कर सके"।

अथर्वसहिता मे स्पष्ट कहा गया है—"हे राजन्! यह कन्या तुम्हारी वधू बने, यह तुम्हारे कुल की रक्षा करने वाली है, हम इसे तुम्हे प्रदान करते है"। पति-प्राप्ति की कामना को समत्कण्ठा का वर्णन भी अथर्वसहिता मे[4] मिलता है, जिसमे "वधू" बनने की अभिलाषा है।

स्नुषा—

'स्नुषा' शब्द का प्रयोग (ऋ० १०।८६।१३, अथर्व० ८।६।२४), मैत्रायिणी-सहिता[5] तथा काठक-सहिता मे[6] हुआ है। "स्नुषा" शब्द प्रमुखरूप से ससुर के सन्दर्भ मे आता है, इसके साथ ही साथ सास के सम्बन्ध मे भी इसका प्रयोग मिलता है, पुत्र वधू के अर्थ-बोधन मे। श्वसुर के प्रति पुत्रवधू के आदरभाव का इससे भान होता है।

स्नु+सक्+टाप् के सयोग से 'स्नुषा' शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है पुत्रवधू।

पत्नी—

"पत्नी" शब्द का प्रयोग (ऋ० १०।८५।३९), अथर्वसहिता (९।३।७), तै० स० (६।५।१।४), मै० स० (१।५।८) मे मिलता है। ऋक्सहिता मे[7] वीर-पत्नी के रूप मे एक नदी का वणन है।

---

१ सुमङ्गलीरिय वधूरिमा समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्त विपरतन ॥ (ऋ० १०।८५।३३)

२. ओ इह प्रिय प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृह गार्हपत्याय जागृहि। एन पत्या तन्व ससृज-स्वाधाजिव्री विदथमा वदाय। (ऋ० १०।८५।२८)

३ एषा त राजकन्या वधूर्निधूयता यम।
एषा त कुलया राजन् तामु त परिदद्मसि ॥ (अ० स० १।१४।२, ३)

४ इयमगन्पतिकामा। (अ० स० २।३०।५)

५ तस्माज्ज्यायश्च स्नुषा च श्वशुरश्च सुरा पीत्वा विलालपत आसते। (मै० स० २।४।२)

६ यथैवाद स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना विलीयमानैति। (काठकस० ३१।१)

७ अजसी कुलिशी वीर पत्नी पयोहिन्वाना उद्भिर्भरन्ते। (ऋ० १।१०४।४)

"पत्नीना सदनम्" का उल्लेख अथर्वसंहिता (९।३।७) मे हुआ है, जिससे पता चलता है कि उस समय नारियो के रहने की व्यवस्था घर मे भी पृथक् होती थी।

"पत्यु यज्ञे सयोगो यया" अर्थात् यज्ञ मे पति के साथ जिसको बैठने का अधिकार प्राप्त था, वह पत्नी कहलाती थी। पतिशब्द से "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" सूत्र से ङीप्, नकारागम होने पर पत्नी शब्द बनता है।

सपत्नी—

ऋक्संहिता मे[1] "सपत्नी" शब्द पति पत्नी के अर्थ म आया है। सपत्नी-शब्द ऋक्संहिता (१।१०५।८, १०।१४५।१-५ ऋचा २) मे "पति मे केवल कुरु" अर्थात् मेरे पति को केवल मेरा ही बनायें—इससे ध्वनित होता है कि उस समय सपत्नी-शब्द प्रतिद्वन्द्विनी के पर्याय का स्वरूप धारण कर चुका था।

सपत्नी-डाह से अपने पति को वश मे रखने हेतु अथर्वसंहिता मे[2] वायु, अग्निदेव आदि देवो से प्रार्थना की गयी है। अपनी सपत्नी के प्रति एक नारी तीव्र भावना व्यक्त करती हुई अथर्वसंहिता मे[3] कहती है—"मैंने इस (अपनी प्रतिद्वन्द्विनी) के मगल, सौभाग्य एव तेज को अपने लिये ग्रहण कर लिया है"।

अपनी सपत्नी के लिये एक चण्डिका का विकराल स्वरूप देखते बनता है, जब वह यम से प्रार्थना करती है कि वह मेरी वैरिणी को अपनी पुत्रवधू बना ले। अथर्व-संहिता (७।३५) मे एक स्त्री अपनी सपत्नी के बाँझपन की प्रार्थना करती है।

माता—

ममता, महनीयता और वात्सल्य की प्रतिमूर्ति "माता" को शब्दो की सीमा मे बाँधना आदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। हमारे वैयाकरणो ने मातृ-शब्द को मान् + तृच् प्रत्यय से निष्पन्न करने का प्रयास किया है, जिसका सीधा अर्थ है "आदरणीया"। ऋक्संहिता मे आया मातृशब्द केवल जन्म देने वाली नारी तक ही सीमित नही है, क्योंकि वह नदी, अन्तरिक्ष, जल एव पृथिवी की व्यापकता को भी सूचित करनेवाला बन गया है। इस व्यापकता की परिधि मे परिक्रमा करता हुआ "मातृ" शब्द निःसन्देह पवित्रता की पराकाष्ठा को छू लेता है।

---

१ क—वृष्ण सपत्नी शुचये सबन्धू उभे अस्मै मनुष्ये नि पाहि। (ऋ० ३।१।१०)
ख—आस्के सपत्नी अजरे अमृक्ते सबर्दुघे उरुगायस्य धेनू। (ऋ० ३।६।४)

२. उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्षमादय।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनुशोचतु॥ (अ० ६।१३०।४)

३. गर्भमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्। (अ० १।१४)

महर्षि यास्क ने अपने निर्वचन मे मातृ शब्द को निर्मातृ के रूप मे देखा है, जो वस्तुत. सही है, क्योकि अपनी सन्तति के निर्माण के माध्यम से माता पूरे देश, जाति तथा समाज का निर्माण करती है। अपनी इस निर्मातृ-शक्ति के कारण ही माता—मान्या, पूज्या, आराध्या का पर्यायवाची बन गयी है। यह सच है कि माता की मुस्कान के समक्ष "मोक्ष" नगण्य है। मातृ-शक्ति ही सृष्टि का सृजन करती है, इसके प्यार मे पृथिवी पलती है और इसका पराभव ही प्रलय का सूचक है।

ध्वनि-अनुकरण के आधार पर "मा" से बने इस माता शब्द मे एक चुम्बकीय शक्ति है, जो जीवनमात्र को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यही कारण है कि कोई मनीषी "मा माने", "माङ् माने" अथवा "मान पूजायाम्" के आगे तृच् प्रत्यय लगाकर "मातृ" शब्द के निर्माण मे आस्था रखता है, तो दूसरा विद्वान् "माति गर्भो अस्यामिति माता या मान्यते पूज्यते जनै = माता" कहकर अपनी भक्ति-भावना को व्यक्त करता है। माङ् माने से "नप्तृनेष्टृ०" सूत्र से तृन् अथवा तृच् होने पर नकार-लोप होकर "माता" शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ—"मीमास्यते पूज्यते या सा माता" अर्थात् पूजनीया है।

ऋक्-संहिता मे[1] माता के दर्शन की आकुलता का स्पष्ट उल्लेख है, जिससे उसके सर्वाधिक घनिष्ठ और प्रिय-सम्बन्ध का पता चलता है। परमात्मा को "पिता" कहने की अपेक्षा "माता" कहने मे भक्त को अधिक सन्तोष मिलता है, इस कथन की पुष्टि ऋक्-संहिता मे[2] की गयी है। ऋक्-संहिता (४।२।१-२) मे स्पष्ट किया गया है कि उस समय बालक को जन्म देने वाली माता उसका लालन, पालन, पोषण स्वय करती थी, जिससे शिशु को कोई कष्ट नही होता था। पुत्र को जन्म देने वाली रानी को महिषी कहा जाता था। ऋक्-संहिता (७।८१।४) मे उषा को सम्बोधित करते हुए कहा गया—"हे उषे! जैसे माता के लिये पुत्र प्रिय होता है, वैसे ही हम तुम्हारे लिये प्रिय हो"।

अथर्वसंहिता मे[3] कहा गया है कि उस समय पुत्र सदा माता की इच्छाओ के अनुकूल आचरण करता था, क्योकि संहिता सन्देश उसे सुनाया जाता था। माता अपने अमृत तुल्य दूध से पुत्र का पोषण करती थी, इस बात का अथर्वसंहिता

---

१ क—कस्य नून कतमस्यामृताना मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितर च दृशेय मातर च ॥ (ऋ० १।२४।१)
ख—पितु पय प्रतिगृभ्णाति माता पिता वर्धत तेन पुत्र ॥ (ऋ० ७।१०१।३)

२ त्व हि न पिता वसो त्व माता शतक्रतो बभूविथ। (ऋ० ९।९८।११)

३ अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भवतु समना। (ऋ० १८।३।५०)

मे[1] स्पष्ट उल्लेख है। दुर्भाग्यवश पाश्चात्य-सभ्यता का अन्धाधुन्ध अनुकरण करने वाली कतिपय हमारी बहनें आज अपनी सन्तति को अपना दूध न पिलाने मे ही अपना गौरव समझती हैं और अपने शिशु को बाहरी दूध पिलाने को श्रेयस्कर मान बैठी है। वस्तुत सन्तान के लिये माँ के दूध से बढकर कोई अन्य पुष्टिकारक एव स्वास्थ्यवर्धक पदार्थ नही है।

पुत्रो को जन्म देने के कारण माता का स्थान समाज मे श्रेष्ठ था और राजगृहो मे पुत्रो को जन्म देने वाली रानी को महिषी के पद पर सुशोभित किया जाता था[2]।

यजु सहिता मे[3] माता की तुलना जल से करते हुए कहा है—"माता के समान पालन करने वाले जल हमे पवित्र करें"। यजु सहिता मे[4] माता की आज्ञा एव सोमक्रयणी को सम्बोधित करते हुए कहा है कि "आपके दर्शन के फलस्वरूप हमे श्रेष्ठ पुत्र की प्राप्ति हो"[5]।

माता के पर्याय—

अम्बा—(ऋ० २।४१।१६, १०।८६।७), वा० स० (६।३६)।
अम्बि—(ऋ० १।२३।१६), (१।४।१)।
अम्बालिका—(वा० स० २३।१८), मै० सं० (३।१२।२०)।
अम्बी—(ऋ० ८।७२।५)।
अम्बिका—(वा० स० ३।५७), तै० सं० (१।८।६।१)।
नना—(ऋ० ९।११२।३)।
प्रसू—(अथर्ववे० ३।२३।४), वा० स० (१८।७)।
जनि—(यजु० ११।६१)।
जनित्री—(ऋ० ३।४८।२, ३।५४।११)।

माता की प्रतिष्ठा—

वैदिक-सहिताकाल मे माता की प्रतिष्ठा अपनी पराकाष्ठा पर थी। कन्या के विवाह मे माता का निर्णय ही अन्तिम होता था। दार्भ की कन्या के साथ श्यावाश्व

---

१. माता पुत्र यथा सिचाभ्येन भूम ऊर्णुहि। (अ० १८।३।३।५०)

२ क—पुमास पुत्र जनयत पुमान् नु जायताम्।
भवासि पुत्राणा माता जाताना जनयाश्च यान्॥ (अ० ३।२३।३)
ख—सुवामा पुत्रान्महिषी भवति। (अ० २।३६।३)

३. आपो अस्मान् मातर शुन्धयन्तु। (यजु० ४।२)

४. अनु त्वा माता मन्यतामनु। (यजु० ४।२०)

५ वीर विदय तव देवि सन्दृशि॥ (यजु० ४।२३)

का विवाह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि विवाह-सस्कार तब तक नही हुआ, जब तक माता ने आज्ञा नही दी।

माता-पिता के समास मे भी माता को प्रथम स्थान पर रखना इस बात को सिद्ध करता है कि सहिताकाल मे माता की प्रधानता थी—"मातरापितरा" (ऋ० ४।६।७) और ऋक्सहिता (१।२४।१) मे रोगी द्वारा अत्यन्त विपन्नावस्था मे भी माता के दर्शन की आकाक्षा करना यह सिद्ध करता है कि माता का स्थान पुरुष-वर्ग की तुलना मे कितना अधिक हृदयग्राही था।

माता को अपनी सन्तति (पुत्र पुत्री) पर गर्व है, क्योकि वे शत्रु हनन मे समर्थ हैं। अपनी प्रतिष्ठा के सम्बन्ध म वह स्वय कहती है कि सब पर शासन करती है और उसके पति भी उसका नाम आदर के साथ लेते हैं[1]। 111642

अपनी सन्तान के लिए प्राणो की बाजी लगाने की क्षमता रखने वाली माता का महत्त्व सहिता-साहित्य मे सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इन्द्र द्वारा क्षत-विक्षत शरीर वाला वृत्रासुर भूमि पर गिर पडता है, जिसे देखकर उसकी रक्षा मे आतुर उसकी माता दानु उसके शरीर पर लेट जाती है, जिससे पुत्र की रक्षा हो सके[2]। ऋक्सहिता[3] मे माता की प्रतिष्ठा मे उषा के व्याज से माता-पिता की उपयोगिता वर्णित करते हुए कहा गया है कि—"वह उषा पृथिवी, आकाशरूपी माता-पिता की गोद को भरती हुई सर्वत्र फैलती है"। ऋक्सहिता (६।५५।५) मे रात्रि को मातृ-शब्द से व्यवहृत किया गया है, क्योकि वह माता को गोद के समान विश्रामस्थली है।

अथर्वसहिता[4] मे वेदमाता को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—"हे मात! मेरी स्तुति से प्रसन्न होकर आप मुझे आयु, प्राण, सन्तान, पशु, कीर्त्ति, धन, ज्ञान, बल के साथ ब्रह्मलोक की प्राप्ति करायें।

ऋक्सहिता[5] मे सिन्धु, सरस्वती और सरयू नदियो को जीवन-दायिनी माता कहा गया है।

---

१ मम पुत्रा शत्रुहरणो यो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि सञ्जया पत्यौ मे श्लोक उत्तम ॥ (ऋ० ८।१५९।३)

२ नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रेन्द्रो अस्या अव वधर्जभार।
उत्तरा सूरधर पुत्र आसीद्दानु शये सह वत्सा न धेनु ॥ (ऋ० १।३२।९)

३ व्यु प्रथते वितर वरीय ओभा पृणन्ती पित्रोरुपस्था। (ऋ० १।१२४।५)

४ स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ता पावमानी द्विजानाम्।
आयु प्राण प्रजा पशु कीर्ति द्रविण ब्रह्मवर्चस मह्य दत्वा ब्रह्मलोकम् ॥ (अथर्व० १९।७१।१)

५ देवीरापो मातर सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत। (ऋ० १०।६४।९)

सामवेदसंहिता में परमात्मा को माता-पिता की संज्ञा दी गयी है और उनसे सुख की याचना की गयी है[१]।

भगिनी (स्वसा)—

भाग्यशालिनी बहन को भगिनी कहा गया है। ऋक्संहिता (३।३१।२) के भाष्य में निरुक्तकार ने (३।६) "न जामये भगिन्यै" का प्रतिपादन किया है।

संहिताकाल से ही "स्वसृ" शब्द का प्रयोग भगिनी (बहन) के लिये हो रहा है। ऋक्संहिता[२] में अन्धकारयुक्त रात्रि को देवताओं की स्वसा कहा गया है। रात्रि को उषा की छोटी बहन के रूप में वर्णित किया गया है[३] कि रात्रि, उषा के लिये स्थान खाली करती है। पणि लोग देवदूती सरमा को अपनी स्वसा मानते हुए कहते हैं—"हे सरमा! भयभीत देवताओं द्वारा प्रेषित तुम हमारे पास आयी हो, तुम्हें हम गोधनरूपी सम्पत्ति का हिस्सा देते हैं, अब यहीं रहो[४]"।

रूपक के अन्तर्गत अंगुलियों को "स्वसा" कहा गया है[५]। इस रूपक में अंगुलियाँ-बहनों को एक साथ रहने वाली तथा गृहस्थ-पत्नियों के समान गतिशील कहा गया है। काम्यपतियों को प्राप्त करने वाली नारियों के साथ सादृश्य स्थापन का यह रूपक अत्यन्त ही हृदयग्राह्य है, जो संहिताकाल की स्वसा (बहन) की सामाजिक स्थिति को स्पष्ट करता है।

'सुष्ठु अस्यति' अर्थात् अपने मातृ-पितृ कुल में अच्छी तरह से स्वत्वभाव छोड़ने वाली। सु उपसर्ग एवं असु क्षेपणे के आगे "सावसे " सूत्र से ऋन् प्रत्यय द्वारा यह शब्द बनता है।

"स्वसा" का भाई के साथ पवित्र एवं घनिष्ठ सम्बन्ध था। पिता की मृत्यु या असहाय्य अवस्था में अपनी बहन की सम्पूर्ण व्यवस्था भाई करता था। अपने पालक

---

१ त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधाते सुम्नमीमहे। (साम० ३०४।२।१।३)

२ सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा। (ऋ० २।३२।६)

३ स्वसा स्वस्रे ज्यायस्यै योनिमारैगपैत्यस्याः प्रतिचक्ष्येव।
व्युच्छन्ती रश्मिभिः सूर्यस्याञ्ज्यङ्क्ते समनगा इव व्राः ॥ (ऋ० १।१२४।८)

४. एवा च त्वं सरम आजगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम ॥ (ऋ० १०।१०८।९)

५ (क) सनात्सनीला अवनीरवाता व्रता रक्षन्ते अमृताः सहोभिः।
पुरू सहस्रा जनयो न पत्नीर्दुवस्यन्ति स्वसारो अह्रयाणम् ॥ (ऋ० १।६२।१०)
(ख) उप प्रजिन्वन्नुशतीरुशन्तं पतिं न नित्यं जनयः सनीलाः।
स्वसारः श्यावीमरुषीमजुष्रञ्चित्रमुच्छन्तीमुषसं न गावः ॥ (ऋ० १।७१।१)

भाई से द्वेष करने वाली बहन को अत्यन्त हीन दृष्टि से देखा जाता था। ऋक्-संहिता[1] मे भाई से द्वेष करने वाली बहन की तुलना अपने पति से अनुराग न करने वाली पत्नी एव यज्ञाग्नि से घृणा करने वाले अधम अपराधी व्यक्ति के पतन के साथ की गयी है।

बिना भाई वाली बहन का विवाह बडी कठिनाई से होता था, क्योंकि उनके चरित्र पर सन्देह बना रहता था। इस बात को स्पष्ट करते हुए ऋक्संहिता[2] मे बिना भाई वाली बहन की तुलना पश्चिम दिशा की ओर अग्रसर होने वाली उषा से की गयी है। यहाँ पश्चिम को हेय दृष्टि से देखा गया है, क्योकि वहाँ उदीयमान पूर्वदिशा का भास्कर भी पराभूत होकर डूब जाता है। निम्नगा (नदी) की तरह सरित्स्वसा भी अपनी स्वच्छन्द प्रवृत्ति के कारण नीचगामिनी हो सकती है, क्योंकि कहा गया है—"यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री सयुज्यते तादृग्गुणा सा अपि भवति समुद्रेणेव निम्नगा"।

ऋक्संहिता[3] मे सरस्वती को सप्तस्वसा (सात बहनो वाली) कहा गया है।

स्वसा-जार—

इस प्रकार "स्वसा" शब्द का प्रयोग संहिता के अनेक स्थलो मे हम पाते हैं। ऋ० २।३२।६—"देवतामसि स्वसा", ६।५५।४—"स्वसुर्यो जार", ६।५५।५—"स्वसुर्जार", १०।१०८।९—"स्वसार त्वा"।

"स्वसुर्जार", "स्वसुर्यो जार" आदि संहितामन्त्रो मे "स्वसृ" शब्द के साथ आये "जार" शब्द के कारण उस काल पर आपत्ति करते हैं। लगता है उन्हे इस बात का ज्ञान ही नही है कि "जार" शब्द उस समय बुरे अर्थ मे प्रयुक्त नही था। ऋक्-संहिता १।६६।८, १।११७।१८, १।१३४।३, १।१५२।४, ९।३२।५ आदि को देखने से इस बात की पुष्टि होती है कि "जार" शब्द उस समय किसी भी प्रेमी के लिये प्रयुक्त था, जैसे—"अबोधि जार-उषसाम्" (ऋ० ७।९।१), (ऋ० ७।१०।१) से स्पष्ट है कि यहाँ जार-शब्द अग्निदेव के लिये प्रयुक्त है, जो शास्त्रीय प्रयोग माना जाता है। इसके अतिरिक्त ऋक्संहिता (६।५५।४ ५) मे प्रयुक्त जार-शब्द क्रमश उषा के स्वामी पूषा (सूर्य) तथा रात्रि के स्वामी पूषा के अर्थ मे आया है।

---

१ अभ्रातरो न योषणो व्यन्त पतिरिपो न जनयो दुरे वा.।
पापास सन्तो अनृता असत्या इद पदमजनता गभीरम्॥ (ऋ० ४।५।५)

२. अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्स॥ (ऋ० १।१२४।७)

३ उत न. प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा। (ऋ० ६।६१।१०)

जामि—

"जामी" या "जामि" शब्द का प्रयोग संहिता-काल में बहन (स्वसा) के लिये होता था, जिसका मौलिक अर्थ है—रक्त से सम्बन्ध रखने वाली। जामि शब्द कभी कभी स्वसृ का विशेषण बनकर भी प्रयुक्त हुआ है और कभी सीधे बहन के लिये भी इसका प्रयोग किया गया है।

ऋक् संहिता (१।६५।४)—"जामि सिन्धूना भ्रातेव", (३।३१।२)—"यत्र जामय कृण्वन्नजामि" आदि उद्धरणों से स्पष्ट है कि उस समय "जामि" शब्द बहन के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

भाई बहन के सम्बन्ध में ऋक्संहिता (१०।१०) का एक पूरा सूक्त ही है, जिसमें यम यमी नामक भाई बहन पाणिग्रहण पर अपने विचार व्यक्त करते हैं। वस्तुत यह संवाद सृष्टि विषयक पौराणिक वृत्तान्त है, जिसका गूढार्थ न समझने के कारण कुछ लोग उस समय के भाई-बहन के यौन-सम्बन्ध पर अपनी सम्मति व्यक्त करते हैं। यदि ध्यान दिया जाये तो इस सूक्त में भाई बहन के अनुचित सम्बन्ध की घोर निन्दा की गयी है।

यमी जब अपने भाई से विवाह-सम्बन्धी चर्चा करती है, तो यम ऋक् संहिता[1] में स्पष्ट कहता है—"हे यमी! तुम मेरी सहोदरा हो, हमारा अभीष्ट यह नहीं है। स्वर्गलोक के रक्षक देवगण सब देखते हुए विचरण करते हैं"। अन्त में क्रुद्ध होकर यम अपनी बहन को अपने पास से चले जाने का आदेश देता है[2]।

श्वश्रू (सास)—

वैदिक संहिताओं में "श्वश्रू" शब्द का प्रयोग, विशेप रूप से ऋग्वेद के कई स्थानों पर हुआ है। "श्वश्रू" शब्द की तुलना में "श्वसुर" शब्द की उस समय व्यापकता कम थी। इस कथन की पुष्टि ऋक्संहिता (१०।८५।४६) तथा अथर्व संहिता (१४।२।२६) के इस प्रकरण से होती है, जिसमें पति की माता एवं पत्नी की माता के लिये "श्वश्रू" शब्द का समानार्थक प्रयोग किया गया है। रही बात "श्वसुर" शब्द की, इसका प्रयोग पति के पिता के अर्थ में तो होता था, परन्तु पत्नी के पिता के अर्थ में

---

१ न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन्॥ (ऋ० १०।२)

२ न वा उ ते तन्वा तन्वं स पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्॥ (ऋ० १०।१२)

श्वसुर शब्द का प्रयोग नही मिलता, ऋक्संहिता (१०।२८।१[1], १०।८५।४६, १०।९५।४[2]), अथर्वसंहिता (८।६।२४), मैत्रायिणीसंहिता (२।४।२), काठकसंहिता (१२।१२)।

"श्वसुर" शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग ऋक्संहिता[3], अथर्वसंहिता[4], काठकसंहिता मे मिलता है, जिसका भाव श्वश्रू और श्वसुर दोनो के अर्थबोध के लिए है, न कि बहुपतित्व को व्यक्त करने के लिये। श्वसुर-शब्द के बहुवचनान्त प्रयोग को सम्मानसूचक माना जा सकता है। घर मे "श्वश्रू" की प्रधानता एव सम्मान था। नियन्त्रण के अभाव मे ही वधू (पुत्र-वधू) को घर का सम्पूर्ण कार्य चलाने का आशीर्वाद प्राप्त था (ऋ० १०।८५।४६)। सब कुछ होते हुए भी सास का सम्मान था और वह अपने अधिकार कर्तव्य का पूर्णतया कुशलता के साथ सचालन करती थी। अथर्वसंहिता[5] मे स्पष्ट सकेत करते हुए वधू से कहा गया है—"घर का कार्य चलाने वाले श्वशुर-सास के लिये सुखकारी होती हुई घर मे प्रवेश करो"।

सास के साथ वधुवो के विनम्र व्यवहार की चर्चा काठकसंहिता (३१।१) मे की गयी है। अथर्वसंहिता (८।६।२४) मे सास ससुर के प्रति व्यक्त किया गया सम्मान बडा ही हृदयग्राही और शिक्षाप्रद है।

ऋक्संहिता[6] मे एक जूए (द्यूत-क्रीडा) के व्यसनी की भावनाओ से स्पष्ट होता है कि उस समय समाज मे श्वश्रू (सास) का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था। जुआरी अपने कार्य पर असन्तोष प्रकट करता हुआ कहता है कि "इस अक्ष-क्रीडा (जूए) के कारण मेरी सास भी मुझे कोसती है, मुझे अब कोई एक फूटी कौडी भी उधार नही देता"। कितना पश्चात्ताप है इस जुआरी को अपने कुकृत्य पर और कितना भय है उसे अपनी सास का, क्योकि इस जुआरी को अपने पास कोई बैठने की अनुमति नही देता।

ननद (ननान्दृ)—

संहिताओ मे ऋक्संहिता[7] मे केवल एक बार ही "ननान्दृ" शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसमे सास, ससुर, देवर आदि के साथ ननद को भी अपने प्रेम-बन्धनो मे

१ विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वसुरो न जगाम। (ऋ० १०।२८।१)

२ सा वसु दधती श्वसुराय वय उषो यदि वष्टचन्ति गृहात्। (ऋ० १०।९५।४)

३ को दम्पती समनसा वि युयोदध यदग्नि श्वशुरेषु दीदयत्। (ऋ० १०।९५।१२)

४ स्योना भव श्वशुरेभ्य स्योना पत्ये गृहेभ्य। (अ० १४।२।२७)

५ सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणा सशेवा पत्ये श्वशुराय शभू।
स्योना श्वश्र्वै प्रगृहान् विशेमान्॥ (अ० १४।२।२६)

६ द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाह विन्दामि कितवस्य भोगम्॥ (ऋ० १०।३४।३)

७ ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु। (ऋ० १०।८५।४६)

बांधने की बात कही गयी है। सायण के अनुसार "ननान्दृ" शब्द का प्रयोग पति की बहन के अर्थ मे हुआ है, जिस पर नियन्त्रण (शासन) करने की बात कही गयी है। परवर्ती ब्राह्मण-ग्रन्थ (ऐतरेय ८।२२) से भी इस बात की पुष्टि होती है कि पति की अविवाहिता बहन को "ननान्दृ" कहा जाता था।

वैदिक-संहिताओ मे ननान्दृ (ननद) शब्द का इतना कम प्रयोग अवश्य ही आश्चर्यजनक है। लगता है कि उस समय ननद का व्यवहार घर मे आनेवाली नवीन वधू के प्रति उदार नही था। यही कारण है कि ननद का प्रेमाधिकार के माध्यम से शासन करने का आशीर्वाद वधू को दिया जाता था।

अमरकोशकार ने द्वितीयकाण्ड नृ-वर्ग मे "ननन्दृ" या "ननान्दृ" शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—"न नन्दति सेवयापि न तुष्यति = ननान्दृ"। न + नन्द + ऋन् से निष्पन्न ननन्दृ (ननद) शब्द का प्रयोग "ननन्दा तु स्वसा पत्यु." के अर्थ मे आज भी होता है।

भ्रातृजाया (भाभी)—

ऋक्संहिता[1] मे देवर (पति का छोटा भाई) के अन्य कार्यो के अतिरिक्त एक ऐसे कार्य का उल्लेख है, जिसे प्राय देवर ही करता था। अपने बड़े भाई की मृत्यु के पश्चात् एक शोकसन्तप्त भ्रातृजाया (भाभी) को सान्त्वना देता हुआ देवर कहता है—"तुम्हारा यह पति अब मृत्यु को प्राप्त कर चुका है, यहाँ अब बैठना निरर्थक है। अपनी सन्तति (पुत्र-पुत्रियो) की एव घर की स्थिति का विचार करती हुई उठो। स्त्री-कर्तव्यो का पालन आप इसके साथ कर चुकी हैं और अब यह भी जान चुकी हो कि तुम्हारे मृत-पति लौटने वाले नही है, उठो और घर चलो"।

पति की मृत्यु के पश्चात् द्वितीय विवाह (पुनर्विवाह) की ध्वनि भी मिलती है। अथर्वसंहिता[2] मे पुनर्विवाह करनेवाले दम्पति को पञ्चोदन अज (अपरिमित यज्ञ) का भागी माना गया है। अथर्वसंहिता[3] मे पञ्चोदन-अज के बारे मे कहा गया है।

---

१ उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोक गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेद पत्युर्जनित्वमभि स बभूथ ॥ (ऋ० १०।१८।८)

२ या पूर्व पति वित्त्वाथान्य विन्दते परम्।
पञ्चौदन च तावज ददातो न वि योषत ॥ (अ० ९।५।२७)

३ अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौ पृष्ठम्।
अन्तरिक्ष मध्य दिश पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥ (अ० ९।५।२०)
सत्य च ऋत चक्षुषी विश्व सत्य श्रद्धा प्राणो विराट् शिरः।
एष वा अपरिमितो यज्ञो यदज. पञ्चौदन ॥ (अ० ९।५।२१)

मन्त्र (अथर्वसंहिता ९।५।२७) मे आये "अन्य" तथा "अपर" शब्द पति-बोधक हैं, जिनका सङ्केत किसी अन्य से नही देवर से ही है। सम्भवत. इसी कारण "देवरो द्वितीयो वर:" की बात प्रचलित हुई होगी।

सती—

विधवा (पतिहीना) नारी का उल्लेख ऋक्संहिता (४।१८।१, १०।४०।२, १०।४०।८) मे हुआ है। पति की मृत्यु के पश्चात् कभी-कभी विधवा स्त्री स्वय अग्नि मे जल जाती थी, ऐसा अथर्वसंहिता (१८।३।१) से प्रतिभासित होता है। दूसरी ओर ऋक्संहिता मे इस सती-प्रथा का कही उल्लेख नही, अपितु ऋक्संहिता (१०।१८।७–८) से प्रत्यक्षत पति के छोटे भाई से विवाह करने का सङ्केत मिलता है। जो भी हो, वैदिक-संहिताओ म सती प्रथा का अपरिहार्य रूप कही न था, इस कथन को दावे से कहा जा सकता है।

नारी के सम्बन्धवाची अन्य शब्द—

मातृष्वसा (मासी या मौसी), पितृष्वसा (फूआ या बुआ), पितृव्य-पत्नी (चाची), मातुली मातुलानी (मामी), साली, साले की पत्नी आदि शब्दो का वैदिक-संहिताओं मे प्रत्यक्षरूप मे प्रयोग दृष्टिगोचर नही होता।

पुरुषवाची मातुर्-भ्रात्र (मामा) शब्द बडा ही आह्लादित करने वाला हो जाता है, विशेप रूप से जब आजकल का पुरुषवर्ग आपसी परिहास मे साले, साला या सार के रूप मे इसका प्रयोग करता है।

मैत्रायिणीसंहिता (१।६।१२) मे केवल एक बार "मातुर् भ्रात्र" शब्द मामा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इसी से मामी (मातुली) भी गतार्थ हो जायेगी, क्योंकि संहिताकाल मे नारी के विना नर पूरा नारायण नही बन सकता था।

"स्याल" शब्द से साले की पत्नी का भी अनुमान किया जा सकता है। यद्यपि स्याल-शब्द ऋक्संहिता (१।१०९।२) म एक बार ही प्रयुक्त हुआ है, जब वह अपनी बहन के विवाह का उत्तरदायित्व वहन करने की वात करता है।

नारी के लिये प्रयुक्त कतिपय विशेषण

यमसू—

एक साथ दो (जुडवा) बच्चो को जन्म देने वाली नारी को "यमसू" कहा जाता था। "यम" शब्द यमजो (जुडवो) का द्योतक है, जिसका उल्लेख ऋक्संहिता (१।६६।४, २।३९।२, ३।९।३।३, ५।५७।४, ६।४९।२, १०।१३।२ आदि) में है। "यमो मिथुनौ" (काठकसंहिता १३।४) का तात्पर्य सम्भवत· विषमलैङ्गिक सन्तति से है। अथर्वसंहिता (३।२८) मे यमज-सन्तति को अशुभ माना गया है।

अमानुषी—

अप्सरा (देवाङ्गना) के अर्थबोध में अमानुषी विशेषण का प्रयोग (ऋ० १०।९५।८) हुआ है। यहाँ पुरूरवा मनुष्य होकर देवाङ्गनाओं की ओर गया और उर्वशी (पूर्वपत्नी) से अनुनय-विनय भी करता है कि वह (उर्वशी) पुनः घर लौट चले।

नर्तकी—

उषा की तुलना कार्यव्यस्त नर्तकी के साथ करते हुए ऋक्संहिता (१।९२।४) में कहा गया है कि "उषा नर्तकी के समान विविधरूपों को धारण करती है"। भारतीय सभ्यता में विविध रूपों से परपुरुष को आकृष्ट करने वाली नारी को नीची दृष्टि से देखा जाता है। समाज वराङ्गना (वेश्या) आदि की संज्ञा ऐसी नारियों को देता है।

गुहाचरन्ती—

मरुद्गण की चमकती हुई स्वर्णिम कटार की तुलना गुप्तरूप से मिलने वाली नारी से ऋक्संहिता (१।१६७।३) में की गयी है।

पुंश्चली—

कामातुरा होकर परपुरुषों के पीछे दौड़ने वाली नारी को पुंश्चली कहा गया है। अथर्वसंहिता (१५।२।१) तथा वाजसनेयिसंहिता (३०।२२) में ऐसी नारी का उल्लेख हुआ है। समाज में स्वतन्त्र जीवन पर कोई आपत्ति नहीं थी, परन्तु उच्छृङ्खलता को हेय माना जाता था।

हस्रा—

हँसने वाली नारी की तुलना "उषा" से करते हुए ऋक्-संहिता (१।१२४।७) में "हस्रा" शब्द का प्रयोग किया गया है। परपुरुष को आकृष्ट करने हेतु हँसना अपराध-कोटि में आता था।

सुवासा—

सुन्दर वस्त्र पहन कर धनसंग्रह हेतु अभिसरण करने वाली नारी की ओर सुवासा (ऋ० १।१२४।७) विशेषण का संकेत है। अपने पति-हेतु अच्छे वस्त्रों को धारण करने वाली नारियाँ तो समाज में श्रद्धा-भाजन मानी जाती थीं।

ऋक्-संहिता (१०।७१।४) में भी "सुवासा" शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसमें वाग्देवी सरस्वती (वाणी) की तुलना सुवासा (जाया) के साथ की गयी है।

साधारणी—

ऋक्संहिता (१।१६७।४) में नारी के लिये साधारणी शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसकी तुलना विद्युत् से की गयी है। तडित् के समान तड़क-भड़क में अपने

स्वरूप को दिखाने वाली नारी, पर-पुरुष का ऐसे आलिङ्गन कर लेती है, जैसे विद्युत् मरुद्गण (देवगण) का वरण करती है।

समनगा—

ऋक्संहिता (१।१२४।८) में "समनगा" शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका सामान्य अर्थ है—मनोनुकूल चलने वाली।

वध्रिमती—

ऋक्संहिता (१।११६।१३, १।११७।२४, ६।६२।७, १०।३९।७, १०।६५।१२) के अनुसार नपुंसक पति वाली एक स्त्री का वर्णन है, जो अश्विनीकुमारों की दया से पति के लिये पुरुषत्व प्राप्त करती है और उसे हिरण्यहस्त पुत्र की प्राप्ति भी होती है।

प्रवीता—

गर्भधारण करने वाली (गर्भिणी) के लिये प्रवीता शब्द का प्रयोग ऋक् संहिता (३।२९।३, ३।५५।५), वाजसनेयि-संहिता (२४।१४) तथा काठकसंहिता (३३।१, ३३।८) में हुआ है।

अतित्वरी (अतीतवरी)—

अतिकुलटा अर्थ का बोध कराने हेतु वाजसनेयिसंहिता (३०।१५) में अतित्वरी शब्द प्रयुक्त हुआ है।

अतिष्कद्वरी—

वाजसनेयिसंहिता (३०।१५) में अतिष्कद्वरी शब्द गर्भस्राव करने वाली नारी के अर्थ में आया है।

महानग्नी—

आचार-भ्रष्टा नारी के लिये अथर्वसंहिता (१४।१।३६, २०।१३६।५) में महानग्नी शब्द का प्रयोग है। परवर्ती वाङ्मय में महानग्नी शब्द वेश्या का पर्याय बन गया।

प्रफर्वी—

संहिताओं में स्थूल-विलासिनी नारी के लिये "प्रफर्वी" शब्द का प्रयोग मिलता है। ऋक्संहिता (१०।८५।२२), अथर्वसंहिता (५।२२।७), तैत्तिरीयसंहिता (४।२।५।६), मैत्रायिणीसंहिता (२।७।१२), काठकसंहिता (१६।१२), वाजसनेयि-संहिता (१२।७१) में 'प्रफर्वी' शब्द आया है, जिसका अर्थ विलासी जीवन व्यतीत करने वाली स्त्री है।

प्रफर्वी-शब्द व्यभिचारिणी कन्या के लिए भी ऋक्संहिता (१०।८५।२२) मे प्रयुक्त हुआ है।

रजयित्री—

रति-कार्य मे निपुण नारी के लिए यजु संहिता मे रजयित्री या रजयित्रीम् शब्द का उल्लेख है। रजयित्री शब्द का अर्थ कपड़ो को रगने वाली स्त्री भी है।

दास-पत्नी—

ऋक्-संहिता मे (४।२८।४)—"विशोदासी", (४।३२।१०)—"पुरोदासी" रूप मिलते हैं। "अपो अजयत दास-पत्नी" का प्रयोग विशेषणरूप मे (ऋ० ५।३०।५) आया है। दास-पत्नी शब्द संज्ञा के रूप मे (ऋ० १।३२।११) आया है, वृत्रासुर की पत्नियो के अर्थ बोध के लिये। अथर्वसंहिता (१२।३।१३, १२।४।९) मे घरेलू काम करने वाली लडकी के लिये इस शब्द का प्रयोग उपलब्ध है। तैत्तिरीयसंहिता (७।५।१०।१) मे "गवा सत्र" मे पैर पटककर नाचने वाली कन्याओं को दासी कहा गया है।

विदलकारी—

बास चीरने वाली तथा टोकरी बनाने वाली नारियो के लिये "विदलकारी" शब्द का प्रयोग वाजसनेयिसंहिता (३०।८) मे हुआ है।

सु-शिल्पा—

ऋक्संहिता (९।५।६) मे "सुशिल्पा" का प्रयोग हुआ है।

सूपस्था—

ऋक्संहिता (९।६।२१) मे "सूपस्था" का प्रयोग मिलता है।

संवयन्ती—

यजु संहिता (२०।४१) मे बताया गया है कि उषा रूपी नारी अपने पति के लिये सुन्दर रङ्गो वाला कपडा बुनती है। इस रूपक का उद्देश्य है कि जिस प्रकार उषा अपने पतिदेव के लिए विविध किरणों के ताना-बाना से आकाश मे कपड़ा बुनती है, उसी प्रकार पतिव्रता नारी भी अपने पतिदेव के लिए सुन्दर रङ्गो वाले कपड़ो का निर्माण कर उन्हे अपने पति को अर्पित करे। उपर्युक्त उल्लिखित मन्त्र के—"पेशसा तत तन्तु संवयन्ती" अंश से स्पष्ट ध्वनित होता है कि कपडा बुनना उस समय गृहस्थ-नारी का एक कर्तव्य था।

वयन्ती शब्द ऋक्संहिता (५।४७।६) मे—"वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ती" के रूप मे प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ स्पष्ट है कि माताएँ अपने पुत्र के लिए कपड़ा बुनती है।

सुवासा—

ऋक्संहिता (१।१२४।७) मे—"जायेव पत्य उशती सुवासा" कहा गया है, जिसका अर्थ है—उत्तम वस्त्र पहनने वाली नारी।

पेशस्करी—

यजु संहिता (३०।९) मे पेशस्करी शब्द आया है, जिसका अर्थ है कपड़े पर नक्काशी का काम करने वाली नारी। पेशस् शब्द का संहिताओं (ऋ० २।३।६, ४।३६।७, ७।४२।१ तथा यजु० १९।८२, ८९, २०।४०) मे प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ नक्काशी किया हुआ वस्त्र है।

तुस (झालर, गोट, किनारी) का प्रयोग तैत्तिरीय-संहिता (१।८।१।१, २।४।९।१, ४।१।१।३) तथा काठक-संहिता (१३।१) मे आया है।

उपलप्रक्षिणी—

ऋक्संहिता (९।११२।३) मे "उपलप्रक्षिणी" शब्द आया है, जिसका अर्थ यास्क ने सत्तू बनाने वाली नारी (नि० ६।५) किया है। धान्य कूटने वाली ओखली मे धान्य भरने वाली नारी भी गतार्थ है।

चतुष्कपर्दा—

ऋक्संहिता (१०।११४।३) मे एक युवती को चतुष्कपर्दा कहा गया है—"चतुष्कपर्दा युवति सुपेशा"।

गृहपत्नी—

गृह-स्वामिनी के अर्थबोध के लिए ऋक्संहिता (१०।८५।२६), अथर्वसंहिता (१।२४।६) मे गृहपत्नी शब्द का प्रयोग हुआ है।

भ्रूण-हनि—

"भ्रूण हननमेनो नात्येति" मैत्रायिणी-संहिता (४।१।९) मे कहा गया है। भ्रूण-हत्या को महापाप माना जाता था। शिशुवों को फेंके जाने वाले के अतिरिक्त भ्रूण-हत्या (गर्भपात या बाल-हत्या) के संकेत ऋक्संहिता (७।२९।१), अथर्वसंहिता (६।११२।३, ६।११३।२) मे उपलब्ध हैं।

परिशीलन—

वैदिक संहिताओं मे प्रयुक्त नारी, नारि शब्दो की व्युत्पत्ति, नारी-नारि विभेद-कारण, नारी के पर्यायवाची मेना, योषा, जाया, ग्ना आदि शब्दो की व्युत्पत्ति एव रूप-सिद्धि, नारी शब्द की प्रवृत्ति अवस्था, नारी के कन्या, दुहिता, गौरी आदि विविध रूप, कन्या का जन्म एव शिक्षा, वधू—पत्नी, सपत्नी, माता—माता के पर्याय, माता

संस्कार-शब्द का विभिन्नार्थों में प्रयोग—

जन्म से मृत्युपर्यन्त चलने वाले, पृथ्वी को स्वर्ग से जोडने वाले इन संस्कारों पर ही भारतीय जन जीवन की आधारशिला स्थित है। सस्कार और सस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण सस्कारो की उपादेयता स्वयमेव सिद्ध है। "सस्कार" हमारे दाम्पत्य-जीवन के उत्तरदायित्व के प्रतीक है। संस्कारविहीन दाम्पत्य-जीवन अपने सदाचार से च्युत होने के कारण परमपद प्राप्त करने का अधिकारी नही होता। भारतीय जनो की मान्यता है कि मानव अपने जीवन काल मे जो कर्म करता है, उसकी अमिट छाप उसके चित्त पर अंकित रहती है और उसी के आधार पर वह जन्मान्तर मे सुख सुविधाओं का उपभोग करता है। मीमासादर्शन का तो सिद्धान्त ही है—"कर्मबीज सस्कारा", अर्थात् सस्कार ही कर्म के बीज हैं और इन्ही के कारण सृष्टि का सृजन होता है। कहा भी गया है—"तन्निमित्ता सृष्टि"। मीमासको की मान्यता है कि यज्ञ के अग पुरोडाश की शुद्धि (सस्कार) से ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

न्यायशास्त्र के मर्मज्ञ नैयायिक भावो को अभिव्यक्त करने वाली आत्म-व्यञ्जक शक्ति को ही सस्कार कहकर पुकारते हैं। वैशेषिक-दर्शन के चौबीस गुणो की गणना के प्रसग मे "सस्कार" को अन्तिम गुण माना गया है[1]। सस्कार के वेग, भावना तथा स्थितिस्थापक तीन भेदो की विवेचना करते हुए अन्तिम भेद मे स्पष्ट कहा गया है—"वस्तु को पुन पूर्वावस्था मे लाने का नाम ही स्थितिस्थापक सस्कार है[2]"। सस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को स्मरण कहा गया है[3]। मनुस्मृति (२।२६) म धार्मिक विधि-विधान को सस्कार कहा गया है, जिसके कारण मानव लोक एव परलोक मे पवित्र जीवन यापन करने मे सक्षम होता है[4]। इसके अतिरिक्त परवर्ती सस्कृत साहित्य मे "सस्कार" शब्द का प्रयोग हमारे कवियो ने विभिन्नार्थक भावो के लिए किया है। कविकुलगुरु कालिदास ने तो अपने महाकाव्य रघुवश (३।३५) म 'निसर्गसस्कारविनोत", रघुवश (३।१८) मे "प्रयुक्तसस्कार इवाधिक बभौ" एव कुमारसम्भव महाकाव्य (१।२८) मे "सस्कारवत्येव गिरा मनीषी तथा च पूतश्च विभूषितश्च" कहकर सस्कार शब्द मे सौष्ठव ही ला दिया है। वस्तुत सस्कार शब्द शुद्धि, सस्करण, परिष्करण आदि पवित्र भावनाओं का प्रतीक है।

---

१. सस्काराश्चतुर्विंशतिगुणा।—तर्कसग्रह।

२. अन्यथाकृतस्य पुनस्तदवस्थापादक स्थितिस्थापक —तर्कसग्रह।

३ सस्कारमात्रजन्य ज्ञान स्मृति —तर्कसग्रह।

४ कार्य शरीरसस्कार पावन. प्रेत्य चेह च—मनु० २।२६।

आर्षग्रन्थो म सस्कारो की बडी महिमा प्रतिपादित की गई है। विना कारण के कार्य की उत्पत्ति न मानने वाले वैदिक ऋषियो की मान्यता है कि मानव इन सस्कारो की सहायता से अपने जीवन को उसी प्रकार अच्छ से अच्छा बना सकता है, जिस प्रकार कुशल शिल्पी अपनी कला के माध्यम से उत्तम से उत्तम चित्र बना लेता है। सस्काररूपी इन वैदिक क्रियाओ मे यह अद्भुत शक्ति है कि वे स्त्री या पुरुष किसी को दिव्य गुणो से सम्पन्न बनाने मे समर्थ हैं।

संस्कारभेद और उनकी सख्या—

सस्कारो के भेद एव उनकी सख्या के सम्बन्ध मे गृह्यसूत्रो म भी मतैक्य नही है। सस्कारो की सख्या ११ स लेकर ४० तक गिनाई गई है—

आश्वलायन-गृह्यसूत्र	पारस्कर-गृह्यसूत्र	बौधायन-गृह्यसूत्र
१—विवाह	१—विवाह	१—विवाह
२—गर्भाधान	२—गर्भाधान	२—गर्भाधान
३—पुसवन	३—पुसवन	३—पुसवन
४—सीमन्तोन्नयन	४—सीमन्तोन्नयन	४—सीमन्तोन्नयन
५—जातकर्म	५—जातकर्म	५—जातकर्म
६—नामकरण	६—नामकरण	६—नामकरण
७—चूडाकर्म	७—निष्क्रमण	७—उपनिष्क्रमण
८—अन्नप्राशन	८—अन्नप्राशन	८—अन्नप्राशन
९—उपनयन	९—चूडाकर्म	९—चूडाकर्म
१०—समावर्तन	१०—उपनयन	१०—कर्णवेध
११—अन्त्येष्टि	११—केशान्त	११—उपनयन
	१२—समावर्तन	१२—समावर्तन
	१३—अन्त्येष्टि	१३—पितृमेध

वाराह-गृह्यसूत्र

१—जातकर्म	८—गोदान
२—नामकरण	९—समावर्तन
३—दन्तोद्गमन	१०—विवाह
४—अन्नप्राशन	११—गर्भाधान
५—चूडाकर्म	१२—पुसवन
६—उपनयन	१३—सीमन्तोन्नयन
७—वेद-व्रतानि	

वैखानस-गृह्यसूत्र

१—ऋतु सङ्गमन
२—गर्भाधान
३—सीमन्त
४—विष्णुबलि
५—जातकर्म
६—उत्थान
७—नामकरण
८—अन्नप्राशन
९—प्रवसागमन
१०—पिण्डवर्धन
११—चौलकर्म
१२—उपनयन
१३—पारायण
१४—व्रतबन्धविसर्ग
१५—उपाकर्म
१६—उत्सर्जन
१७—समावर्तन
१८—पाणिग्रहण

गौतम-धर्मसूत्र

१—गर्भाधान
२—पुंसवन
३—सीमन्तोन्नयन
४—जातकर्म
५—नामकरण
६—अन्नप्राशन
७—चौल
८—उपनयन
९-१२—चार-वेदव्रत
१३—स्नान
१४—सहधर्मचारिणी-संयोग
१५-१९—पंच महायज्ञ
२०-२६—अष्टक, पार्वण, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, मैत्री, आश्वयुजी इति सप्त पाकयज्ञसंस्कारा: ।
२७-३३—अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रहायणेष्टि, निरूढ पशुबन्ध, सौत्रामणि इति सप्त हविर्यज्ञाः ।
३४-४०—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम इति सप्त सोमयज्ञ-संस्था. ।

षोडश-संस्कार—

संस्कारो की संख्या के सम्बन्ध मे गृह्यसूत्रो की तरह स्मृतियो मे भी भेद स्पष्ट है। भगवान् मनु ने गर्भाधान से मृत्युपर्यन्त केवल १३ ही संस्कार माने है। याज्ञवल्क्य ने केशान्त को अमान्य करते हुए मनुस्मृति का ही समर्थन किया है। महर्षि अङ्गिरा ने अपनी स्मृति मे २५ संस्कारो का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार संस्कारो की संख्या के विषय मे विभिन्नता होते हुए भी इस समय भारतीय समाज मे व्यास स्मृति द्वारा प्रतिपादित सोलह संस्कारो का ही प्रचलन है। मीमासादर्शन ने भी इन्ही १६ संस्कारो को स्वीकार करते हुए उन्हे दो भागो मे विभक्त कर दिया है। गणनाक्रम से प्रारम्भिक ८ संस्कार प्रवृत्ति-मार्ग की ओर अग्रसर करने वाले एव शेष आठ निवृत्ति-

बोधक माने गये हे। इन सस्कारों का लक्ष्य पोडश-कलापुष्ट चन्द्रदेव की तरह मानव को बनाना प्रतीत होता है, क्योंकि इसके बिना जीव ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति नही कर सकता। सस्कारो का लक्ष्य निर्धारित करते हुए भगवान् मनु ने कहा है—"ब्राह्मीय क्रियते तनु" अर्थात् सस्कारो का लक्ष्य जीव-शरीर को ब्रह्मत्वलाभ के योग्य बनाना है। ब्रह्मत्वप्राप्ति तभी सम्भव है जब जीव निवृत्ति मार्ग की पराकाष्ठा म पहुँच कर "त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशु" को चरितार्थ करने मे सक्षम होता है।

आर्यसमाज के सस्थापक, वैदिक सहिताओ के समर्थक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी अपनी "सस्कारविधि" मे सोलह सस्कारो का समावेश किया है। इन्ही "सोलह सस्कारो" को स्वीकृति प्रदान करते हुए पण्डित भीमसेन शर्मा ने भी अपनी रचना "षोडश सस्कारविधि" को सम्पन्न किया है।

भारतीय समाज मे इस समय मान्यताप्राप्त सोलह सस्कारो की गणना निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है—

जन्म के पूर्व के तीन संस्कार—

१–गर्भाधान, २–पुसवन, ३–सीमन्तोन्नयन।

बाल्यावस्था के छ. संस्कार—

१–जातकर्म, २–नामकरण, ३–निष्क्रमण, ४–अन्नप्राशन, ५–चूडाकर्म, ६–कर्णवेध।

विद्याध्ययन से सम्बद्ध तीन संस्कार—

१–उपनयन, २–वेदारम्भ, ३–समावर्तन।

आश्रमो में प्रवेश-हेतु तीन संस्कार—

१—विवाह, २—वानप्रस्थ, ३—सन्यास।

मृत्यु के उपरान्त एक संस्कार—

१—अन्त्येष्टि।

संस्कारो का संक्षिप्त परिचय

जन्म के पूर्व के संस्कार—

(१) गर्भाधान—

वेदोक्त पुण्यकर्मो द्वारा शरीर का सस्कार इन सस्कारो द्वारा होना चाहिए, इसका प्रतिपादन भगवान् मनु ने स्मृति मे किया है[१]। गर्भाधान-संस्कार से बीज

१ वैदिकै कर्मभि पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्य शरीरसस्कार पावन प्रेत्य चेह च ॥ (मनु० २।२६)

तथा गर्भसम्बन्धी सभी दोष नष्ट हो जाते हैं और क्षेत्ररूपी स्त्री का संस्कार करना ही इसका मुख्य फल होता है। अन्य सभी संस्कार प्रजननरूपी इस गर्भाधान-संस्कार पर ही निर्भर हैं, इसलिये इस संस्कार की नियमितता का बड़ा ही महत्त्व है। पूर्वमीमांसा[1] में गर्भाधान संस्कार पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है--"जिस कार्य द्वारा पुरुष स्त्री के गर्भ में अपना बीज स्थापित करता है, उसे गर्भाधान कहा गया है"। आचार्य शौनक ने स्त्री का प्राधान्य व्यक्त करते हुए कहा है[2]—"स्त्री अपने पति द्वारा प्रदत्त शुक्र को जिस कार्य में धारण करती है, उसे गर्भालम्बन (गर्भाधान) कहा जाता है।" इस संस्कार को सम्पन्न करने हेतु सुश्रुत-संहिता में कन्या की अवस्था तेरह एवं पुरुष की अवस्था कम से कम पच्चीस वर्ष निर्धारित की गयी है। शास्त्रानुसार गर्भाधान-संस्कार सम्पन्न करते समय शुभ-मुहूर्त के नक्षत्र और तिथि का ध्यान रखना आवश्यक है, क्योंकि इसका प्रभाव सन्तति पर पड़ता है। यही कारण है कि मनुस्मृति में अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा और रिक्ता तिथि को छोड़ने के लिए कहा गया है, अर्थात् इन तिथियों वाले दिनों में यह संस्कार नहीं करना चाहिए।

संहिता-काल—

यद्यपि वैदिक-संहिताओं में कहीं भी संस्कारों का विधि-पूर्वक वर्णन उपलब्ध नहीं होता, तथापि उस समय के क्रियमाण गृह-कर्मों से प्रमुख संस्कारों पर प्रकाश पड़ता है। वैदिक-संहिताओं के ऋषियों की स्पष्ट मान्यता है कि सन्तानोत्पत्ति (गर्भाधान) के समय स्त्री और पुरुष के चित्त में जिस प्रकार के भावों का उदय होगा, सन्तान भी उन्हीं भावों के अनुकूल होगी। कहने का तात्पर्य है कि यदि माता-पिता उस समय काम-वासना के वशीभूत होंगे, तो सन्तति भी कामुक होगी और वीर-पुरुषों या वीरता की अधिष्ठात्री किसी देवी का स्मरण करने पर वीर सन्तति एवं धार्मिक भाव रखने से धार्मिक पुत्र या पुत्री होंगे। गर्भाधान करते समय जो पुरुष अपने को प्रजापति का अंश तथा स्त्री अपने को साक्षात् वसुमती का रूप समझते हैं, उनकी सन्तान निःसन्देह दिव्य गुणों वाली होती है। इसी आशय की पुष्टि ऋग्वेद-संहिता (अध्याय ८, २ एवं ४२) से भी होती है, जिसमें कहा गया है—"पोषणकारी सूर्य और रुद्र योनियों की कल्पना करें। शक्तिशाली विष्णु गर्भग्रहण करने का स्थान प्रदान

---

१. गर्भं सन्धार्यते येन कर्मणा तद् गर्भाधानमित्यनुगतार्थं कर्मनामधेयम्। (पूर्वमीमांसा–१।४।२)

२. निषिक्तो यत्प्रयोगेण गर्भः सन्धार्यते स्त्रिया। (आचार्य शौनक)

कर, देवशिल्पी त्वष्टा (विश्वकर्मा) रूप का मिश्रण करें, प्रजापति सिंचन एवं सृष्टिकर्ता गर्भ का संगठन करे[१]।

इस प्रकार की देव-भावनावाली अनेक भावनाएँ ऋग्वेद-संहिता की ऋचाओ मे हैं, जिनमे कहा गया है—"चन्द्रकला की देवी गर्भाधान करें, सरस्वती देवी गर्भाधान करें एव अश्विनीकुमार गर्भाधान करें, जिनके प्रभाव से सन्तति दीर्घायुष्य, विनयशील तथा सर्वगुण सम्पन्न होती है[२]"। सन्ततिहेतु स्त्री-पुरुष द्वारा की गयी प्रार्थनाओ (ऋ० ८।३५।१० तथा १।८९।९) से गर्भाधान सस्कार की अभिव्यक्ति होती है[३]। वैदिकसहिताओ मे पुत्र को "ऋणच्युत" कहा जाता था। ऋणमुक्ति मे आर्थिक ऋणमुक्ति की तरह हो पैतृक-ऋणमुक्ति भी अनिवार्य थी। इस पितृ-ऋण से मुक्ति पाने के लिए सन्तानोत्पत्ति आवश्यक मानी गयी थी, जिसकी पूर्ति गर्भाधान-सस्कार के विना असम्भव थी। इस तरह वैदिकसहिता काल को हम इन सस्कारो की विकास अवस्था कह सकते हैं।

ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण का सिद्धान्त वैदिक-संहिता-काल मे विकसित था। इस सम्बन्ध मे तैत्तिरीय-संहिता (६।३।१०।५) मे कहा गया है[४]। वैदिक प्राक्सूत्र साहित्य म स्त्री-पुरुष के सहवास के भी स्पष्ट उल्लेख है, जिनसे पता चलता है कि उस समय पुरुष अपनी पत्नी के पास जाता था, गर्भाधान-हेतु उसे आमन्त्रित करता था और देवताओ से प्रार्थना करता था कि उसकी पत्नी के गर्भ मे भ्रूण स्थापित हो[५]।

भाष्यकार सायण ने अथर्ववेद के चौदहवे काण्ड को भूमिका मे गर्भाधान-नामक इस सस्कार को चतुर्थी कर्मणि कहा है। इस सस्कार के विषय मे विवाह-काण्ड मे

---

१ आ पूषा भग सविता म ददातु रुद्र कल्पयतु ललामगुम्। ओ विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ (ऋक्संहिता)

२ गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजा ॥ (ऋ० १०।१८४।२)

३ "प्रजा च धत्त द्रविण च धत्तम्"। (ऋ० ८।३५।११)
"पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति" ॥ (ऋ० १।८९।९)

४ "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य' प्रजया पितृभ्य। एष वा अनृणो य पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वा स्यादिति"।
(तैत्तिरीयसहिता—६।३।१०।५)

५ ता पूषन् शिवतमामेरयस्व यस्या बीज मनुष्या वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुश न्त प्रहराम शेपम् ॥ (ऋ० १०।८५।३७)

अनेक मन्त्र दिये गये हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि यह संस्कार पाणिग्रहण के बाद शीघ्र ही सम्पन्न होता था। एक मन्त्र तो स्पष्ट संकेत करता है कि इस संस्कार हेतु नववधू वर द्वारा शयनकक्ष मे ले जायी जाती थी, जहाँ दोनों परस्पर नेत्रानन्द का लाभ उठाते थे[१]। अथर्ववेद (७।३७।१) मे वधू द्वारा अपने पति को गर्भाधान-संस्कार के पूर्व मनु-जात वस्त्र पहनाने का वर्णन है। वस्त्र-धारण करने के पश्चात् पुरुष अपनी नववधू को पलग पर आरूढ होने के लिये कहता है—"इस शय्या पर बैठो, पति के लिये सन्तान उत्पन्न करो, इन्द्राणी की तरह सुखपूर्वक प्रात- जागते समय उषा की प्रतीक्षा करो। प्राचीनकाल मे देवों ने भी अपनी देवांगनाओं के साथ आलिंगन किया था, इसलिए तुम भी मेरा आलिंगन करो"। अथर्वसंहिता (१४।२।७१) में पति अपनी पत्नी को सम्बोधित करते हुए कहता है—"मैं पुरुष हूँ, तुम स्त्री हो, मैं साम हूँ, तुम ऋचा हो, मै आकाश हूँ, तुम पृथिवी हो, हम दोनों इस तरह मिलकर जीवन-यापन करेंगे, अभीष्ट सन्तति उत्पन्न करेंगे"[२]। अथर्वसंहिता (५।२५।२) तथा (६।१७।१) मे पुरुष अपनी पत्नी को कहता है—"तुम उसी प्रकार गर्भ-धारण करो, जिस प्रकार पृथिवी मनुष्यों को धारण करती है"[३]। पति को सब प्रकार से आश्रय देनेवाला एवं पत्नी को मर्यादा मे रहनेवाली बताते हुए अथर्ववेद (६।८१।२) में कहा गया है।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि वैदिकसंहिता-काल मे गर्भाधान-संस्कार सम्पन्न होता था।

(२) पुंसवन—

वैदिक-संहिताओं मे "पुंसवन" नामक इस द्वितीय संस्कार को "प्राजापत्य-संस्कार' कहा गया है[४]। यह संस्कार पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा का द्योतक है, अर्थात् इसे पुत्र उपलब्धि हेतु विशेषरूप से करने का विधान है[५]। गर्भावस्था के तीसरे या

१ अक्ष्यौ नौ मधु संकाशे अनीकं नौ समञ्जनम्।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥ (अथर्वसंहिता)

२ अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै। (अथर्व० १४।२।७१)

३. यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनुसूतुं सवितवे ॥ (अथर्व० ५।२५।२ तथा ६।१७।१)

४ कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भं एतु ते। (अथर्व० ३।२३।५)

५ यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या।
त्वष्टा तमस्या आबध्नाद्यथा पुत्रं जनादिति ॥ (अथर्व० ६।८१।३)

चौथे मास के भीतर ही यह सस्कार करना उचित माना गया है। इस सस्कार का मुख्य उद्देश्य गर्भस्थ शिशु की रक्षा करना है।

मानवी गर्भ के विनष्ट होने के दो समय अतीव प्रबल होते है। पहला समय तो गर्भधारण के अनन्तर तीसरे मास और चौथे मास के बीच की अवधि है। दूसरा समय छठा मास और आठवे मास के बीच का माना गया है। यही मुख्य कारण है कि "पुसवन" नामक सस्कार प्रथम अवधि मे एव "सीमन्तोन्नयन" सस्कार गर्भ-रक्षा हेतु दूसरी अवधि मे करने का विधान है। ये दोनो सस्कार गर्भावस्था मे ही किये जाते हैं, क्योकि इनके माध्यम से गर्भस्थ शिशु की रक्षा हेतु प्रार्थना की जाती है[1]।

गर्भाशय मे स्थित गर्भ से पुत्र होगा या पुत्री, इसका निश्चय चार मास से पूर्व करना सम्भव नही है, क्योकि तीन मास के गर्भस्थ पिण्ड मे स्त्री या पुरुष-सम्बन्धी चिह्न दृष्टिगोचर नही होते। समाज मे साधारणतया देखा जाता है कि लोग कन्या की तुलना मे पुत्र की प्राप्ति को श्रेयस्कर मानते है। वैदिक-प्रार्थना के बाद पति अपनी पत्नी से कहता है—"मित्र वरुण नामक दोनो देवता पुरुष हे, अश्विनीकुमार नामक दोनो देवता पुरुष है एव अग्नि तथा वायु नामक दोनो देवता भी पुरुष हैं। तुम्हारे गर्भ मे भी पुरुष का आविर्भाव हुआ है"। स्त्री अपने पुरुष के मुख से पुत्रोत्पत्ति के लक्षणो को स्मरण कर आनन्द-विभोर हो जाती है और वमन (उल्टी) आदि की अनिवार्यता से अपने आलस्य एव विषाद को दूर कर गर्भ-पोषण का सम्बल जुटाने लगती है।

"पुंसवन" शब्द का अर्थ—

पु=पुमान् (नर) का जन्म हो इस उद्देश्य से जो क्रिया की जाती है, उसे "पुसवन" सस्कार कहा गया है। इस कथन की पुष्टि मे शौनक द्वारा रचित वीर-मित्रोदय-सस्कार-प्रकाश, भाग १, पृ० १६६ मे कहा गया है[2]। अथर्ववेद मे पुमान् सन्तति को उत्पन्न करने की अभिलाषाओ को व्यक्त किया गया है[3]। इस मन्त्र मे "अनु" पद बड़ा ही महत्व रखता है, जिसका अर्थ है—"हे स्त्री! तुम पुमान्वाची पुत्र को पैदा करो और उसके अनु (पश्चात्) भी वीरपुत्र उत्पन्न हो। यहाँ बाद मे भी वीर-पुत्रो की उत्पत्ति से तात्पर्य है कि तुम्हारे पुत्रो के भी पुत्र वीर हो। इस

१ यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षासि सेधसि।
प्रजा धन च गृह्णान परिहस्तो अभूदयम्॥ (अथर्व० ६।८१।१)

२ पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुसवनमीरितम्। (वीरमित्रोदय)

३ पुमास पुत्र जनयत पुमाननु जायताम्।
भवासि पुत्राणा माता जाताना जनयाश्च यान्॥ (अथर्व० ३।२३।३)

शब्द की सार्थकता हेतु संकेत भी है कि अगर पुरुष चाहता है कि मेरे घर वीर पुत्र उत्पन्न हो, जो अनुकूल, अनुरक्त एवं मातृ-पितृ भक्ति से सम्पन्न हो, तो उसे अपनी पत्नी की गर्भावस्था में सद्गुणों का आधान करना चाहिए। पुमान्-गर्भाधान की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित हो पुरुष स्त्री से कहता है—"दस मास की अवधि पूर्ण होने पर तुम्हारे गर्भ से वीर-सन्तति उत्पन्न हो, एतदर्थ धनुष पर बाणसन्धान की तरह अपने गर्भाशय में पुमान् सन्तति के बीज को धारण करो"[1]।

गर्भरक्षा के उपचार—

"पुमान्" वीर-सन्तति गर्भावस्था में सुरक्षित रहे, इसके लिए अनेक प्रकार के उपचारों का वर्णन है। अग्नि-प्रदक्षिणा, दधिप्राशन, नासावेध, उदरस्पर्श, फलस्नान आदि विभिन्न क्रियाएँ "पुंसवन-संस्कार" की अङ्गभूत हैं, जिनके माध्यम से वीर-पुत्र की कामना की जाती है। गर्भस्थ बालक की रक्षा हेतु वैदिक-संहिताओं में अनेक विधान हैं, जिनके करने से गर्भस्राव या पतन का भय नहीं रहता। रक्षा के ये उपचार दो प्रकार से किये जाते थे—(१) मांगलिक सूत्र एवं (२) औषधि-प्रयोग से।

"पुंसवन" संस्कार करते समय स्त्री की कलाई में रक्षा हेतु एक मांगलिक सूत्र बाँधा जाता था। इस रक्षा-बन्धन से प्रार्थना करते हुए अथर्ववेद (६।८१।१) में कहा गया है—"तुम रक्षा करने वाले हो, दोनों हाथों से धारण करते हो, राक्षसों को भगाते हो"। अथर्ववेद-संहिता (६।८१।३) में पुत्रेच्छा वाला पुरुष त्वष्टा से प्रार्थना करते हुए कहता है—"हे देव! पुत्र की कामना से जिस रक्षा-बन्धन को अदिति ने धारण किया था, उसी रक्षा-बन्धन को मेरी स्त्री के हाथ में भी बाँध दो, जिससे यह भी पुत्रवती बन सके"।

रक्षा-बन्धन के अतिरिक्त गर्भस्थ बालक की उत्पत्ति एवं रक्षा हेतु अनेक प्रकार की औषधियों के प्रयोग का वर्णन भी वैदिक संहिताओं में उपलब्ध होता है। प्राजापत्य नामक इस पुंसवन-संस्कार के समय गर्भ की पुष्टि हेतु औषधि प्रदान की जाती थी, जिसके सम्बन्ध में अथर्ववेद[2] में कहा गया है—"जिन पौधों का द्यौ पिता है, पृथिवी माता तथा जिनका समुद्र मूल है, वे दिव्य गुणों वाली औषधियाँ पुत्रोत्पत्ति में तुम्हारी सहायता करें"। गर्भपातादि दोषों से त्राण पाने के लिये

---

१ आ ते योनि गर्भम् एतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।
आ वीरोऽत्र जायताम् पुत्रस्ते दशमास्यः॥ (अथर्वसंहिता)

२ यासां द्यौ पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्र विद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः॥ (अथर्व० ३।२३।६)

अथर्वसहिता[1] मे ऋषभ आदि औषधियो के सेवन का वर्णन मिलता है, जिससे स्पष्ट होता है कि ये औषधियां पुत्रोत्पत्ति हेतु स्त्री को खिलाई या पिलाई जाती थी।

पुंसवन-सस्कार का सोधा सम्बन्ध स्त्री समाज से है। इस सस्कार के सम्पादन से पुत्र की प्राप्ति अवश्य होती है। यह सस्कार करने से पुत्र अश्वत्थ (पिप्पल-वृक्ष) की तरह विशाल और सुदृढ होता है और शमी (जण्डी) रूपी शान्त-स्वभाव वाली स्त्री की तेजस्विता रूपी अग्नि को प्राप्त करता है। इसी बात की पुष्टि अथर्ववेद सहिता[2] मे की गयी है कि यह पुसवन सस्कार स्त्रियो के लिये अच्छी तरह से किया जाना चाहिए।

पारस्कर-गृह्यसूत्र के अनुसार इस सस्कार के अवसर पर गर्भवती की प्रसन्नता के लिये आनन्दोत्सव का भी आयोजन किया जाता था। गर्भस्थ वीर्य की पुष्टि के लिये गर्भिणी स्त्री को वटवृक्ष की जटा या उसकी पत्ती लेकर दक्षिण नासिका-पुट से सुंघाने का विधान है। स्त्री की मानसिक स्थिति को ठीक रखने हेतु गिलोय, ब्राह्मी औषधि और सुठी को दूध के साथ खिलाने की बात भी की गयी है, जिससे पुमान्-गर्भ की रक्षा और पुष्टि हो सके।

आचार्य शौनक के मतानुसार पुसवन-सस्कार गर्भाधान होने के दूसरे या तीसरे महीने मे किया जाता था[3]। आश्वलायन-गृह्यसूत्र के अनुसार पति अपनी गर्भिणी स्त्री को दिन भर उपवास कराने के बाद गाय के दही मे एक यव (जौ) की बाल और दो माष (उरद) के दाने मिलाकर तीन बार पीने को दे। पीते समय पति अपनी पत्नी से पूछे "तुम क्या पी रही हो'? पत्नी को प्रत्येक बार श्रद्धाभाव से कहना चाहिये "पुसवने, पुसवने"।

आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत (सूत्रस्थान—अध्याय ३८) मे कहा गया है कि वटवृक्ष मे ऐसे गुण हैं, जिनसे गर्भकालीन समस्त विकारो का उपचार हो जाता है। तिल्ली की रोकथाम तथा दाहकता आदि की शान्ति के लिये स्त्री को वटवृक्ष के मूल का सेवन करना चाहिए। सुश्रुत ने स्पष्ट कहा[4] है—"पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा

---

१ यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च।
तैस्त्व पुत्र विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव॥ (अथर्व० ३।२३।४)

२ शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुसवन कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वदन तत्स्त्रीष्वाभरामसि॥ (अथर्व० ६।११।१)

३ व्यक्ते गर्भे द्वितीये तु मासे पुसवन भवेत।
गर्भे व्यक्ते तृतीये चतुर्थे मासि वा भवेत॥ (आचार्य-शौनक)

४. लब्धगर्भायाश्चैतेष्वह सु लक्ष्मणा-वटशुङ्ग-सहदेवी-विश्वदेवानामन्यतम क्षीरेणाभिषुत्य त्रीश्चतुरो वा बिन्दून् दद्याद्दक्षिण नासापुट पुत्रकामायै न च तन्निष्ठीवेत्।
(सुश्रुत, शारीरस्थान—२)

से सुलक्ष्मणा, वटशुङ्ग, सहदेवी एवं विश्वदेवी में से किसी एक औषधि को दूध में घोटकर उसके रस को तीन या चार बूँदें गर्भिणी के दायें नासापुट में छोडनी चाहिए"। ऐसा करते समय विशेष ध्यान देना चाहिए, कही स्त्री उसे थूक कर बेकार तो नही कर रही है। "सुपर्णोऽसि" इत्यादि वैदिक ऋचाओं द्वारा पुंसवन-संस्कार करते समय स्वस्थ एव सुन्दर शिशु के जन्म की मगल कामनाएँ की जाती थी।

उपर्युक्त विवरणो से स्पष्ट है कि "पुंसवन" संस्कार के बीज वैदिक-संहिताओं मे उपलब्ध है, विशेषरूप से अथर्ववेद-संहिता मे।

(३) सीमन्तोन्नयन—

सन्तति के जन्म से पूर्व सम्पन्न किये जाने वाले तीन प्रमुख संस्कारो में "सीमन्तोन्नयन" नामक अन्तिम संस्कार है। अर्थात् "गर्भाधान" और "पुंसवन" संस्कार के बाद यह संस्कार किया जाता है। इस संस्कार का भी मुख्य उद्देश्य "पुंसवन" संस्कार की तरह गर्भ की रक्षा करना है। दोनो संस्कारो में कालावधि की दृष्टि से अन्तर है। प्रथम (पुंसवन) संस्कार जहाँ गर्भावस्था के तीसरे या चौथे मास के भीतर ही करने का विधान है, वही "सीमन्तोन्नयन" संस्कार गर्भावस्था के छठे या आठवें मास में करने को कहा गया है। सीमन्तोन्नयन को "मातृनामानि" (कौ० सू० ८।२४) भी कहा जाता था।

गर्भावस्था की दृष्टि से आठवाँ महीना बडे ही महत्त्व का होता है, क्योंकि इस समय तक शिशु अपनी परिपक्वावस्था को लगभग प्राप्त कर लेता है। इस समय अमङ्गलकारी भूत, प्रेत, पिशाच आदि की बाधाओं की कल्पना सहजभाव से उत्पन्न होने लगती है। इस बात को दृष्टिगत करते हुए आश्वलायनाचार्य ने अपनी रचना "वीरमित्रोदय संस्कार" मे कहा है—"रुधिरपान मे समुत्सुक कुछ दैत्य प्रवृत्तियाँ गर्भस्थ बालक के वध की ओर प्रवृत्त होती है। इसलिए ऐसे समय में पति को चाहिए कि वह "श्री" का आह्वान करे, क्योंकि "श्री" से रक्षित गर्भ को दुष्प्रवृत्तियाँ बाधा नही पहुँचा सकती[१]।

उत्तम एव स्वस्थ सन्तति की प्राप्ति हेतु इस संस्कार के सम्पन्न करने का सकेत ऋग्वेद संहिता[२] मे मिलता है, जिसमे कहा गया है कि—"मैं (पति) दान-

१ पत्न्या. प्रथमज गर्भमत्तुकाम सुदुर्भगा।
आयान्ति काश्चिद्राक्षस्यो रुधिराशनतत्परा॥
तासा निरसनार्थाय श्रियमावाहयेत सुधी।
सीमन्तकरणी लक्ष्मीस्तामावहति मन्त्रत॥ (वीरमित्रोदय)

२ राकामह सुहवा सुष्टुती हुवे शृणोतु न. सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वप. सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीर शतदायमुक्थ्यम्॥ (ऋ० २।३२।४)

शीला, आह्वान के योग्य, सौभाग्यवती पत्नी को मधुर वचनों से बुलाता हूँ। वह मेरे आह्वान को सुने और समझे तथा न टूटने वाले प्रजनन कार्य से मुझे प्रशसनीय वीर-सन्तान प्रदान करे'।

सीमन्तोन्नयन शब्द का अर्थ—

गर्भिणी स्त्री के सीमन्तभाग के केशों का कुश गुच्छ द्वारा उन्नयन अर्थात् ऊपर की ओर उठाने का कार्य सम्पन्न किया जाता है, इसलिये इस सस्कार को "वीरमित्रोदय-सस्कारप्रकाश" म इसकी व्युत्पत्ति देते हुए कहा गया है[1]। इस सस्कार द्वारा स्त्री को प्रसन्नचित्त रखने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया भी आरम्भ हो जाती है। पुरुष अपने हाथो से अपनी पत्नी के केशो को सँवारता हुआ उसक लिय अनेक प्रशंसात्मक राका (पूर्णचन्द्र वाली रात्रि), सुपेशा (सुन्दर आकार वाली) इत्यादि विशेषणो का प्रयोग कर उसे प्रसन्नचित्त रखता था। इस गर्भावस्था की प्रसन्नता का प्रभाव भावी शिशु पर पडता था और वह स्वस्थ एव हृष्ट पुष्ट होता था। उदरस्थ शिशु पर किसी प्रकार का आघात न पहुँचे, एतदर्थ इसमे सावधानी रखने के भी अनेक निर्देश वैदिक-सहिताओ मे उपलब्ध होते हैं।

गर्भरक्षा के उपाय—

सीमान्तोन्नयन करते समय पति अपनी स्त्री को सम्बोधित करते समय वैदिक-काल मे कहता था—'जिस प्रकार प्रजापति ने देवमाता अदिति क सौभाग्यवर्धन हेतु उसका सीमन्तोन्नयन किया था ठीक उसी प्रकार मै भी तुम्हारा सीमन्तोन्नयन करके सन्तति के दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ[2]।

अथर्ववेद सहिता मे गर्भ सरक्षण के लिय प्रार्थना की जाती थी। इस सम्बन्ध मे २६ मन्त्रो का पूरा एक सूक्त उपलब्ध है[3]। गर्भ-धारण के अनन्तर गर्भ मे उत्पन्न होने वाले रोगो की शान्ति क लिय औषधियो का प्रयोग किया जाता था। अथर्ववेद (८।६।२०) मे गर्भवती स्त्री को सावधान करत हुए कहा गया है— "तुमने जिस गर्भ को धारण किया है, वह स्थिर रहे और तुम्हारे अधोवस्त्र म बधी यह औषधि उसकी रक्षा कर"[4]।

---

१ सीमन्त उन्नीयते यस्मिन कर्मणि तत सीमन्तोन्नयनमिति कर्मनामधेयम (वीरमित्रोदय)

२. ओम्। यनादित सीमान नयति प्रजापतिमहत सौभगाय।
तेनाहमस्यै सीमान नयामि प्रजामस्यै जरदष्टि कृणोमि॥

३. अथर्वसहिता सम्पूर्ण सूक्त।

४ परिसृष्ट धारयतु यद्धित मावपादि तत्।
गर्भं त उग्रौ रक्षता भेषजौ नीविभार्यौ॥ (अथर्व० ८।६।२०)

गर्भ की रक्षा हेतु प्रयुक्त औषधियों मे "वच" (वच) औषधि सर्वाधिक प्रचलित थी और गर्भरक्षक देवताओं मे "इन्द्र" की स्तुतियाँ सर्वाधिक हैं[१]। गर्भ की रक्षा एवं पुत्रोत्पत्ति हेतु इस संस्कार के समय श्वेत-पीत सरसों का प्रयोग होता था। तात्कालिक समाज का विश्वास था कि सरसों का प्रयोग गर्भ की रक्षा करता है।

बाल्यावस्था के छः संस्कार

(४) जातकर्म—

"जातकर्म-संस्कार" संसार में नवागत सन्तति के स्वागत का प्रतीक है। शिशु की उत्पत्ति के समय विविध क्लेशों की चर्चा ग्रन्थों मे उपलब्ध होती है। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों प्रसव का दिन निकटस्थ आता जाता है, गर्भवती की सुरक्षा की व्यवस्थाएँ भी तेज हो जाती हैं। प्रसूति-गृह की चर्चा में स्पष्ट रूप से नैॠत्य दिशा को श्रेष्ठ माना गया है। प्रसूति-गृह का निर्माण समतल भूमि मे होना चाहिए। अलङ्कृत एवं सुसज्जित स्थान का प्रभाव भावी सन्तति पर भी पड़ता है, इसलिये आसन्न-प्रसवा को प्रसन्न रखने के लिये प्रसूति-गृह को खूब सजाया जाता था। सद्य प्रसूता तथा नवजात शिशु की सुरक्षा हेतु अनेक प्रकार की सावधानी के साथ ही साथ प्रार्थनाएँ भी की जाती थी।

यद्यपि वैदिक संहिताओं में "जातकर्म" संस्कार का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। ऋग्वेद-संहिता (२।१२।१) में "जात[२]" शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है, जिसमें इन्द्र की जन्मजात शक्तियों का वर्णन किया गया है। मानव-समुदाय के लिये इस मन्त्र में दिया गया "जनास" सम्बोधन भी अवश्य विचारणीय है। "जन्मन्" शब्द का प्रयोग भी ऋग्वेद-संहिता में आया है[३], जिसका अर्थ जन्यमान-सन्तति से है। अस्तु, चाहे जिस अर्थ में भी "जन्मन्" शब्द का प्रयोग हुआ हो, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ये ही शब्द आगे चलकर जातकर्म-संस्कार के सूत्र बन गये।

ऋग्वेद संहिता (५।७८।५, ७, ८, ९) मे शिशु की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रार्थना करते हुए कहा गया है—"प्रसवकाल में जननी का अंग तदनुकूल हो जाता है। वायु जिस प्रकार सरोवर आदि के जल को चलाता है, वैसे ही स्त्री का गर्भस्थ

---

१ स्त्रीणां प्राणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय॥ (अथर्वसंहिता)

२ यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्र॥ (ऋ० २।१२।१)

३. स इज्जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वाजं भरते धना नृभि।
देवानां य पितरमाविवासति श्रद्धामना हविषा ब्रह्मणस्पतिम्॥ (ऋ० २।२६।३)

शिशु गतिमान् होते हुए दश मासो की पूर्णावधि के पश्चात् ही बाहर आये। वायु, वन और समुद्र की तरह कम्पायमान शिशु जरायु मे लिपटा हुआ सुरक्षित बाहर आये"।

ऋग्वेद-सहिता के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि उस समय सन्तति की उत्पत्ति हेतु देवो की स्तुति की जाती थी—"दश मासो की अवधिपर्यन्त माता के गर्भ मे रहता हुआ सुकुमार, सजीव माता के गर्भ से निरोगावस्था मे बाहर आये"[1]।

अथर्ववेद-सहिता (१।११।१) से स्पष्ट होता है कि यह सम्पूर्ण सूक्त नवजात शिशु एव उसकी माता की सुरक्षा हेतु गाया गया है। इस सूक्त मे जातकर्म-सस्कार के सकेत उपलब्ध होते है। पूषन् देव को लक्ष्य करके कहा गया है—"हे देव! इस प्रसव के समय विद्वान् और श्रेष्ठ होता तो तेरा पूजन करे, नारी सुखपूर्वक प्रजनन करे और उत्पत्ति के समय उसका सन्धिस्थान यथोचित शिथिल हो जाये[2]"। इस सूक्त के मन्त्रो मे गर्भवती नारी के लिये प्रयुक्त सूषणे (सुखपूर्वक प्रसव करने वाली), विष्कले (गर्भ को नीचे की ओर शिथिल करने वाली) आदि विशेषण सार्थक है। वस्तुतः जब तक स्नायुसस्थान ढीला नही होता, तब तक शिशु के बाहर होने की कल्पना भी नही की जा सकती। यही कारण है कि पुरुष अपनी पत्नी को प्रसव-वेदना से विचलित होकर देवताओ से प्रार्थना करता है कि वे शीघ्र ही इस अकथनीय कष्ट से मुक्ति दिलाने हेतु दश मासो तक माता के गर्भ मे पोषित होने वाले नव-शिशु को बाहर करे।

अशुभ-मुहूर्त मे उत्पन्न होने वाली सन्तति के विघ्नो की शान्ति हेतु उपचार का विधान अथर्ववेद-सहिता[3] मे उपलब्ध होता है। ज्येष्ठघ्नी नक्षत्र मे सन्तति का होना अशुभ माना जाता था, क्योकि इस नक्षत्र मे उत्पन्न बालक अपने बड़ो का विनाश करता था। यही कारण है कि मन्त्रो द्वारा इस अशुभ घडी को टालने की प्रार्थना की गयी है। ज्येष्ठा और मूल नक्षत्र अशुभ माने जाते थे। इन अशुभ मुहूर्तो की शान्ति के लिए कृत्यो का वर्णन अथर्ववद-सहिता मे[4] उपलब्ध है, जिससे पता चलता है कि इन उपचारो का लक्ष्य था कि नवजात शिशु माता-पिता एव अपने

---

१. दश मासाञ्छशयान कुमारो अधि मातरि।
   निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥ (ऋ० ५।७८।९)

२. वषट् ते पूषन्नस्मिन् सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधा।
   सिस्रता नार्य्ऋत प्रजाता वि पर्वाणि जिहता सूतवा उ॥ (अथर्व० १।११।१)

३ ज्येष्ठघ्न्या जातो विचृतोयमस्य मूलबर्हणात्परिपाह्येनम्।
   अत्येन नेषद्दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ (अथर्व० ६।११०।२)

४ व्याघ्रे ह्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमान सुवीर।
   स मा वधीत्पितर वर्धमानो मा मातर प्रमिनीज्जनित्रीम्॥ (अथर्व० ६।११०।३)

बड़ों का मंगलकारी एवं आज्ञाकारी बन सके। आचार्य सायण ने अपने भाष्य में इस मूल नक्षत्र की व्याख्या करते हुए कहा है—"मूलनक्षत्र हि मूलोन्मूलकम्"। इसी कथन की पुष्टि तैत्तिरीयब्राह्मण (१।५।२।८) से भी होती है, जिसमें कहा गया है—"मूलम् एषाम् अवृक्षामूर्ति तन्मूलबर्हण"। अर्थात् जो वंश के मूल को ही नष्ट कर दे उसे मूल नक्षत्र कहा गया है।

उद्देश्य एवं महत्व—

जातकर्म-संस्कार द्वारा माता-पिता अपनी सन्तति को मेधावी, दीर्घायुष्य वाली एवं बलिष्ट बनाने की कामना करते थे। अपनी इन मनोकामनाओं की सिद्धि के लिये पिता सर्वप्रथम सद्योजात सन्तान की जिह्वा में यव और चावल का चूर्ण लगाता था और इसके पश्चात् सुवर्ण द्वारा घिसे हुए मधु और घृत को लगाते हुए वैदिक-ऋचा कहता था—"यह अन्न ही प्रज्ञा है, यही आयु है, यही अमृत है, ये सब तुम्हें प्राप्त हों। मित्रावरुण, अश्विनीकुमार एवं बृहस्पति तुमको मेधावी बनायें"। इस मन्त्र में अन्न की एक बार प्रार्थना की गयी है—अन्न ही शरीर-रक्षा का साधन है। मेधा के लिये अनेक देवताओं से प्रार्थना की गयी है, क्योंकि इसी के द्वारा जीव जीवन में उन्नति करता है। महामाया के प्रभाव से भूमिक शिशु की स्मृति लुप्त हो जाती है, उसी को पुनः स्मृतिपथ पर लाने के लिये ही मेधाजनन यह कार्य किया जाता था।

सुवर्ण से घिसे हुए मधु और घृत को नवजात की जिह्वा में लगाने के पीछे अनेक मंगलकारी स्वास्थ्यवर्द्धक भावनाएँ छिपी हुई हैं। सुवर्ण वायुदोष को नाश करता है रक्त की ऊर्ध्वगति के दोषों को शान्त करता है एवं घृत शरीर में ताप को बढ़ाता है। निःसन्देह संस्कार की इस विधि से वायुदोष की शान्ति, उदर और आँतों की सफाई, मल-मूत्र के निष्कासन की सुगमता आदि अनेक लाभ हैं।

परवर्ती गृह्यसूत्रों में विशेष रूप से पाराशर-गृह्यसूत्र (१।१६।६) में नवजात को दीर्घजीवी होने के आशीर्वाद दिये गये हैं। सुश्रुत के शरीरस्थान अध्याय ४५ में घृत के अनेक गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है—'घृत सौन्दर्यवर्धक, शिरोवेदना, ज्वर, अपच आदि दोष को दूर करता है। मधुर-ध्वनि, वीर्य एवं आयु को बढ़ाने वाला है"। इसके अनन्तर आशाओं के केन्द्रबिन्दु पुत्र को जन्म देने वाली माता की स्तुति की जाती थी, जिसे पति स्वयं करता हुआ कहता था—"तुम इडा हो, तुम मित्रावरुण की पुत्री हो, तुम वीरमाता हो, क्योंकि तुमने वीर-पुत्र को जन्म दिया है। वीर पुत्र पैदा करने वाली वीरवती हो"[1]।

---

१ इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथा।
सा त्वं वीरवती भव या स्मात् वीरवती करदिति॥

गर्भाधान, पुसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म-सस्कारो का सीधा सम्बन्ध स्त्री से है, क्योंकि बिना स्त्री के ये सभी सस्कार कभी भी सम्पन्न नही हो सकते। यही मुख्य कारण है कि उपर्युक्त मन्त्र मे माता के रूप म स्त्री का यशोगान किया गया है। नारी क्षेत्ररूपा होने के कारण धैर्यादि गुणो की खान है। यदि ठीक से दाम्पत्य जीवन का निर्वाह होता रहे, तो इसम लेशमात्र सन्देह नही, कि अभ्युदय और नि श्रेयस सदा प्रस्तुत रहते हैं। नारी के ह्री, श्री, मधुवचन, पवित्रता, स्वार्थरहित पातिव्रत्य, वात्सल्यभाव, सेवापरायणता आदि ऐस गुण हैं, जिनकी तुलना अन्यत्र यदि असम्भव नही तो दुर्लभ अवश्य कही जा सकती है।

(५) नामकरण—

अनादिकाल से ही जगत् के व्यवहार हेतु नाम (सज्ञा) करण को उपयोगिता चली आ रही है। बिना व्यक्ति विशष की सज्ञा के व्यवहार का सचालन यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य रहा होगा। ऐसा लगता है भाषाविज्ञान के साथ ही साथ सज्ञाओ क सम्बन्ध मे सामाजिक चेतना भी परिस्फुरित हुई होगी। आचार्य बृहस्पति ने नामकरण के महत्त्व का प्रतिपादन करत हुए कहा है—"सज्ञा सम्पूण व्यवहार की हेतु ह, शुभ कर्मो म भाग्य-विधान का कारण ह। बिना नाम (सज्ञा) के कीर्ति का उपलब्धि असम्भव है, इसलिय नामकरण की उपयोगिता स्वत प्रशस्त है"[1]।

वैदिक-सहिताओ म "नाम पद का प्रयोग उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के दशम-मण्डल के ५५व सूक्त क द्वितीय मन्त्र मे[2] तथा ७१वे सूक्त के प्रथम मन्त्र मे[3] 'नाम" शब्द आया है। इसी सूक्त म विज्ञजनो की वाणी को मगलकारिणी बताया गया है और यहा तक कहा गया ह कि इसी वाणी के प्रभाव से कुछ विद्वान् इतना ख्याति प्राप्त कर लते ह कि उनके बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नही होता।

यह सस्कार सन्तानोत्पत्ति के दस दिन व्यतीत होने पर करने का विधान है। दस दिन छोड़न का कारण यह बताया जाता है कि प्रसूतिगृह या इस अवस्था मे मरने वाले बच्चे प्राय इसी अवधि म मर जात ह। हिन्दू सस्कृति म इस सस्कार का बड़ा ही महत्त्व है। पारस्कर-गृह्यसूत्र मे कहा गया है कि "दशम्यामुत्थाप्य नाम

---

१ नामाखिलस्य व्यवहारहतु शुभावह कर्मसु भाग्यहेतु।
नाम्नैव कीर्ति लभते मनुष्यस्तत प्रशस्त खलु नाम कम ॥ (वी० मि० स० भा०)

२ दूरे तन्नाम गुह्य पराचैर्यत्त्वा भीते अह्वयेता वयोधै।
उदस्तभ्ना पृथिवी द्यामभीके भ्रातु पुत्रान्मघवन्तित्विषाण. ॥ (ऋ० १०।५५।२)

३ बृहस्पते प्रथम वाचो अग्र यत्प्रैरत नामधेय दधाना। (ऋ० १०।७१।१)

करोति" अर्थात् पिता ग्यारहवे दिन नवजात शिशु का नामकरण करे। भगवान् मनु ने इस सस्कार के सम्पादन हेतु दसवें या बारहवे दिन किसी शुभ-नक्षत्र या किसी पुण्यदायिनी तिथि पर करने का आदेश दिया है। नामकरण के समय शिशु के दो नाम रखने की प्रथा थी। प्रथम नाम माता-पिता की परिधि तक ही सीमित रहता था, परन्तु दूसरा नाम प्रत्यक्ष होता था, जिसे सभी जान जाते थे; क्योंकि उस नाम की घोषणा कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति करता था।

यजुर्वेद-सहिता (७।२९) मे आत्मा का अमृतत्व प्रतिपादन करके सन्तान के लिए पिता द्वारा नामकरण करते समय यह जिज्ञासा करने को कहा गया है—"तुम कौन हो, अनेको मे से तुम कौन हो। तुम किसके हो, तेरा क्या नाम है जिसे हम सब जान सके"[१]? इस प्रकार की प्रार्थना द्वारा पिता परमपिता से प्रार्थना करता था कि वह उनकी कृपा से अनेक श्रेष्ठ सन्तानो से युक्त होकर सवत्सरो से गुजरता हुआ शतवर्षीय आयुसीमा तक सुगमता से पहुँच सके।

नाम के साथ अमृत-ब्रह्म के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए शतायु होने,की प्रार्थना करना नि सन्देह अन्त करण को बलिष्ठ तथा भावी जीवन को प्रशस्त करने का साधन माना गया है। अथर्ववेद-सहिता (८।२।१) मे नामकरण-संस्कार के सकेतो का आचार्य कौशिक ने वर्णन करते हुए कहा है—"हाथ मे पवित्र जल लेकर यह सस्कार प्रारम्भ करना चाहिए[२]"। आचार्य सायण का मत है कि इस सूक्त के मन्त्र नामकरण हेतु नही; अपितु "निष्क्रमण" के लिये कहे गये हैं। अपने इस कथन की पुष्टि मे आचार्य-सायण ने अथर्वसहिता (८।२।१६) के मन्त्र को प्रस्तुत किया है[३]।

सज्ञा-विधान—

इस सस्कार द्वारा सज्ञा (नाम) करण की विधि परवर्ती गृह्यसूत्रो मे विस्तार-पूर्वक बताई गयी है। पारस्कर-गृह्यसूत्र के अनुसार 'नाम" दो या चार अक्षरो का होना चाहिए। नाम का प्रथम अक्षर व्यञ्जन एव अन्तिम अक्षर दीर्घ-स्वरान्त अथवा विसर्गान्त श्रेष्ठ कहा गया है। कृत्प्रत्ययान्त नामो को प्रमुखता दी गयी है एव सिद्धान्ततः प्रत्ययो को गौण माना गया है।

---

१ कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि।
यस्य ते नामामन्महि य त्वा सोमेनातीतृपाम्।
भूर्भुव स्व सुप्रजा प्रजाभि स्या सुवव सुपोष पोषै ॥ (यजु० ७।२९)

२. आरभस्वेमामृतस्य। (अथर्व० ८।२।१)

३ यत्ते वास परिधान या नीविं कृणुषे त्वम्।
शिव ते तन्वे तत्कृण्म सस्पर्शे द्रूक्ष्णमस्तु ते ॥ (अथर्व० ८।२।१६)

बालिका के नाम मे विषम अक्षरो वाली सज्ञा को श्रेष्ठ माना गया है। आकारान्त या ईकारान्त सज्ञा कन्याओ के लिए विहित मानी गयी है। मनुस्मृति (२।३३) मे स्त्रियो के नामकरण पर विशद विचार किया गया है[1]।

(६) निष्क्रमण—

निष्क्रमण-सस्कार की चर्चा वैदिक सहिताओ म कही भी प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नही होती। सकेत के आधार पर इस सस्कार की नीव अवश्य पडती है, जिसको आधार मानकर परवर्ती साहित्यकारो ने निष्क्रमण सस्कार को प्रचलित किया। अथर्ववेद-सहिता मण्डल ८ सूक्त २ के कई मन्त्र हैं, जिनको निष्क्रमण-सस्कार का स्रोत कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप इस सूक्त का १४वाँ मन्त्र द्रष्टव्य है, जिसमे बालक को प्रसूतिगृह से बाहर निकालते समय उसके लिए मगलकारी आशीर्वचनो का प्रयोग किया गया है—"स्वग और पृथ्वी तुम्हारे लिए कल्याणकारी हो, सूय अपने प्रकाश से, वायु अपने प्रवहण से एव दिव्य जल अपने गुणो से तुमको पोषित कर[2]"। इसी सूक्त के पन्द्रहवे मन्त्र मे बालक को खुले मैदान मे लाकर उसके लिए सम्पूर्ण प्राकृतिक शक्तियो से प्रार्थना की गयी है कि वे सूर्य-चन्द्र एव वनस्पतियाँ इस नवागन्तुक को सुखी कर"[3]।

निष्क्रमण-सस्कार के समय-निर्धारण मे परवर्ती आचार्य एव विद्वानो मे भी मतैक्य नही है। मनुस्मृति द्वितीय अध्याय के १४वें श्लोक मे जन्म के बारहव दिन स लेकर चतुर्थ मास तक विभिन्न सुविधाएँ दी है। भविष्यपुराण और बृहस्पति स्मृति मे इस सस्कार के लिए जन्म से बारहवा दिन निर्धारित है। यमस्मृतिकार ने तृतीय एव चतुथ मास म क्रमश सूर्य चन्द्रदर्शन के साथ इस सस्कार को सम्पादित करने का आदेश दिया है[4]।

गृह्यसूत्रो के अनुसार इस सस्कार को सम्पन्न कराने का एकमात्र अधिकार माता-पिता को था, परन्तु पुराणो (मुहूत सग्रह) के अनुसार इस विशप अधिकार का

---

१ स्त्रीणा च सुखमक्रूर विस्पष्टाथ मनोहरम।
माङ्गल्य दीघवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥ (मनु० २।३३)

२ शिवा अभिक्षरन्तु त्वापो दिव्या पयस्वती। (अथव० ८।२।१४)

३ शिवास्ते सन्त्वोषधय उत्त्वाहार्षमधरस्या उत्तरा पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षता सूर्याचन्द्रमसावुभौ॥ (अथर्व० ८।२।१५)

४. ततस्तृतीये कतव्य मासि सूर्यस्य दर्शनम्।
चतुथमासि कतव्य शिशो चन्द्रस्य दशनम्॥ (यमस्मृति)

साथ ही साथ बालक के हृदय में ब्रह्मभाव को जागृत करने का पुनीत उद्देश्य भी इस संस्कार में निहित है।

(८) चूडाकर्म—

गर्भावस्था-सम्बन्धी शिशु के केशों का कर्तन ही इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य बताया गया है। इस संस्कार के साथ ही बालक शिक्षा आदि का पात्र हो जाता है। शिखा छोड़कर सिर के शेष सम्पूर्ण बाल काट दिये जाते हैं। "शिखा" रखने से आयु, तेज, बल, ओज आदि की प्राप्ति होती है। इस कथन की पुष्टि "दीर्घायुष्ट्वाय बलाय वर्चसे", "शक्त्यै शिखायै वषट्" इत्यादि वैदिक-संहिताओं के मन्त्रों से होती है। सिर पर शिखा (चोटी) रखने की प्रथा न केवल आर्य-ग्रन्थों में वर्णित है, अपितु अन्यान्य देश-वासियों के ग्रन्थों में भी शिखा रखने की प्रशंसा एवं शिखाहीन लोगों की निन्दा की गयी है। इस सम्बन्ध में हिब्रू-जाति के 'तल्मुद्' नामक धर्मग्रन्थ से पता चलता है कि उस समय हिब्रू-जाति के लोग भी शिखा रखते थे। ईसाई धर्म के अनुयायियों में भी शिखा रखने का महत्त्व प्रतिपादित था। "बाइबिल" में सामसन एगोन सटिस् के विषय में लिखा है कि उसकी शिखा के कारण ही उसके विरोधी भयभीत रहते थे। निद्रावस्था में जब सामसन की शिखा उसके विरोधियों ने काट दी, तो वह निस्तेज होकर दूसरे ही दिन पराजित हो गया।

हरिवंशपुराण में भी एक घटना का वर्णन है, जिससे पता चलता है कि उस समय शिखा काट लेना मृत्युदण्ड के समान माना जाता था। कथा का सारांश यह है कि एक बार एक तेजस्वी आर्य वीर ने पितृहन्ता अनेक राजाओं को पराजित कर दिया। पराजित लोग गुरु वशिष्ठ की शरण में आये और उन्होंने अपनी रक्षा की याचना की। दयालु आचार्य को दया आ गयी और उन्होंने अपने शिष्य को आज्ञा दी कि इन पराजित लोगों के प्राण-हनन के स्थान पर इनके सिर की शिखा काट दो, ये अपने आप निस्तेज हो जायेंगे।

वैदिक-संहिता-काल—

संहिता-काल में "केश" शब्द पर्याप्त रूप से प्रचलित हो चुका था[1]। केशों की सुरक्षा का इस काल में बड़ा ध्यान रखा जाता था। अथर्ववेद-संहिता (सूक्त ५३६ और ५३७) में सघन बालों के लिए प्रार्थना की गयी है। केशों के मुण्डन-प्रसंग के सम्बन्ध में अथर्ववेद-संहिता (८।२।१७) में स्पष्ट उल्लेख है। शतपथब्राह्मण (५।१, २, १४) में लम्बे बाल रखने वाले पुरुष की निन्दा करते हुए उसे "स्त्रैण"

१. वाजसनेयि-संहिता— १९।२२, २०।५, २५।३।

अर्थात् स्त्री के अधीन रहने वाला कहा गया है। मुण्डन करने से पूर्व सिर के बालों को भिगोने का वर्णन अथर्ववेद-संहिता (६।६८।१) में स्पष्ट रूप से पाया गया है। एक मन्त्र में सविता से क्षुर (उस्तरा) लाने एवं वायुदेवता से गर्म जल लाने की प्रार्थना की गयी है। अथर्ववेद (६।६८।२) में सवितृदेव के प्रतिनिधिरूप नापित के स्वागत की भी चर्चा है। इन वैदिक मन्त्रों से पता चलता है कि नापित के बाल काटने से पूर्व ब्राह्मण (पुरोहित) भी मुण्डन हेतु उस्तरा चलाता था।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक-संहिताकाल में चूडाकर्म (चूणाकरण) संस्कार सम्पन्न होता था, जिसमें बालक के दीर्घायुष्य, सुख-समृद्धि, विकास एवं सुखमय जीवन हेतु प्रार्थनाएँ की जाती थी।

संस्कार का समय—

चूडाकरण संस्कार सम्पन्न करने के सम्बन्ध में वैदिक परवर्ती आचार्यों में मतैक्य नहीं है। पारस्कर-गृह्यसूत्र (२।१।१-२) के अनुसार यह संस्कार जन्म के प्रथम वर्ष में या तृतीय वर्ष की समाप्ति पर करना वैध है। मनुस्मृति (२।३५) के अनुसार समस्त द्विजातियों का यह संस्कार प्रथम वर्ष या तृतीय वर्ष में होना चाहिए। आश्वलायन ने तो इस संस्कार को तृतीय या पञ्चम वर्ष में करने की श्रेष्ठता बताई है। यदि इस अवधि में किसी कारण संस्कार करने में कठिनाई हो, तो इसे सातवें वर्ष या फिर यज्ञोपवीत-संस्कार के साथ भी किया जा सकता है।

बालक की माता यदि गर्भवती होती थी, तो यह संस्कार नहीं होता था, क्योंकि गर्भालस्य के कारण स्त्री भाग नहीं ले सकती थी। रजस्वला होने पर भी शुद्धिपर्यन्त यह संस्कार स्थगित रहता था। चूडाकरण के पूर्ववर्ती सात संस्कारों में यह प्रश्न ही नहीं उठता था, क्योंकि स्त्री सन्तति को जन्म देकर शुद्ध रहती है।

इस संस्कार की उपयोगिता एवं लाभ स्पष्ट है, क्योंकि इस संस्कार के करने से दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है। मुण्डन-संस्कार के बाद पुरुषों की तरह स्त्रियों को केशकर्तन की सुविधा नहीं थी। स्त्रियों द्वारा बार बार बाल कटाने से मातृ-अभाव होने का भय होता है। इस सम्बन्ध में हमारे आचार्यों की तरह अमेरिकी विद्वान्—डाक्टर गिल्लर्ड टामस्, इङ्गलैण्ड के डाक्टर स्टनले हाल ने भी स्त्रियों के बाल काटने का विरोध किया है। इस संस्कार के करने से और शिखा रखने से सुश्रुत के शारीर-स्थान (६।८३) के अनुसार शिरा तथा सन्धियुक्त मर्मस्थल की रक्षा होती है।

(९) कर्णवेध—

कर्णवेध-संस्कार का वर्णन वैदिक-संहिताओं में प्राय: अनुपलब्ध है। अथर्ववेद-संहिता (६।१४१।२) में यही एक सूक्त है, जिसके द्वितीय मन्त्र में कर्णवेध का प्रसंग

आया है। इस मन्त्र मे कहा गया है—"चिकित्सक या माता-पिता मे से कोई एक लोहे से अथवा किसी अन्य धातु से बने यन्त्र से शिशु के दोनो कानो का छेदन करे। इस कार्य से सन्तति को स्वास्थ्यसम्बन्धी अनेक लाभ होते हैं[1]"। कर्णवेध नामक इस संस्कार से स्वास्थ्यसम्बन्धी कौन से लाभ होते हैं, इसका वर्णन परवर्ती ग्रन्थो मे विशेषत गृह्यसूत्रो मे भी उपलब्ध नही है।

आचार्य सुश्रुत ने अपनी रचना के शारीर-स्थान (१६।१) मे लिखा है कि "रोगो की रोकथाम के लिये एव बालक को अलकृत करने के उद्देश्य से कानो का छेदन आवश्यक है[2]"। कर्णवेध की उपयोगिता पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए सुश्रुत के शारीर-स्थान (१९।२१) मे कहा गया है—"आन्त्रवृद्धि तथा अण्डकोशवृद्धि को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से भी कर्णवेध-संस्कार करना चाहिए[3]"। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संस्कार को सम्पादित करने के पीछे परम-पवित्र यह उद्देश्य छिपा हुआ है कि बालक को आरम्भिक अवस्था म ही रोगो की सम्भावनाओ पर अकुश लगा दिया जाये।

संस्कार का समय—

कर्णवेध-संस्कार के समय के सम्बन्ध मे भी अनेक मत प्रचलित हैं। आचार्य बृहस्पति के मत से यह संस्कार बालक या बालिका के जन्म से दसवें, बारहवें या सोलहवें दिन कर देना चाहिए[4]। सम्भवतः इस मान्यता के पीछे यह धारणा रही हो कि इस अवस्था मे कान का मास नर्म होता है और बिना कष्टानुभूति के इसे अबोध बालक सहन कर सकता है। अस्तु, गर्गपद्धोपति आदि सातवें, आठवें मास या दांत निकलने के पूर्व इस संस्कार को करना उचित मानते है। सुश्रुत के सूत्र-स्थान (१६।१) मे इस संस्कार का उचित समय छठां या सातवां मास माना गया है।

विद्याध्ययनसम्बन्धी तीन संस्कार

(१०) उपनयन—

उपनयन संस्कार हमारी सभ्यता, संस्कृति एव गुरु-शिष्य की पवित्र परम्परा का प्रतीक है। इस संस्कार मे ब्रह्मचर्य, सत्यज्ञान, सदाचार, सद्‌शिक्षा आदि के गूढ

---

१ लोहितन स्वधितिना मिथुन कर्णया. कृधि।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥ (अथर्व० ६।१४१।२)

२ रक्षाभूषणनिमित्त बालस्य कर्णौ विध्यत्। (सुश्रुत शारीरस्थान—१६।१)

३ शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्।
व्यत्यासाद्वा शिरा विध्यदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये ॥ (सुश्रुत-शारीरस्थान—१९।२१)

४. जन्मतो दशमे वाह्नि द्वादशे वाऽथ षोडशे। (आचार्य-बृहस्पति)

रहस्य निहित हैं। उपनयन (यज्ञोपवीत) निर्माण म नौ तन्तु एव तीन दण्ड (गुण) रखने मे भी रहस्य है। नौ तन्तुओं मे नौ देवताओ के अधिष्ठान की चर्चा की गयी है[1]। यज्ञोपवीत का परिमाण ९६ अगुल का होना चाहिए। इसके पीछे भी एक रहस्य है क्योंकि मानव का मान ८४ अगुल है और देव मान ९६ अगुल माना गया है। इससे स्पष्ट होता है कि हमारे आचार्यों ने मानव मे देवत्व लाने के लिए ही यज्ञोपवीत का परिमाण ९६ अगुल रखा होगा। आर्यो की विश्वास परम्परा रही है कि यज्ञोपवीत धारण के अनन्तर ही बालक या बालिका वेदव्रत, ब्रह्मव्रत आदि के अनुष्ठान से देवत्व प्राप्ति के पश्चात् ब्रह्मत्व प्राप्त करते थे। तीन दण्ड का रहस्य भी कायिक, वाचिक एव मानसिक सयम द्वारा विषयो स मन का हटाना रहा है।

इस सस्कार की प्राचीनता के सम्बन्ध मे भी उसी तरह निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता जिस प्रकार स्वय वैदिक सहिताओ की कालावधि के विषय मे। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हमारे इस उपनयन सस्कार का प्रभाव ईरानो, पारसी लोगो पर अवश्य पडा है, क्योंकि पारसी लोग आज भी अपने बालक या बालिका का नवजात (नया जन्म) सस्कार सन्तति के जन्म से ६ वर्ष बाद करते हैं।

उपनयन शब्द का अर्थ—

उपनयन शब्द की व्युत्पत्ति 'उप' उपसग के योग से नी + ल्युट प्रत्यय से हुई है जिसका अथ है—पास ले जाया गया। यहा हमारे आर्षग्रन्थो के अनुसार शिक्षा हेतु बालिका या बालक अपने गुरु के पास ले जाया जाता था। अपने छात्र या छात्रा को अपने निकट पाकर गुरु पचदेवा (अग्नि, वायु, सूय चन्द्र इन्द्र) से प्राथना करता था—'हे देववृन्द! इस माणवक का मझसे मिलाओ। हम दोनो बिना किसी विघ्न-बाधा के मिल"। वस्तुत इस प्रकार का गुरु शिष्य मिलन ही शिक्षा का प्रथम या प्रधान अनुष्ठान होता था। गुरु की देव प्राथना के पश्चात् छात्रा या छात्र भी बडे विनम्रभाव से अपने आचाय स कहता था—' मझ उपनीत एव उपवीत कीजिए'। इसके अनन्तर गुरु और शिष्य दोनो अपन हाथा म जलाञ्जलि भरकर एक साथ एक ही स्थान पर छोडते थे जिसका तात्पय होता था कि हम दोनो इस जलधारा की

---

१ ओंकार प्रथमे तन्तौ द्वितीयऽग्निस्तथैव च।
तृतीय नागदैवत्य चतुथ सोमदेवता॥
पञ्चम पितृदैवत्य षष्ठ चैव प्रजापति।
सप्तमे मारुतश्चैव अष्टम सूय एव च॥
सर्वे देवास्तु नवम इत्येतास्त तुदेवता।
(बी० एच० आप्टे, सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ इन गृह्यसूत्राज पृ० २०२)।

तरह सदा मिलकर रहे। इस तरह गुरु के घर में या आश्रम में रहने का वर्णन अथर्ववेद-संहिता (७।१०९।७) में उपलब्ध है।

उपवीत शब्द का प्रयोग तैत्तिरीयसंहिता (२।५।११।१) तथा परवर्ती साहित्य मे उपलब्ध होता है। उपनयन-संस्कार की उस समय एक प्रमुख विशेषता मानी जाती थी। उपनयन (यज्ञोपवीत) पहनने की तीन विधियाँ प्रचलित थी—(१) उपवीत—इस विधि में यज्ञोपवीत बायें कन्धे के ऊपर से और दायें कन्धे के नीचे की ओर पहना जाता था, (२) प्राचीनावीत—इस विधि मे दायें कन्धे के ऊपर से और बायें कन्धे के नीचे की ओर यज्ञोपवीत रहता था, (३) निवीत या नवीत—इस विधि मे यज्ञोपवीत दोनों कन्धो से गले की ओर रहता था। सम्भवतः इन विधियो का प्रयोजन क्रमश देवतृप्ति, पितरतृप्ति एव मनुष्य (गुरुजन) तृप्ति रहा होगा।

ब्रह्मचर्याश्रम और उपनयन-संस्कार—

उपनयन-संस्कार और ब्रह्मचर्याश्रम का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। वैदिक-संहिताकाल मे ब्रह्मचारी या ब्रह्मचर्य का बड़ा ही विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। उपनयन संस्कार की सम्पन्नता के साथ ही आचार्य छात्र या छात्रा को अपना अन्तेवासी बनाता था। इस प्रकार ब्रह्मचारीवेश में मेखला, कृष्णमृग का चर्म, दण्ड धारण के साथ ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी को यज्ञादि कृत्यों के लिये दीक्षित किया जाता था। इसी ब्रह्मचर्य के तप से राजा अपने राष्ट्र की रक्षा करता था, कन्या युवा पति को प्राप्त करती थी और यह स्वीकार किया जाता था कि इसी ब्रह्मचर्य के कारण देवताओं ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की थी[1]।

अथर्ववेद संहिता के उपर्युक्त वर्णन के अतिरिक्त ऋग्वेद-संहिता (१०।१०९।५) में ब्रह्मचारी के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए यहाँ तक कहा गया है कि वह देवताओं का एक अंग होता है[2]। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक संहिताकाल में ब्रह्मचर्याश्रम की अनिवार्यता सभी बालक-बालिकाओं के लिए थी। वैदिक-संहिताओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय के समाज में सुव्यवस्थित शिक्षा-संस्थाएँ थीं। इन संस्थाओं में समानरूप से छात्र व छात्राएँ प्रविष्ट होती थी, जिन्हें क्रमश ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारिणी नाम से पुकारा जाता था। ज्ञानार्जन के पिपासु ये लोग अनुशासित जीवन-यापन करते हुए आत्म-विकास करते थे।

---

१ अथर्व० ११।५।१९।

२. ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विष स देवाना भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद्बृहस्पति सोमेन नीता जुह्व न देवा ॥ (ऋ० १०।१०९।५)

नारी और उपनयन—

वैदिक-संहिता-काल में पुरुषवर्ग की तरह नारी-समाज के लिये भी शिक्षा का द्वार खुला था। यही कारण है कि ज्ञानार्जन हेतु ऋषिकुलों व गुरुकुलों में बालिकाओं के प्रवेश तथा उनके ब्रह्मचर्य का वर्णन अथर्ववेद-संहिता (११।५।१८) में स्पष्ट रूप से है[1]। यह स्वतन्त्र एवं उन्मुक्त शिक्षा का ही प्रभाव था। वैदिक-काल में अपाला, आत्रेयी, घोषा आदि अनेक मन्त्रद्रष्ट्री विदुषियों का जीवन-परिचय एवं उनके द्वारा दृष्ट मन्त्रों का सप्रमाण विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में दिया गया है।

संहिताकाल में वेदाध्ययन के लिये बालक या बालिका के लिए उपनयन-संस्कार आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी था। इस कथन की पुष्टि करते हुए भारतीय विद्वान् अल्तेकर ने अपनी रचना "एजूकेशन इन एन्शियण्ट इण्डिया" में कहा है कि उस समय नारी समाज भी वेदाध्ययन हेतु ब्रह्मचर्य की प्रतीक मौञ्जी को धारण करता था[2]। मेखला का महत्त्व उपनयन संस्कार में विशेष रूप से स्वीकार किया जाता था। मेखला के प्रभाव से वेदाध्यायी के शत्रुओं का नाश होता था। यही कारण है कि अथर्ववेद (६।१३३।२) में मेखला को ऋषियों का शस्त्रास्त्र कहा गया है[3]। मेखला में "त्रिवृत्त"—ब्रह्म, तप और श्रम के सूचक माने गये हैं[4]। मेखला के तिहरे सूत्र से ऋक्, यजुष, सामरूपी वेदत्रयी में ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी आवृत्त हैं, इसकी सूचना मिलती है। वेदाध्यायी द्विज स्वयं ऐसा अनुभव करता था, जैसा कि आश्वलायन ने कहा है[5]। अथर्ववेद-संहिता (६।१३३।४) में मेखला बाँधने का उद्देश्य स्वयं स्पष्ट है कि वह (मेखला) ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी के व्रत की रक्षा तथा बाह्य या आन्तरिक दुष्प्रवृत्तियों से उसके त्राण में सक्षम है।

यज्ञोपवीता नारी के गुणों की विस्तृत चर्चा ऋग्वेद संहिता (१०।१०९।४) में की गयी है[6]। इस विवरण में स्पष्ट है कि उपनीता नारी यज्ञोपवीत धारण करने के

---

१ ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥ (ऋ० ११।५।१८)

२ पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्ययनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ॥ (एजूकेशन इन एंशियेण्ट इण्डिया)

३ आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम्।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥ (अथर्व० ६।१३३।२)

४ वेदत्रयेणावृत्तोऽहमिति मन्यते स द्विजः। (आश्वलायन)

५. श्रद्धया दुहिता तपसोऽधिजाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव।
सा नो मेखले मतिमाधेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥ (अथर्व० ६।१३३।४)

६ देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥ (ऋ० १०।१०९।४)

पश्चात् इतनी सबल हो जाती थी कि वह अत्यन्त दुष्ट एव पथभ्रष्ट पति को भी सन्मार्ग पर लाकर खड़ा कर लेती थी। बात अक्षरस सही है कि अशिक्षित नारी कलह का कारण होती है, चाहे पति कितना भी सुशिक्षित क्यो न हो। दूसरी ओर यदि पत्नी शिक्षित है, तो वह मूढ से मूढ नर को भी सुव्यवस्थित करने का सामर्थ्य रखती है।

स्त्रियो को यदि उपनयन सस्कार का अधिकार न होता तो परवर्ती साहित्य मे इसका निषेध क्यो किया जाता ? ऐसा लगता है कि ईसा पूर्व ४०० के लगभग कन्याओ के उपनयन-सस्कार मे लोगो ने आपत्ति करनी आरम्भ कर दी थी। यदि ऐसा न होता तो वैदिक-सहिताकाल की तरह यह सस्कार स्त्रियो के लिये प्रचलित रहता। हम देखते हैं कि ईसा-पूर्व ३०० के लगभग मनु आदि स्मृतिकारो ने व्यवस्था दी कि कन्याओ का उपनयन-संस्कार वैदिक मन्त्रो के बिना होना चाहिए। याज्ञवल्क्य एव उनके परवर्ती स्मृतिकारो ने तो कन्याओ के उपनयन-सस्कार को ही निषिद्ध ठहरा दिया और एक नय सिद्धान्त का प्रतिपादन कर दिया कि कन्याओ का विवाह ही उनका उपनयन-सस्कार है।

उपनयन के अभाव मे हानियाँ—

इस प्रकार वैदिक परम्परा की महनीयता पर मर्मान्तक प्रतिबन्ध लगाने वाले मनु आदि ने नारी की प्रतिभा पर परोक्षरूप से प्रहार किया। उपनयन के अभाव मे नारी समाज के लिए वैदिक शिक्षा का द्वार सदा के लिए बन्द हो गया। शिक्षा के अभाव मे कन्याएँ द्विजपद से वञ्चित हो गयी और उनकी गणना समाज मे शूद्रो की तरह समझी जाने लगी। पुरुष की तुलना मे नारी को हेय-दृष्टि से देखने का *कार्य आरम्भ हो गया। फलत वैदिकसंहिता की सहचरी नारी बाद मे दासी समझी* गयी और क्रमश- उसकी स्थिति समाज मे अत्यन्त ही क्षीण होती गयी।

उपनयन-सस्कार के निषेध का कुप्रभाव यह हुआ कि नारी समाज अपने जन्मसिद्ध अधिकार "यज्ञ" से भी वञ्चित हो गया। अब तक स्वतन्त्रतापूर्वक यज्ञानुष्ठान करने वाली नारी अब "लवन-यज्ञ", जिसको करने या कराने का एकमात्र अधिकार केवल उसे ही था, उससे भी वञ्चित कर दी गयी। इतना ही नही ऐतिशायन आदि स्मृतिकारो ने तो स्त्री को यज्ञ-मण्डप मे बैठने के अधिकार से भी वचित कर दिया, जिसका बाद मे जैमिनि ने विरोध किया और स्त्री को अपने पुरुष के साथ यज्ञ मे बैठने की सस्तुति की। नारी के गौरव को आघात पहुँचाने वाले इन सभी कार्यो का दुष्परिणाम आज समाज को भोगना पड रहा है।

नारी समाज के उपनयन सस्कार को समाप्त करने के पक्षधर लोग ही बता सकते हैं कि उनके इस कार्य से उनको क्या लाभ पहुँचा है ? या भविष्य मे पहुँच सकता

है ? नारी को यज्ञाधिकार से वञ्चित कर, वेदमन्त्रों के मनन पर मनमाने ढंग से मन्त्रणा करने वालों ने निःसन्देह नारी-समाज के साथ ही साथ सम्पूर्ण समाज को गर्त में पहुँचाने का कार्य किया है।

अथर्ववेद संहिता (६।१२२।५) आज भी स्त्री समाज को यज्ञाधिकार के साथ यज्ञोपवीत एवं वेदाध्ययन का अधिकार प्रदान करती है[1]। इस मन्त्र में "योषित" पद के लिए "यज्ञिया" विशेषण आया है, जिसका अर्थ है—यज्ञ करने और कराने में निपुण नारी।

(११) वेदारम्भ—

उपनयन संस्कार के अनन्तर अपने आचार्य के साथ इस संस्कार को ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी ऋषिकुल में सम्पन्न करते थे। इस संस्कार को विभिन्न नामों से पुकारा गया है, यथा—वेदारम्भ, ब्रह्मव्रत, वेदव्रत, व्रतादेश, सावित्री संस्कार आदि। गायत्री मन्त्र की दीक्षा लेकर किसी वेद की शाखाविशेष या वेदों के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन हेतु जो व्रत छात्र या छात्रा लेते थे, उसे वेदारम्भ कहा जाता था।

गौतम-धर्मसूत्र (८।२४) के अनुसार वेदारम्भ नामक संस्कार प्राचीन संस्कार नहीं है। वस्तुतः वैदिक-संहिताकाल में उपनयन संस्कार के समय ही वेदारम्भ हो जाता था, सम्भवतः इसीलिये इस वेदारम्भ संस्कार के स्थान पर 'चत्वारि वेद-व्रतानि' का प्रतिपादन होता था। इन चार वेदव्रतों का आश्वलायन ने वर्णन करते हुए कहा है कि वे व्रत थे—महानाम्नी, महाव्रत, उपनिषद् और गोदान[2]। ऐसा प्रतीत होता है कि जब उपनयन-संस्कार के साथ ही साथ वेदाध्ययन के क्रम में बाधा आने लगी तो परवर्ती साहित्य में सुविधा हेतु इस संस्कार का उद्भव हुआ। वैदिक स्वाध्याय से पूर्व ही यज्ञोपवीत धारण के पश्चात् छात्र या छात्रा लौकिक संस्कृत पढ़ने लगते थे। अतः उपनयन एवं समावर्तन संस्कार के बीच वेदारम्भ संस्कार का सृजन किया गया, क्योंकि इस संस्कार का उद्देश्य पूर्णरूप से वेदों का स्वाध्याय होता था।

महर्षि वसिष्ठ ने कुलपरम्परागत वैदिक शाखा के स्वाध्याय पर बल देते हुए कहा है[3]। महर्षि पाराशर ने, वेद एवं धर्मशास्त्रों का अध्ययन अर्थसहित करना

---

१ शुद्धा पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक् सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे॥ (अथर्व० ६।१२२।५)

२ प्रथमं स्यान्महानाम्नी द्वितीयं स्यान्महाव्रतम्।
तृतीयं स्यादुपनिषद् गोदानाख्यन्ततः परम्॥ (गौतम धर्मसूत्र—८।२४)

३ पारम्पर्यगतो येषां वेदः सपरिबृंहणः।
यच्छाखाकर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं तथा॥ (महर्षि वशिष्ठ)

चाहिए, इस पर बल दिया है, क्योकि केवल पाठमात्र करना भूसी काटने के समान निष्फल होता है[1]। वेदाध्ययन एव अर्थसहित वेदाभ्यास की भूरि-भूरि प्रशसा की गयी है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने तो वेदाभ्यास को द्विजातियो के लिए मुक्तिदायक कहा है[2]। स्मृतिसारसमुच्चय मे वेदाध्यायी की प्रशसा करते हुए उसे वेदात्मा कहा है और उसके द्वारा उच्चरित प्रत्येक अक्षर को भगवत्सकीर्तन के समान माना है[3]।

वेदोक्त विधि से सम्पन्न किया गया वेदारम्भ-संस्कार छात्र या छात्रा को अखिल शास्त्र पारगत बनाकर इहलोक तथा परलोक का परम अधिकारी बना देता है। इस परमगति का अधिकारी बनने के लिए ही वेदाध्यायी को निम्नलिखित चार व्यूहो को पार करना पडता था—

(१) प्रथम व्यूह के अनुसार छात्र या छात्रा को अपने आचार्य के वचनो को वेदवाक्य मानकर उनका पालन करना तथा भगवान् और गुरु मे अभेद बुद्धि रखते हुए सेवारत रहना पडता था।

(२) शिष्य या शिष्या की अबाध, अगाध भक्ति से प्रसन्न होकर आचार्य जब हृदयालम्भन द्वारा उसे अध्यात्म, अधिदैव एव अधिभूत रूपी त्रिविध शक्ति प्रदान करता था, तो छात्र या छात्रा को दूसर व्यूह का सामना करना पडता था।

(३) तृतीय व्यूह के माध्यम से जीव अभ्युदय एव नि श्रेयस की अनुभूति करने लगता था, जिसे ब्रह्ममयी विद्यादेवी की कृपा मानकर वेदाध्यायी नतमस्तक हो जाता था।

(४) मृत्युपर्यन्त वेदाध्ययन का पवित्र सस्कार बना रहे, त्रिविध गुण (सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण) तथा त्रिविध वाक्, मन और क्रिया मे समन्वय बना रहे एवं आचार्य ऋण, देव-ऋण, पितृ-ऋण का ध्यान रहे, एतदर्थ उपनयन रूपी चतुर्थ व्यूह आवश्यक था।

---

१ वेदस्याध्ययन सर्वं धर्मशास्त्रस्य चैव हि।
अजानतोऽर्थं तद् व्यर्थं तुषाणा कण्डन यथा ॥ (महर्षि पाराशर)

२ वेद एव द्विजातीना नि श्रेयस्कर पर।
य य क्रतुमधीयीत तस्य तस्याऽऽप्नुयात् फलम् ॥ (महर्षि-याज्ञवल्क्य)

३ वदो यस्य शरीरस्थो न स पापेन लिप्यते।
वेदात्मा स तु विज्ञेय शरीरै किं प्रयोजनम् ॥
वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभि।
तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न सशय ॥ (स्मृतिसार-समुच्चय)

वेदारम्भ और नारी—

वेद को अपौरुषेय मानते हुए अथर्ववेद संहिता (१०।८।३२) में कहा गया है—"प्रभु का यह काव्य, रसमय उपदेश सदा अजर और अमर है[1]"। ऋग्वेदसंहिता (६।४५।६) में प्रजा अपने राजा की प्रशंसा करते हुए कहती है—"हे नृप! आपको लोग वीर कहते हैं, क्योंकि आप अपने प्रभाव से शत्रुओं को भी वेदभक्त बनाते हैं और उन्हें सन्मार्ग पर आरूढ़ करते हैं[2]"। यजुर्वेदसंहिता (३४।५८) में ईश्वर से प्रार्थना की गयी है कि—"हे प्रभो! आप वेद के नियामक हैं। आप हमारी सन्तति (पुत्र और पुत्री) को इस वेद ज्ञान से तृप्त करें, जिससे वह सम्पूर्ण संसार को इस ज्ञान का अधिकारी बना सके[3]"।

विचारणीय विषय यह है कि जिस वेद को भगवान् की वाणी कहा गया है, उस पर केवल कुछ लोगों का ही अधिकार क्यों और किसने मान लिया? भगवान् की प्रदत्त वस्तुएँ—चन्द्र, सूर्य, अग्नि, धूप, छाया, वायु आदि पर जब सभी को समान अधिकार है, तो फिर भगवान् की वाणी के मनन का अधिकार सभी को क्यों नहीं? क्या सम्पूर्ण विश्व को आर्य (श्रेष्ठ) बनाने वाला वेद भगवान् अपनी ही सन्तति स्त्री-समाज को संहिताओं के सस्वर पाठ से कभी वञ्चित कर सकता है? हमारे विचार से कभी नहीं, क्योंकि ऋग्वेद में स्वयं भगवान् का आदेश है कि बिना किसी भेदभाव के सभी को वेद-ज्ञान से आप्लावित कर आर्य बनाना चाहिए[4]।

(१२) समावर्तन-संस्कार—

ऋषिकुल या गुरुकुल में ब्रह्मचर्यव्रत के अनुपालन के साथ विद्याप्राप्ति के अनन्तर छात्र या छात्रा जब अपने आचार्य की अनुमति लेकर घर वापस लौटते थे, तो उस समय यह संस्कार सम्पन्न होता था। वस्तुतः 'समावर्तन' शब्द का अर्थ ही है "प्रत्यावर्तन", जैसा कि वीरमित्रोदय में कहा भी गया है[5]।

---

१ अन्तिमन्तं न जहात्यन्तिसन्तं न पश्यति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ (अथर्व० १०।८।३२)

२ नयसीद्वति द्विषः कृणोष्युक्थशंसिनः ।
नृभिः सुवीर उच्यसे ॥ (ऋ० ६।४५।६)

३ ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व ।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ (यजु० ३४।५८)

४ इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । (ऋ० ९।६३।५)

५ तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनानन्तरं गुरुकुलात् स्वगृहागमनम् । (वीरमित्रोदय)

"समावर्तन संस्कार" का दूसरा नाम "स्नान संस्कार" भी है। स्नान-संस्कार की पुष्टि अथर्ववेद-संहिता (११।५।२६) के उस मन्त्र से होती है, जिसमे ब्रह्मचारी की जाज्वल्यमान तपोमूर्ति को सागर के तट पर खड़ा हुआ वर्णित किया गया है। स्नान किये हुए भूरे एव लाल रग के स्नातक को अतीव प्रभावशाली कहा गया है[1]। ज्ञानार्णव को पार करने वाले व्यक्ति को पारगत कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुरु के सान्निध्य मे वैदिक संहिताओ के साथ समस्त ज्ञान जलधि को आलोडित करने वाला व्यक्ति स्नातक की उपाधि प्राप्त करता था। ज्ञान-सागर की तरल तरङ्गो से स्नात होने के कारण ही ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी दीक्षा के अधिकारी माने जाते थे। गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने से पूर्व यथाशक्ति तथा यथाभक्ति गुरुदक्षिणा भी देनी पडती थी। दीक्षान्त समारोह मे गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने का गुरु का स्पष्ट आदेश होता था[2]।

समावर्तन का समय २४वाँ या २५वाँ वर्ष होता था। इस समय तक स्नातक समाहित चित्त होकर वेदाध्ययन समाप्त कर लेता था। कूर्मपुराण मे समावर्तन-काल का निर्देश करते हुए ऐसा ही कहा गया है[3]। महर्षि याज्ञवल्क्य ने उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हुए कहा है—"समग्र वेदो का अध्ययन करके अथवा अपनी वशपरम्परा के अनुसार दो या एक वेद का ही सम्यक् अध्ययन करने के पश्चात् ही अस्खलित ब्रह्मचारी स्नातक सुलक्षणा स्त्री से पाणिग्रहण करे[4]"।

समावर्तन सस्कार वैदिक काल मे केवल उसी का होता था, जो सम्पूर्ण संहिताओ का एव ब्रह्मचर्यसम्बन्धी सभी नियमो का पालन करता था। किन्तु इस नियम मे शैथिल्य आता गया और लोगो को छूट मिलती गयी, जैसा कि पारस्कर-गृह्यसूत्र से स्पष्ट होता है कि बाद मे स्नातको के तीन भेद हो गये[5]। इन तीन स्नातक-भेदो में प्रथम व्रत-स्नातक होते थे, जो ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का तो पालन करने मे समर्थ होते थे, परन्तु उनकी विद्या अधूरी रहती थी। दूसरा भेद—विद्या-

---

१ तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमान समुद्रे।
स स्नातो बभ्रुपिङ्गल पृथिव्या बहु रोचते॥ (अथर्व० ११।५।२६)

२ आचार्याय प्रिय धनमाहृत्य प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी।

३ वेदान् वेदौ तथा वेदौ वेद वापि समाहित.।
अधीत्य चाधिगम्यार्थं तत स्नायाद द्विजोत्तम॥ (कूर्मपुराण)

४ वेद-व्रतानि वा पार नीत्वा ह्युभयमेव वा।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्या स्त्रियमुद्वहेत॥ (याज्ञवल्क्य-स्मृति)

५ त्रय स्नातका भवन्ति–विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्च। (पारस्कर-गृह्यसूत्र)

स्नातको का होता था जिसम विद्याध्ययन तो पूरा हो जाता था परन्तु व्रत-पालन म न्यूनता रह जाती थी। अन्तिम तृतीय भद—उभयस्नातको का था, जो व्रत और विद्या दोनो का पालन करते हुए परीक्षा म सफल होकर स्नातक उपाधि प्राप्त करते थे।

संहिता-काल—

ऋग्वेद-सहिता (३।८।४) म समावतन सस्कार के समय गुरु द्वारा दीक्षित स्नातक को समाज म उच्च दृष्टि से देखा जाता था[1]। इस मन्त्र म स्पष्ट है कि उस समय यज्ञोपवीतधारी सभी विद्याओ म निष्णात सुन्दरवस्त्रधारी युवक स्नातक को गृहस्थाश्रम म प्रवेश करने के बाद लोग समादरपूवक देखते थे। इसी कथन की पुष्टि अथववेद सहिता (११।५।६) के मन्त्र से होती है जिसम कहा गया है—दिव्य गुणो वाला स्नातक पूर्वाश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम) से समुद्र (गृहस्थाश्रम) को आता है[2]।

नारी और समावर्तन—

वेदाध्ययन के पश्चात् सहिताकाल मे नारी को भी पुरुष की तरह सुविधा थी, चाहे वह गृहस्थाश्रम म प्रवेश करे या नैष्ठिक जीवन व्यतीत करते हुए ब्रह्मवादिनी बनी रहे। महर्षि हारीत कृत मित्रोदय-सस्कारप्रकाश म इसी कथन की पुष्टि करते हुए स्त्रियो के दो भद—ब्रह्मवादिनी एव सद्योवाह का वणन किया गया है[3]। इस विषय पर प्रस्तुत ग्रथ के चतुथ अध्याय म वर्णित 'मन्त्रद्रष्ट्री नारियो का जीवन' द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

आश्रम मे प्रवेश हेतु तीन सस्कार

(१३) विवाह—

वैदिक-सहिताकाल मे विवाह को एक पवित्र सस्कार माना जाता था। ऋग्वदीय विवाहसूक्त तथा अथर्ववेद (१४।१।१३) स पता चलता है कि उस समय विवाह प्रथा का पूण विकास हो चुका था और उस समय वैवाहिक जीवन सत्य

१ युवा सुवासा परिवीत आगा स उ श्रयान भवति जायमान ।
त धीरास कवय उ नयन्त स्वाध्यो मनसा देवयन्त ॥ (ऋ० ३।८।४)

२ ब्रह्मचायति समिधा समिद्ध काष्ण वसानो दीक्षितो दीघश्मश्रु ।
स सद्य एति पूवस्मादुत्तर समुद्र लोकान् सगृह्य मुहुराचारिक्रत ॥ (अथव० ११।५।६)

३ द्विविधा स्त्रियो ब्रह्मवादिन्य सद्योवाहश्च ।
तत्र ब्रह्मवादिनी नामग्नीन्धन वदाध्ययन स्वगृहे च भिक्षाचर्येति ॥ (मित्रोदय सस्कारप्रकाश)

और कर्तव्य का प्रतीक माना जाता था[1]। ऋग्वेद-संहिता (१०।८५।२४) में स्पष्ट कहा गया है कि विवाह-संस्कार सत्य और कर्तव्य पर प्रतिष्ठित था[2]। विवाह दम्पति के आत्मा, मन, प्राण, शरीर को आध्यात्मिक सम्बन्ध द्वारा सुदृढ करने का एक चिरस्थायी प्रयत्न था।

स्नातक उपाधि से विभूषित बालक-बालिका अपने आचार्य के आदेशानुसार अपने को एकसूत्र मे बाँधते थे। भारतीय विवाह विज्ञान मे पति-पत्नी के सम्बन्ध को जन्म जन्मान्तर तक स्थायी बनाने के उद्देश्य से ही जल और अग्नि को साक्षी मानकर सङ्कल्प किया जाता है। वर वधू का हाथ मिलाकर शङ्ख से अविच्छिन्न जल धारा को प्रवाहित करने का विधान विवाह-पद्धति म मिलता है। इस विधि के पीछे बहुत बडा वैज्ञानिक महत्व छिपा हुआ है। बिछुडी दो वस्तुओ का सुदृढ सम्बन्ध जल और अग्नि के अभाव मे यदि असम्भव नही, तो कठिन अवश्य है। मिट्टी के घडे को ही लीजिए, यदि मिट्टी के कणो को जल से न भिगाया जाय, तो वे कण कभी भी घट का आकार नही बना सकते। घट का आकार बन जाने पर भी जब तक घट अग्नि म तपाया नही जायेगा, वह कभी भी सुदृढ नही होगा। घट की सुदृढता की तरह ही दाम्पत्य-जीवन का परिपक्वता क लिए भी हमार वैदिक ऋषि-महर्षियो ने जल और अग्नि का साक्ष्य आवश्यक माना था। जीवन की रेलगाड़ी चलान क लिए, उसम गति लान क लिए एव अन्तिम लक्ष्य (मोक्ष) तक पहुँचने के लिए विद्युत् या वाष्प (भाप) की आवश्यकता होती है, जो बिना प्रेम-जलधारा और तपरूपी अग्नि के उपलब्ध नही हो सकती।

भारतीय-वाङ्मय म "घट" शब्द शरीर का भी पर्याय माना गया है। ऐसा लगता है छात्र या छात्रा के इस घट का सौन्दयपूण आकार देन के लिए ही कुलाधिपतिरूपी कुलाल अपने चरित्ररूपी चाक पर चढाकर अनेक बार उसे घुमाता था, ताकि वह घट गृहस्थाश्रम म पहुँचकर पिपासु लोगो को प्यास अपने निर्मल एव शीतल जल से बुझा सके।

विवाह की यह महनीयता केवल हमारी ही धरोहर है। यदि हम अपनी इस परम्परा का तुलना अन्य देशवासियो की परम्परा से करेंगे, तो हम अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति तथा दूसरो की भागविलासमयी भौतिक प्रवृत्ति का अन्तर स्वत दिखाई देने लगेगा। उदाहरणस्वरूप म चीन-जापान के लोगो को लीजिए, जो एक फल को दो भागो मे बाटकर पति-पत्नी द्वारा एक दूसरे को खिलाने को ही विवाह पद्धति मानते

---

१. अथर्व० १४।१।१३।

२ ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके। (ऋ० १०।८५।२४)

हैं। इसी प्रकार जहाँ ईसाई धर्मावलम्बी लोग पुरोहित के सामने पति-पत्नी के आपसी मुख चुम्बन को ही विवाह मान बैठते हैं, वहीं दूसरी ओर मुसलमान भाई एक ही आसन पर बैठाकर एक ही पात्र में पति-पत्नी द्वारा भोजन करने को ही विवाह की पूर्णाहुति कहते हैं।

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता—

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के साधक गृहस्थाश्रम का महत्त्व वैदिककाल में उदात्तस्वरूप के साथ वर्णित है। ब्रह्मचर्याश्रम, वानप्रस्थाश्रम एवं सन्यासाश्रम तो केवल धर्म की साधना के ही साधनमात्र समझे जाते थे। एकमात्र गृहस्थाश्रम ही एक ऐसा स्रोत रहा है जिसने शेष तीन आश्रमवासियों का सदा भरण-पोषण किया है। ऋग्वेद-संहिता (३।५३।७) में सोमपायी इन्द्र की स्तुति करते हुए कहा गया है—'तुम अब अपने घर जाओ, जहाँ तुम्हारी कल्याणकारी पत्नी है'[1]। गृहस्थाश्रम के नियमों का पालन करने वाले गृहस्थ की सुख सुविधाओं का वर्णन ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में आया है। पति की आज्ञाओं का पालन करने वाली पत्नी (ऋग्वेद-१।१२२।२), सन्तति का प्रेमपूर्वक पालन करने वाली गृहिणी (ऋग्वेद ७।८१।४), पति के साथ आहुतियाँ देने वाली सहधर्मिणी (ऋग्वेद ८।४३।१५, ८।१३।१३) का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों की ओर उन्मुख करते हुए नववधू में ऋग्वेद-संहिता (१०।८५।२६-२७) में कहा गया है[2]।

वैवाहिक-प्रतिज्ञाएँ—

पति-पत्नी के सम्बन्धों को सुदृढ़ करने के लिये उनसे कुछ प्रतिज्ञाएँ करायी जाती थी। इन प्रतिज्ञाओं के पीछे यह रहस्य अन्तर्निहित था कि इस समाजरूपी रथ को चलाने में आप दोनों का समान अधिकार है। विवाह-मण्डप में कन्या ज्यों ही वर के सम्मुख आती था, त्यों ही कन्या का पिता बड़े ही विनम्रभाव से कहता था—"परस्पर समञ्जेयाथाम्"। इस कथन को सुनने के बाद वर और कन्या दोनों ऋग्वेद (१०।८५।४७) की ऋचा का पाठ करते हुए विभिन्न देवों से मंगल अभिलाषा करते थे[3]। इसके अनन्तर पापनाशिनी, यज्ञादि साध्य का साधनरूपिणी गोमाता

---

१ अस्ता सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते। (ऋ० ३।५३।७)

२. गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि इह प्रियं प्रजया ते समृध्यताम-स्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि॥ (ऋ० १०।८५।२६)

३ समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।
समातरिश्वा संधाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥ (ऋ० १०।८५।४७)

का दान होता था। लाजाहुति की समाप्ति पर सप्तपदी की प्रथा के समय वर अपनी पत्नी से कहता था और वह एक-एक पद निक्षेप करती थी। इस पदनिक्षेप में वर और वधू की प्रतिज्ञाएँ निहित थी, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

धन, धान्य, मिष्ठान्न, व्यञ्जनादि जो कुछ भी घर मे है, वह सब मेरे अधीन रहेगा। मैं मधुरभाषिणी, कुटुम्ब की रक्षिका, पति-परायणा होकर सदा आपके सुख-दुःख मे संगिनी रहूँगी। यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं मे मुझे आपको अपने साथ रखना होगा। हमारी इन प्रतिज्ञाओ के साक्षी स्वयं देवगण है। वधू की इन प्रतिज्ञाओं को स्वीकृति देता हुआ वर वधू को ध्रुवदर्शन कराता हुआ, उसके दाहिने कन्धे पर हाथ रखते हुए कहता था[1] कि हम दोनो पति-पत्नी स्वरूप, स्वभाव एवं बुद्धि से एक हो जायें, जिस प्रकार दो पानी की जलधाराएँ मिलकर एक हो जाती हैं।

साधिकार पत्नी की प्रतिज्ञाओ को स्वीकार करने के पश्चात् वर कन्या का हाथ पकड़ता था और ऋग्वेद-संहिता (१०।८५।३६) में वर्णित विषय को दुहराता था[2]। इसी स्त्री-पुरुष के समान अधिकार की पुष्टि करते हुए परवर्ती साहित्य (पारस्कर-गृह्यसूत्र—१।६।३) में कहा गया है—"हे वरानने! जैसे मैं तुझे ग्रहण करता हूँ, वैसे तू भी मुझे ग्रहण करने की अधिकारी हो। मैं सामवेद हूँ, तो तू ऋग्वेद है। तुम यदि पृथ्वी हो, तो मैं सूर्य हूँ। आओ हम दोनों मिलकर रहें, सन्तति उत्पन्न करें और एक दूसरे मे रुचि रखते हुए सौ वर्ष तक सुखमय जीवन-यापन करें"।

विवाह के प्रकार—

वैदिक-संहिता के परवर्ती साहित्य मनुस्मृति (३।२१) मे विवाह के ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस और पिशाच आठ भेद बताये गए हैं, जिनमें प्रथम चार भेदो की प्रशंसा एवं शेष चार प्रकारो की निन्दा की गयी है[3]। प्रशंसनीय भेदों मे (१) ब्राह्मविवाह मे वस्त्रालंकारादि से विभूषित कन्या का विवाह वैदिक-रीति से सुयोग्य वर के साथ किया जाता था, (२) दैवविवाह मे कन्या ऋत्विक् को उपहाररूप मे दान दी जाती थी, (३) आर्षविवाह मे वरपक्ष से दो गायें लेकर कन्या का पिता कन्यादान करता था, (४) प्राजापत्य-विवाह मे वर-

१ मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तं तेऽस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

२. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं, मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ (ऋ० १०।८५।३६)

३ ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ (मनु० ३।२१)

वधू को "तुम दोनो मिलकर गृहस्थाश्रम का पालन करो" इस सम्बोधन के साथ कन्या वर को दी जाती थी।

(५) आसुरविवाह मे कन्यापक्ष, वरपक्ष से धन लेकर कन्या देता था, (६) गान्धर्व-विवाह मे स्त्री-पुरुष की सम्मति ही विधि-विधान था, (७) राक्षस-विवाह मे कन्याग्रहण के लिए युद्ध, हत्या, आघात प्रतिघात होता था, (८) पैशाच-विवाह मे कन्या के साथ बलात्कार करने के पश्चात् विवाह होता था।

वैदिक संहिताओ मे विवाह-भेद—

ऋग्वेद-सहिता (१०।८५) के विवाहसूक्त मे ब्राह्मविवाह का सकेत है[1]। गान्धर्व विवाह का सकेत ऋग्वेद (१०।२७।१२, १।११९।५) मे पाया जाता है। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय-सहिता (६।१।६।५) मे "स्त्री कामा वै गन्धर्वा" कहा गया है, जिससे पता चलता है कि गन्धर्व जाति अपनी कामुकता के लिये प्रसिद्ध रही है। वहाँ विवाहो का विवरण भी उपलब्ध होता है[2]।

वैदिक-सहिताओ के मनन से पता चलता है कि उस समय विवाह सस्कार युवावस्था मे ही होता था। बाल-विवाह की प्रथा बिल्कुल न थी। ब्रह्मचर्य का पालन बालक-बालिकाओ के लिए अनिवार्य था, जिसकी अवधि पच्चीस वर्ष थी। परिपक्वावस्था से पूर्व लडकी का विवाह पूर्णतया निषिद्ध था। अपना जीवन सगी चुनने की पूरी छूट थी। सगोत्र विवाह की आज्ञा थी या नही, इस सम्बन्ध मे वैदिक-सहिताओ मे कोई स्पष्ट सकेत प्राप्त नही है।

ऋग्वेद (१०।२७।१२) से पता चलता है उस समय विवाह-योग्य किसी भी युवती को अपने मनोनुकूल वर चुनने की स्वतन्त्रता थी[3]। युवक और युवतियो मे पारस्परिक प्रेमालाप की अनेक घटनाएँ ऋग्वेदसहिता (७।६२।१, ९।५६।३, १०।३०।६) है। ऋग्वेदसहिता (१।११५।२, १।११७।१८, ९।३२।५) मे राक्षस एव पिशाच आदि जातिया मिलती है, जिनसे पता चलता है कि उस समय वैवाहिक स्वतन्त्रता थी। राजा पुरुमित्र की कन्या कमद्यु ने विमद ऋषि को स्वयवरसभा मे पति के रूप मे चुना था। स्वयवर मे आये अन्य लोगो ने विमद पर आक्रमण किया, जिसमे अश्विनीकुमारो

---

१ रैभ्यासीदनुदेयो नाराशसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम् ॥ (ऋ० १०।८५।६)

२. (क) सूर्यो देवीमुषस रोचमाना मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्। (ऋ० १।११५।२)
(ख) जार कनीन इव चक्षदान ऋज्राश्व: शतमेक च मेषान्। (ऋ० १।११७।१८)

३. कियती योषा मर्यतो वध्यो परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा स्वय सा मित्र वनुते जने चित् ॥ (ऋ० १०।२७।१२)

की सहायता से दम्पति के घर पहुँचने की कथा ऋग्वेद (१०।३९।७ तथा ११११६) सूक्त मे मिलती[1] है।

विवाह का प्रयोजन—

वैदिक संहिताकाल मे यज्ञ की प्रधानता थी। प्रकृति के विभिन्न स्वरूपो मे देवत्व की कल्पना कर हमारे महर्षियो ने वैदिक ऋचाओ द्वारा अग्नि मे आहुति देकर देवताओ को प्रसन्न करने का प्रयास किया। यज्ञो की पूर्णता के लिये पुरुष के साथ उसकी प्रणीता स्त्री का रहना अनिवार्य था। इस कथन की पुष्टि शतपथ-ब्राह्मण (५।६।१०) मे की गयी है[2]। पत्नी की व्युत्पत्ति करते हुए महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी (४।१।१३३) मे स्पष्ट कहा है—"पत्युर्नो यज्ञसयोगे" अर्थात् जो अपने पति के साथ यज्ञ मे उपस्थित रहे, उसे पत्नी कहा जाता है। इस प्रकार विवाह का प्रथम प्रयोजन था कि पुरुष अपने को इस संस्कार के बाद यज्ञ करने का अधिकारी मानता था।

विवाह का दूसरा महत्वपूर्ण प्रयोजन पुत्रप्राप्ति माना गया है। मनु ने तो अपनी रचना 'मनुस्मृति' (९।२८) म पुत्रप्राप्ति को विवाह का सर्वोत्तम प्रयोजन स्वीकार किया है[3]। वैदिक सहिताओ मे कहा गया है कि सन्तति विहीन स्त्री और पुरुष दानो अपूर्ण हैं। ऋग्वेद-सहिता (११९०।२०, ३।१।२३, १०।८५।४५) मे विभिन्न देवताओ से बहुपुत्रवान् होने की प्रार्थनाएँ की गयी है[4]। ऋग्वेद के अतिरिक्त अथर्ववेद-सहिता (१४।१।९४, १३।१।१९, १८।३।१७, १९।७।११, ७।३३।१, ७।८१।५) म भी पुत्रोत्पत्ति की कामनाएँ की गयी है। पुत्र का इच्छा का होना स्वाभाविक भी था, क्योकि पिता के दाह सस्कार एवं वश-परम्परा को सुरक्षित रखने हेतु पुत्र की आवश्यकता होती है।

"रति" को विवाह का तृतीय एव अन्तिम प्रयोजन स्वीकार किया गया है। वस्तुत कामवृत्ति मनुष्य का प्रमुख नैसर्गिक प्रवृत्ति है। ऋग्वेद सहिता (१०।१७९-१४) मे अगस्त्य-लोपामुद्रा के सवाद स पता चलता है कि विवाह का "रति" प्रमुख प्रयोजन है, क्योकि इसके बिना सन्तति हो ही नही सकती[5]।

---

१ (क) युव रथन विमदाय शुन्ध्युव न्यूहथु पुरुमित्रस्य योषणाम् ॥ (ऋ० १०।३९।७)
(ख) यावभगाय विमदाय जाया सेना जुवा न्यूहतू रथेन। (ऋ० १।११६।१)

२ अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीक.। (शतपथ ब्राह्मण—५।१।६।१०)

३ अपत्य धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्ग पितृणामात्मनश्च ह ॥ (मनु० ९।२८)

४ इमा त्वमिन्द्र मीढ्व सुपुत्रा सुभगा कृणु।
दशास्या पुत्राना धेहि पतिमेकादश कृधि ॥ (ऋ० १०।८५।४५)

५ ऋ० १०।१७९।१-४।

निष्कर्ष यह है कि वैदिक-संहिताकाल मे स्त्री-पुरुष की सभी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एव बौद्धिक वैवाहिक-क्रियाएँ धर्मप्रवृत्ति से नियन्त्रित थी। दम्पति अपने मधुर समन्वय एव सामञ्जस्य से पृथिवी को स्वर्ग बनाने मे सचेष्ट रहते थे। गृहस्थाश्रम मे किया गया यज्ञ प्राणिमात्र की भलाई के लिये होता था। पुत्रोत्पत्ति की अभिलाषा "पुनाति पित्रादीन्" या "पुम् नाम नरकात् त्रायते इति पुत्र." अथवा "पुत. त्रायते इति पुत्र" के भाव को सार्थक करती थी। "पुत्" शब्द यहाँ नर्क या मनुष्य की नपुसकता, निर्बलता, अक्षमता का द्योतक है, जिससे सन्तानोत्पत्ति के बाद ही मनुष्य त्राण पा सकता है[1]। मनुस्मृति (९।९६) मे तो यहाँ तक कहा है कि स्त्री-पुरुष की सृष्टि ही माता पिता बनने हेतु हुई है[2]। अतृप्त कामवासनाओ पर नियन्त्रण रखते हुए पुत्रोत्पत्ति हेतु रति मे प्रवृत्त होना ही श्रेयस्कर माना जाता था। कामसूत्र (१।५।१) मे सवर्णा-पत्नी के प्रति जागृत "रति" को "पुत्रीय" कहा गया है[3]। रतिपरक विवाह के उद्देश्यो मे स्पष्ट कहा गया है कि—स्वविवाहिता स्त्री के अतिरिक्त किसी भी अन्य स्त्री से यौन-सम्बन्ध पाप है। बात पूर्णतया सत्य है, क्योकि रतिजन्य सन्तति सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण कही गयी है—"अपत्य नाम लोकेषु प्रतिष्ठा धर्मसहिता"।

नियोग—

नियोग शब्द का अर्थ है किसी नि सन्तान पत्नी का या विधवा स्त्री का पूर्वनिर्धारित पुरुष के साथ सभोगसम्बन्धी सम्पर्क। पुराणो मे वर्णित वृत्तान्तो से सिद्ध होता है कि महर्षि दीर्घतमस्, कक्षीवान् आदि नियोग द्वारा उत्पन्न हुए थे। ऋग्वेद सहिता (१।१६७।५-६) मे भी नियोग सम्बन्धी सकेत मिलते है[4]। नियोग द्वारा उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज कहलाता था। लगता है वैदिककाल के बाद इस प्रथा का धीरे-धीरे परवर्ती काल मे अन्त हो गया।

---

१ पुदिति नरकस्याख्या दु ख च नरक विदु ।
पुदि त्राणात् तत पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च ।
तस्मात् पुत्रमनुशिष्ट लोक्यमाहु इति ॥ (व्यासस्मृति–४।४३)

२. प्रजनार्थं स्त्रिय सृष्टा सन्तानार्थं च मानव. ।
तस्माद् साधारणो धर्म श्रुतौ पत्न्या सहोदित । (मनु० ९।९६)

३ प्रयुज्यमान पुत्रीयो यशस्यो लौकिकश्च भवति। (कामसूत्र)

४. (क) जायद्योमसूर्या सचध्यै विषितस्तुका रोदसी नृम्णा ।
आसूर्येव विधतो रथ गत्त्वेषप्रतीका नभसो नेत्या ॥ (ऋ० १।१६७।५)
(ख) आस्थापयन्तयुवति युवान शुभे नमिश्लां विदथेषु प्रजाम् ॥ (ऋ० १।१६७।६)

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में नियोग प्रथा का समर्थन करते हुए अनेक ऋग्वेदीय मन्त्रों को उद्धृत किया है। पाश्चात्य विद्वान् मैक्डानल एवं कीथ ने भी ऋग्वेद-संहिता (१०।४०।२) को आधार मानकर नियोग प्रथा का समर्थन किया है[1]। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।१०।२७।३) में तो नियोग प्रथा का खुलकर समर्थन करते हुए कहा गया है—"स्त्री कुल के लिये दी जाती थी, अतः यदि किसी कारणवश सन्तति उत्पन्न करने में परिवार का सदस्य सक्षम नहीं होता था, तो स्त्री को अधिकार था कि वह सन्ततिलाभ हेतु परपुरुष से संयोग कर सकती थी[2]।

नियोग प्रथा के उपर्युक्त समर्थन के पश्चात् भी आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।६।१३।५, २।६।१३।७-८, २।१०।२७।७) में नियोग की निन्दा की गयी है। इसकी पुष्टि करते हुए डॉ० उपाध्याय ने अपनी रचना 'वोमेन इन ऋग्वेद' (पृ० ९८-१००) में नियोग-प्रथा के विरोध में दो तर्क दिये हैं—(१) आर्य जाति के लोग इतने सक्षम थे कि उन्हें सन्तानोत्पत्ति के लिये परपुरुष की अपेक्षा नहीं थी, (२) वैदिककाल में विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित थी, अतः पुनर्हीन विधवा को नियोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति की बाध्यता नहीं थी।

विधवा विवाह—

वैदिक-संहिताओं में प्रायः युवा विवाह का ही प्रचलन था, इसलिये विधवा-विवाह या पुनर्विवाह का प्रश्न महत्त्वहीन समझा जाता था; तथापि यह नहीं कहा जा सकता है कि वैदिककाल में विधवा विवाह या पुनर्विवाह नहीं होते थे। ऋग्वेद-संहिता (१०।८५।४१) से स्पष्ट है कि उस समय पुनर्विवाह प्रचलित था। ऋग्वेद-संहिता (१०।९३।१४) में राजा वेन का उल्लेख है, जिसे ऋग्वेद-संहिता (१।११२।१५) में पृथी या पृथु भी कहा गया है। यह वह वेन राजा है, जिसके बारे में मनु ने स्पष्ट लिखा है कि उसने विधवाओं का जबरदस्ती पुनर्विवाह करवाया था। ऋग्वेद-संहिता (१०।१८।८) में एक विधवा स्त्री को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि तुम मृत पति को छोड़कर भावी पति को प्राप्त करो[3]। महर्षि यास्क ने तो निरुक्त (३।३।१५) में देवर शब्द का अर्थ द्वितीय वर किया है, जिससे स्पष्ट होता है कि प्रथम पति के

---

१ कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥ (ऋ० १०।४०।२)

२ कुलाय हि स्त्री प्रदीयत इत्युपदिशन्ति । (आपस्तम्ब-धर्मसूत्र—२।१०।२७।३)

३ उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सम्बभूथ ॥ (ऋ० १०।१८।८)

कालग्रस्त हो जाने पर द्वितीय विवाह की प्रथा थी[1]। अथर्ववेद-संहिता (९।५।२७ २८) से भी विधवा विवाह या पुनर्विवाह की पुष्टि होती है[2]।

विवाह विच्छेद—

वैदिक संहिताओं में कहीं भी विवाह-विच्छेद के संकेत उपलब्ध नहीं हैं। इससे यह पूर्णतया स्पष्ट है कि उस समय पति पत्नी एक बार प्रणयसूत्र में बँध जाने के बाद अलग नहीं होते थे। दाम्पत्य-सम्बन्ध को विच्छेद करने में स्वेच्छाचारिता, नैतिकता-ह्रास एवं व्यभिचार आदि दुर्गुण ही प्रधान कारण होते हैं, जिनकी वैदिक-संहिताओं में कड़े रूप से निन्दा की गयी है। विवाह-संस्कार की धार्मिकता का स्वरूप भी पारस्परिक अलगाव में बाधक था, क्योंकि अपत्नीक व्यक्ति को यज्ञ करने के अधिकार से वंचित समझा जाता था और पति से द्वेष रखने वाली स्त्री को "कुलटा" कहकर समाज बहिष्कृत कर देता था।

मनुस्मृति (८।३७१) में तो विवाह-विच्छेद करने वाली स्त्री को जनसमूह के सामने व्यभिचारिणी समझकर कुत्तों से कटवाने का विधान किया गया है। इसी प्रकार पुरुष की स्वेच्छाचारिता के लिये उसे नाक, कान से रहित कर देश निष्कासन अथवा जलती हुई लोहे की खाट पर लिटाकर मार डालने का आदेश मनु भगवान् ने अपनी रचना मनुस्मृति (८।३५२, ८।३७२) में दिया है। स्मृतियों, सूत्रग्रन्थों एवं नाटक तथा काव्यों में भी विवाह विच्छेद की चर्चा नहीं है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र (३।२।१७–१९) में विवाह विच्छेद की चर्चा अवश्य है, जिसमें कहा गया है कि जब दोनों स्त्री-पुरुष द्वेष करते हों तो उन्हें अलग किया जा सकता है।

बहुविवाह प्रथा

बहुपतित्व—

वैदिक-संहिताओं में बहुपतित्व अर्थात् एक स्त्री के एक से अधिक पति होने का कहीं भी स्पष्ट संकेत नहीं मिलता। वेबर आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने ऋग्वेद संहिता (१०।८५।३७, ३८) में अथवा अथर्ववेद संहिता (१४।१।४४, ५२, ६१, १४।२।१४, २७) में एक स्त्री के प्रसंग में पति के लिए बहुवचनान्त शब्द देखकर यह कल्पना कर ली है कि उस समय एक स्त्री एक ही समय अनेक पतियों को पति के

---

१ विधवेव देवर दवर तस्माद्द्वितीयो वर उच्यते ॥ (निरुक्त–३।१।३।१५)

२ या पूर्वं पतिं वित्वाथान्य विन्दतेऽपरम्।
पञ्चौदन च तावज ददातो न वि योषत ॥
समानलोको भवति पुनर्भुवाऽपर पति ।
योऽज पञ्चौदन दक्षिणाज्योतिष ददाति ॥ (अथर्व० ९।५।२७-२८)

रूप में रखती थी। वस्तुतः उपर्युक्त प्रसगो मे आया बहुवचनान्त पद, पति के प्रति आदरसूचक होने के कारण प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद-संहिता (१।१६७ ४, ५, ६) मे कहा गया है कि एक स्त्री के साथ दो पति रहते थे। हो सकता है वह स्त्री वारागना हो। इसलिये ऐसे प्रसगो को यदि सत्य भी मान लिया जाये, तो उसे प्रमाणकोटि मे नही रखा जा सकता।

एक काल मे एक पति और एक ही पत्नी होने की पुष्टि ऋग्वेद-सहिता (१०।८५।४२) से होती है, जिसमे स्पष्ट रूप से कहा गया है—"तुम दोनो पति-पत्नी इस घर मे रहो और एक दूसरे से पृथक् मत होवो। पुत्र-पौत्रो के साथ घर मे आनन्द लेते हुए आप दोनो पूर्ण आयु (सौ वर्ष) को प्राप्त कर[१]। इस मन्त्र मे "स्तं, यौष्टं, अश्नुत, क्रीडन्तौ, मोदमानौ" सभी विशेषण द्विवचनान्त हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि उस समय तक बहुपतित्व की या बहुपत्नीत्व की प्रथा प्रचलित नही थी।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि अथर्ववेद-सहिता (१४।२।६४) से भी होती है, जिसमे इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहा गया है—"हे देवराज इन्द्र ! इस जीवन मे इस दम्पति को अच्छी प्रेरणा दो और ये दोनो चकवा-चकवी की तरह प्रेम करते हुए सुसन्तति के साथ पूर्ण आयु का उपभोग करें[२]"।

बहुपत्नीत्व-प्रथा—

यद्यपि वैदिक सहिताकाल मे प्रायः एकपत्नी विवाह को आदर्श विवाह की सज्ञा दी गयी है, फिर भी बहुपत्नी की प्रथा से इन्कार नही किया जा सकता। ऋग्वेद सहिता (१।६२।११, १।१०४।३, १।१०५।८, १।१८६।७) इत्यादि के स्थलो पर एक से अधिक स्त्रियो का एक पुरुष के साथ वैवाहिक सम्बन्ध उल्लिखित है। तैत्तिरीय-सहिता (६।५।१।४) मे तथा मैत्रेयी-सहिता (१।५।८) के अनुसार मनु की दस स्त्रियो की बात प्रमाणित होती है।

बहुपत्नीत्व की प्रथा बहुधा सम्पन्न घरो मे ही सीमित थी। सपत्नियो का पारस्परिक द्वेष ही कुल या परिवार के कलह का कारण बनता था। एक स्त्री अपनी सपत्नी के विनाश के लिये अभिचार प्रयोग करने मे भी सकोच नही करती

---

१ इहैव स्त मा वि यौष्ट विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ (ऋ० १०।८५।४२)

२. इहेमाविन्द्र स नुद चक्रवाकेव दम्पती ।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ (अथर्व० १४।२।६४)

थी। ऋग्वेद संहिता (१०।१४५।१–६) के इस सम्पूर्ण सूक्त में सपत्नी (सौत) को अधीनस्थ करने, उसे क्लेश पहुँचाने एवं उसे निर्बल करने की प्रार्थना लतारूपिणी औषधि से की गयी है। इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में एक स्त्री अपने पति के तकिये के नीचे औषधि रखते हुए कहती है—"हे स्वामिन्! यह शक्तिशाली औषधि मैंने तुम्हारे सिरहाने के नीचे रखी, ताकि तुम्हारा मन मेरी ओर उसी तरह उन्मुख हो, जिस प्रकार गौ अपने बछड़े की ओर तथा जल नीचे की ओर प्रवृत्त होता है"[1]। इसी प्रकार ऋग्वेद-संहिता (१०।१५९।१–६) के इस सम्पूर्ण सूक्त में एक स्त्री बड़े गर्व से कहती है कि उसने अपनी सभी सपत्नियों को पराभूत कर दिया है एवं अपने पति को वश में कर लिया है। इसी सूक्त के पांचवें और छठें मन्त्र में तो उसकी स्पष्ट घोषणा है कि 'वह अन्य सपत्नियों के गर्व को उसी तरह चूर्णित करती है, जिस प्रकार निर्बल व्यक्ति के धन को शत्रु नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। सपत्नियों पर पूर्ण विजय प्राप्त करने तथा सम्पूर्ण परिवार को अपने वश में रखने की बात भी बड़े गर्व से कही गयी है[2]।

इसी प्रकार के विवरण अथर्ववेद-संहिता (३।१८।१–६) तथा तैत्तिरीय संहिता (६।५।१।४ ६।६।४।३) में भी उपलब्ध है जिनसे बहुपत्नीत्व की पुष्टि स्वतः सिद्ध हो जाती है।

उपसंहार—

वैदिक संहिताकालिक विवाह की आधारशिला सत्य एवं सतीत्व पर प्रतिष्ठित थी। इस वैवाहिक आधारशिला को सुदृढ़ करने हेतु वाग्दान, कन्यादान, अग्निसाक्ष्य, पाणिग्रहण अग्नि-प्रदक्षिणा, लाजाहोम एवं सप्तपदी आदि प्रमुख क्रियाएँ सम्पन्न की जाती थी। विवाह प्रायः ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर ही बालक-बालिकाओं का होता था। बाल्यविवाह का पूर्णतया निषेध था। अनुलोम (उच्च-वर्ण के युवक द्वारा निम्न वर्ण की कन्या से) विवाह एवं प्रतिलोम—(उच्च वर्ण की कन्या द्वारा निम्न वर्ण के युवक से) विवाहों का प्रचलन वैदिक-संहिताकाल में मर्यादित ढंग से था। इसके अतिरिक्त वैदिककाल में पच्चीस वर्षीय युवक एवं षोडश वर्षीय युवती के अन्तर्जातीय विवाह के संकेत भी मिलते है। वस्तुतः वैदिक-संहिता कालीन समाज, वैवाहिक पद्धति हेतु व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो पहलुओं पर विचार को प्रश्रय देता था।

---

१ उप त वा संहमानामभि त्वाधा सहीयसा।
मामनु प्रते मनो वत्सं गौरिव धावतु तथा वारिव धावो तु॥ (ऋ० १०।१४५।६)

२ समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी।
यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च॥ (ऋ० १०।१५९।६)

वैदिक कालीन विवाहपद्धति की प्रशंसा करते हुए भारत के मनीषी विद्वान् डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने ठीक ही कहा है—"स्त्री और पुरुष, इन दोनों के मिलन की संज्ञा ही विवाह है; क्योंकि उस विवाह मण्डप में वर-वधू के रूप में पितृत्व एवं मातृत्व दोनों रूप उपस्थित होते हैं"। वस्तुत: वैदिक संहिताकाल में नारी-समाज को अत्यधिक आदर देने की भावना थी। उसी सम्मान का ही प्रभाव था कि ऋग्वेद में उसे घर की रानी और साम्राज्ञी कहा गया है।

वैदिक-कालीन विवाह की पवित्रता, उदारता, अविच्छेद्यता की प्रशंसा करते हुए पाश्चात्य विद्वान् फ्रेडरिक पिनकॉट ने ठीक ही कहा है—'हिन्दुओं का विवाह-बन्धन टूटने के लिये नहीं, अपितु वैदिक-संहिता के मन्त्रों द्वारा लोक-परलोक को बाँधने के लिये होता था"। पाश्चात्य जगत् के सम्मानित विद्वान् रथफोर्ड ने भी वैदिक विवाहपद्धति की सराहना करते हुए कहा है—"हिन्दुओं की विवाह-प्रथा सुखद है, क्योंकि इसमें स्वार्थ कम और सार्वभौमिकता के भाव अधिक हैं। हिन्दू-नारियों की इस पवित्रता की तुलना विश्व के किसी भी समाज की स्त्री से नहीं की जा सकती"।

नारीचरित्र की उपर्युक्त उदारता, शालीनता, तन्मयता के पीछे नि:सन्देह आदर्श विवाहपद्धति को ही कारण माना जा सकता है, जिसके कारण आज भी भारत भारत बना हुआ है।

(१४) वानप्रस्थ-संस्कार—

वैदिक संहिताओं में यद्यपि वानप्रस्थ-संस्कार के स्पष्ट संकेत दृष्टिगोचर नहीं होते, तथापि कुछ ऐसे लक्षण हैं, जिनसे पता चलता है कि गृहस्थाश्रम के बाद मानव तृतीय-आश्रम में प्रवेश करता था। इसी तृतीय आश्रम को ही वानप्रस्थाश्रम कहा जाता था, जिसका आभास अथर्ववेद-संहिता (९।५।१) से मिलता है, जिसमें कहा गया है—"हे भद्र! इस तृतीय आश्रम की ओर अपने को ले आओ। पुण्यात्माओं द्वारा देखने योग्य इस आश्रम को आरम्भ करो और अपने कर्तव्यों का भली प्रकार ज्ञान करते हुए इस आश्रम को स्वीकार करो। विभिन्न प्रकार के दु:खादि सन्तापों वाले गृहस्थाश्रम को पार कर इस गतिशील, आनन्ददायक, त्यागशील तृतीय आश्रम को अपनाओ"[1]।

जीवन की इस तृतीयावस्था में पदार्पण करने से पूर्व स्त्री या पुरुष को दारैषणा, वित्तैषणा आदि का परित्याग करना पड़ता था। इस जीवन में मनुष्य अपने

---

१ आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम्॥ (अथर्व० ९।५।१)

अनुभवो के आधार पर जीवन की रहस्यमय गुत्थियो को सुलझाने के उपायो का पता लगाता था। अपने तप, त्याग से दूसरे लोगो के सामने एक उदाहरण प्रस्तुत करता था, जिससे नि श्रेयस् (मोक्ष) की उपलब्धि होती थी।

मनु सहिता मे वानप्रस्थ मे प्रवेश करने वाले व्यक्ति के लिये कहा गया है कि—"स्नातक गृहस्थाश्रम का विधिपूर्वक पालन करने के बाद जितेन्द्रिय होकर वानप्रस्थाश्रम मे प्रवेश करे। वार्द्धक्य के लक्षण देखते ही मनुष्य वानप्रस्थ हो जाये। गृहस्थाश्रम का परित्याग कर, अपनी धर्मपत्नी को साथ लेकर वानप्रस्थी वन मे निवास करे"[1]।

भिक्षावृत्ति का आश्रय लेते हुए जो शान्त स्वभाव वाले लोग वन मे निवास करते हुए तपश्चर्या का जीवन यापन करते है, वे अन्त मे उत्तरायण पथ से ब्रह्मलोक मे प्रवेश करते हैं[2]।

वैदिक-सहिताओ मे यति मुनि-वर्णन—

ऋग्वेद महिता (१०।१३६।१-२) मे केशी नामक मुनि का वृत्तान्त उपलब्ध है और उनके साथ अन्य मुनियो के प्रभाव का वणन करते हुए कहा गया है— ये वातरसन वशज ऋषि पीतवस्त्र धारणकर देवत्व को प्राप्त करते थे[3]। इस सूक्त मे आगे मुनि स्वय कहते हैं कि उन्होने सभी गृहस्थ सम्बन्धी लौकिक व्यवहारो का परित्याग कर दिया है। सूक्त के अन्त मे इन मुनिया को सबका मित्र और सुख देने वाला कहा गया है।

ऋग्वेद-सहिता (७।५६।८) मे मुनि पद का उल्लेख है और ऋग्वेद सहिता के (८ १७।१४) सूक्त मे इन्द्र को मुनियो का सखा (मित्र) कहा गया है[4]। तैत्तिरीयसहिता (६।२।७।५) म यतिरूपी वानप्रस्थिया का वणन उपलब्ध है।

---

१ सन्त्यज्य ग्राम्यमाहार सर्वं चैव परिच्छदम।
पुत्रषु भार्या निक्षिप्य वन गच्छत् सहैव वा ॥ (मनु०)

२ तप श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये,
शान्ता विद्वामो भैक्षचर्या चरन्त ।
सूर्यद्वारण ते विरजा प्रयान्ति,
यत्रामृत स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥

३ मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसत मला।
वातस्यानु ध्राजि यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ (ऋ० १०।१३६।२)

४ वास्तोष्पते ध्रुवा स्थूणा सत्र सोम्यानाम्।
द्रप्सो भेत्ता पुरा शश्वतीनामिन्द्रो मुनीना सखा ॥ (ऋ० ८।१७।१४)

अथर्ववेद सहिता (८।६।१७) मे "जटाभिस्तापस." कहकर एव इसी सहिता के (१९।४१।१) अनुसार ऋषियो की तपश्चर्या की पुष्टि होती है[१]।

उपर्युक्त वैदिक सहिताओ के केशी नामक मुनि तथा अन्य पीतवस्त्रधारी वातरसन वश के मुनियो के नामोल्लेख से स्पष्ट है कि लोग गृहस्थाश्रम के पश्चात् वनो मे जाकर तपस्या करते थे। उत्तर-वैदिक साहित्य मे इन्ही वैदिक सकेतो को आधार मानकर वानप्रस्थाश्रम की विशेष व्यवस्थाएँ की गयी। वानप्रस्थाश्रम को निवृत्ति मार्ग का द्वार मानकर ही सन्यास-आश्रम का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। ऐसा लगता है हमारे वैदिक महर्षियो ने जीवन के अन्तिम आश्रम मे प्रवेश करने की तैयारी हेतु वानप्रस्थ-आश्रम को उसी प्रकार प्रमुखता दी होगी, जिस तरह गृहस्थाश्रम के प्रवेश से पूर्व ब्रह्मचर्याश्रम को। यही वह आश्रम है जिसमे मानव प्रकृति और ब्रह्म का सम्बन्ध स्थापित करता था। ऋग्वेद-सहिता (१०।१२९।४) से इसी कथन की पुष्टि होती है[२]।

(१५) सन्यास संस्कार—

वैदिक सहिताओ मे सन्यास-सस्कार का कही भी स्पष्ट उल्लेख नही है। अवस्था विशेष द्वारा प्राप्त वैदिक सकेतो के आधार पर ही "सन्यास"-आश्रम की चर्चा परवर्ती साहित्य मे प्राप्त होती है। यजुर्वेद-सहिता (२०।२४) मे सन्यस्त व्यक्ति के अग्निहोत्रादि कर्मपरित्याग एव श्रद्धाव्रतादिपरिपालन के सकेत है, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ के पश्चात् चतुर्थाश्रम किसी न किसी रूप मे प्रचलित था, जहाँ मनुष्य-जीवन का अन्तिम लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त करता था[३]।

आधिभौतिक, आधिदैविक एव आध्यात्मिक ये तीन भाव ब्रह्म के है, जो ससार की प्रत्येक वस्तु मे और जीव मे दृष्टिगोचर होते है। इन तीनो भावो की शुद्धि साधक क्रमश निष्काम कर्म द्वारा, उपासना एव ज्ञान द्वारा करता है। वस्तुत यही भाव शुद्धि निवृत्ति की पूर्ण चरितार्थता है। निवृत्तिरूपी साध्य की प्राप्ति के साधन निष्काम-कर्म, उपासना एव ज्ञान का अनुष्ठान माने गये हैं। इन्ही साधनो का साधक संन्यासी एव उसका विश्रामस्थल सन्यास-आश्रम माना गया है, क्योकि यही पर

१ भद्रमिच्छन्त ऋषय स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे। (अथर्व० १९।४१।१)

२. सत. बन्धुमसति निरविन्दन्।
हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ (ऋ० १०।१२९।४)

३ अग्न्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रत च श्रद्धा चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥ (यजु० २०।२४)

स्थित होकर सन्यासी अपनी सत्ता का विराटस्वरूप उस परमसत्ता मे विलीन करता है। जिस योग साधन एव वैराग्य का वानप्रस्थ मे आरम्भ होता है, उसकी परिणति सन्यास आश्रम मे होती है। अथर्ववेद-सहिता (१०।२।२६) मे इसी आत्म परमात्म तत्त्व के मौलिक योग का वर्णन करते हुए कहा गया है[1]।

वैदिक-परम्परा के अनुसार मानव अपने जीवन की चतुर्थावस्था मे मोक्षपद पाने हेतु सम्पूर्ण ससार को भगवान् का रूप मानकर निष्काम भाव से जगत् की सेवा मे प्रवृत्त होता था। सन्यास आश्रम मे मुक्ति पाने का प्रथम सोपान निष्काम-सेवा को माना गया है, जो परमात्मा का "सत्" स्वरूप है। इसी प्रकार उपासना को द्वितीय सोपान कहा गया हे, जो परमात्मा का आनन्दस्वरूप है एव ज्ञान को प्रभु का "चित्" स्वरूप माना गया है, जो मुक्ति का अन्तिम एव तृतीय सोपान है।

(१६) अन्त्येष्टि-संस्कार—

वैदिक सहिताओं मे मानव-जीवन के पार्थिव शरीर के इस अन्तिम सस्कार का विशद वणन उपलब्ध होता है। मरणासन्न व्यक्ति का उद्बोध करते हुए यजुर्वेद-सहिता (४०।१५) मे बडे ही मार्मिक स्वर म कहा गया है—'हे कर्मशील जीव! अब ईश्वर का स्मरण करो, अपने किये कर्मो को स्मरण करो। यह शरीर अब भस्मान्त होने वाला है[2]"। इसी भस्मान्त होने वाले कथन की पुष्टि मे अथववेद सहिता (११।८।३१) मे कहा गया है कि "इस स्थूल शरीरधारी जीव की नेत्र शक्ति को सूर्य एव प्राण को वायु पृथक् कर देते है। इसके पश्चात् स्थूल शरीर को लाग जला देते है[3]।

अन्त्यष्टि संस्कारसम्बन्धी क्रिया कलापो का उल्लेख ऋग्वेद-सहिता और अथववेद सहिता मे विशेषरूप से मिलता है। अथर्ववेद-सहिता मे तो एक पूरा काण्ड ही इस विषय पर प्रकाश डालता है। इस काण्ड के अनुसार मृतक व्यक्ति का शव नगर या गाव के बाहर उसके सम्बन्धी लोग लाते थे। शव के साथ सिर के बाल बिखरायी हुई, रुदन करती हुई स्त्रियाँ भी जाती थी। शवदाह के पश्चात् अस्त व्यस्त

---

१ मूर्धानमस्य ससीव्याथर्वा हृदय च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्व प्रैरयत पवमानोधि शीषत ॥ (अथर्व० १०।२।२६)

२ वायुरनिलममृतमथेद भस्मान्त शरीरम्।
ओम् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृत स्मर ॥ (यजु० ४०।१५)

३ सूर्यश्चक्षुर्वात प्राण पुरुषस्य विभेजिरे।
अथास्येतरमात्मान देवा प्रायच्छन्नग्नये ॥ (अथर्व० ११।८।३१)

अथर्ववेद संहिता (१८।३।५७) के अनुसार मृतात्मा के घर की स्त्रियो के लिये प्रार्थना की जाती थी कि वे वैधव्यशून्य होकर अच्छी सन्तान को उत्पन्न करने वाली हो[1]।

समाधि-पद्धति—

इस पद्धति से मृतक को गाव या नगर के समीपस्थ बाहर एक गड्ढे मे, जिसकी लम्बाई चार पग, चौडाई तीन पग एव गहराई नाभि पर्यन्त होती थी, गाड दिया जाता था। समाधिस्थ करने से पहले अथर्ववेद-संहिता (१८।२।१९) के अनुसार शव के सरक्षण हेतु भूमि से प्रार्थना की जाती थी कि—"हे भूमि ! तुम प्रसन्न चित्त से इस शव को निवास हेतु अपनी गोद मे शरण दो"। गुजरात प्रान्त के लोथल स्थान पर हुए उत्खनन से ऐसी समाधियाँ मिली है, जिनम दो दो शवो के अस्थि पञ्जर भी मिले है। इसस यह अनुमान लगाना युक्तिसगत प्रतीत होता है कि उस समय पुरुष के साथ स्त्री या स्त्री के शव क साथ पुरुष भी समाधिस्थ होता रहा होगा।

समाधिस्थ मृतक के साथ भोज्य सामग्री भी रखने का विधान मिलता है। शव को गड्ढ म रखने के बाद गड्ढा पाट दिया जाता था। मिट्टी से पाटत समय पृथिवी से प्रार्थना की जाती थी, जैसा कि अथववेद-संहिता (१८।२।५०, १८।२।५१) के मन्त्रो से स्पष्ट है[2]।

अस्थिनिखात पद्धति—

इस पद्धति मे शव को पहले खुले मैदान म रख दिया जाता था, ताकि उसके मास आदि स कौवे आदि जीव अपनी भूख मिटा सकें। कुछ दिन के बाद मृतक का अस्थि-सग्रह किया जाता था। इस कार्य को मृतक का ज्येष्ठपुत्र ही करता था। अस्थि सचय म सावधानी का वणन करते हुए अथववेद-संहिता (१८।३।९) मे कहा गया है[3]। अस्थिपजर को निखात (समाधिस्थ) करने से पूर्व सैकडा छिद्र वाले घी के घडे मे नहलाये जाने की चर्चा भी अथववद-संहिता (१८।४।३६) मे की गयी है[4]।

---

१ इमा नारीरविधवा सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा स स्पृशन्ताम्।
अनश्रवा अनमीवा सुरत्ना आ र हन्तु जनयो योनिमग्रे॥ (अथव० १८।३।५७)

२ (क) माता पुत्र यथा सिचाभ्येन भू ऊर्णुहि॥
(ख) जाया पतिमिव वाससाभ्येन भूम ऊर्णुहि॥ (अथर्व० १८।२।५०–५१)

३ प्रच्यवस्व तन्व स भरस्व मा त गात्रा विहायि मो शरीरम्। (अथर्व० १८।३।९)

४ सहस्रधार शतधारमुत्सितम्॥ (अथव० १८।४।३६)

अस्थिकलश पद्धति—

इस पद्धति से शव के अस्थि समुदाय को एक कलश में रखकर गाड़ने का संकेत अथर्ववेद-संहिता (१८।४।६४) से प्राप्त होता है, जिसमें कहा गया है कि "हे पितृगण! आपके जिस अंग (अस्थि) को अग्नि ने छोड़ दिया है, उसी को मैं पुनः आप्यायित करता हूँ, आप अपने सम्पूर्ण अंगों के साथ अमरलोक में मुदित हों"[1]। इस अस्थि-सचयन को परवर्ती साहित्यकारों ने "पिण्डपितृयज्ञ" भी कहा है। अथर्ववेद संहिता (१८।३।१३) में इस कार्य को "प्राजापत्यमेध्य" कहा गया है, जिसको आचार्य सायण ने "पितृमेधाख्य" के रूप में व्याख्या की है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक-संहिताकाल में अन्त्येष्टि-संस्कार अपनी विभिन्न विधियों के साथ प्रचलित था।

परिशीलन—

वैदिक वाङ्मय में षोडश-संस्कारों की बड़ी महिमा बताई गयी है। आकस्मिकता किसी भी विचार का आधार नहीं हो सकती। प्रकृति के राज्य में आकस्मिकता (चान्स) का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि ज्ञान और आकस्मिकता एक साथ रह ही नहीं सकते। बिना कारण के कार्य नहीं होता, इतना ही नहीं; अपितु उत्तम का आश्रय लेने पर उत्तम कार्य होने की पूर्ण आशा रहती है। शिल्प-कला की सहायता से जिस प्रकार अत्युत्तम सामग्री तैयार होती है, ठीक उसी प्रकार उत्तम संस्कारों द्वारा उत्तम-विभूतिसम्पन्न नर-नारी तैयार हो सकते हैं, ऐसा संहिताकालीन समाज का विश्वास रहा है। षोडश-संस्कारों से सम्पन्न व्यक्ति षोडश-कलापूर्ण चन्द्र की तरह आह्लादकारी बनकर अन्त में ब्रह्मत्व प्राप्त करने में सक्षम होता है[2]। वेदोक्त शरीर का संस्कार करना चाहिए, क्योंकि यह संस्कार इहलोक तथा परलोक में भी हितकारी है[3]।

वेद-सम्मत इन संस्कारों से दोषमार्जन, अतिशयाधान और हीनाङ्गपूर्ति उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार मलिन प्राकृतिक वस्तु (लोहादि) की। तलवार बनाने

---

१ यद् वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः।
तद् एतत्पुनराप्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्॥ (अथर्व० १८।४।६४)

२ चित्रं कर्माद् यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

३ वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥ (मनु० अध्याय-२)

हेतु मलिन लोहे की सफाई "दोषमार्जन" होता है, उसे आग मे तपाकर इस्पात बनाना "अतिशयाधान" है और अन्त मे उसे जडना या उसकी मूंठ आदि बनाना "हीनाङ्गपूर्ति" है।

नारी के लिये इन सस्कारो की इसलिये भी विशेष आवश्यकता है, क्योंकि नारी उस खान के समान है, जो सुसस्कृत (शुद्ध) होने पर अपनी उदरस्थ सम्पूर्ण सन्तति को सस्कारयुक्त बनाने की क्षमता रखती है[1]।

भौतिक, नैतिक, आध्यात्मिक, सास्कृतिक आदि अनेक उपयोगिताओ से अलकृत इन सस्कारो को न करने से व्यक्ति सस्कारहीन होकर देश, जाति एव समाज को हानि पहुँचाने लगता है।

---

१ सकृच्च सस्कृता नारी सर्वगर्भेषु सस्कृता ।
य य गर्भं प्रसूयेत स सव सस्कृतो भवेत् ॥ (मिताक्षरा—१।११)

चतुर्थ अध्याय

नारी एवं मन्त्र-दर्शन—

भारतीय सभ्यता का सर्वोत्कृष्ट प्राचीनतम काल वैदिक-संहिताकाल माना गया है। इस काल को यदि सम्पूर्ण संसार की सभ्यता का श्रेष्ठतम युग कहा जाये, तो अत्युक्ति न होगी। इस युग में हमारे पूर्वजों ने जीवन के उच्च आदर्शो तथा परमात्मा एवं समाज विषयक अनेक महान् कल्पनाओं को जन्म दिया। हमारे पूर्वजों की मान्यता रही है कि जिस प्रकार प्रकृति के बिना पुरुष (परमात्मा) का कार्य अपूर्ण रहता है, ठीक उसी प्रकार नारी के बिना नर का जीवन भी अधूरा है। संहिता काल में इसी तथ्य को अच्छी तरह समझकर सामाजिक व्यवस्था की गयी थी। हमारे ऋषि महर्षियों को इसका पूरा ध्यान था कि जीवन-रूपी गाडी के दो चक्र हैं—एक नारी और दूसरा नर। इन दोनों चक्रो की बराबरी ही जीवन-रूपी गाडी को सतत् गतिशील रख सकती है। इसीलिए वैदिक-संहिताकाल में नारी को पुरुष की अर्द्धाङ्गिनी कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण मे तो यहाँ तक कहा गया है कि "नारी नर की आत्मा का आधा भाग है। नारी की उपलब्धि के बिना नर का जीवन अधूरा है। इस अधूरेपन को दूर करने के लिए सन्तति की आवश्यकता पड़ती है, जिसका एकमात्र साधन पत्नी है"। इस कथन के गर्भ मे समाजशास्त्र का मूलभूत सिद्धान्त निहित है कि नर एवं नारी का पारस्परिक आकर्षण ही सन्तति-जनन द्वारा परिवार का सूत्रपात करता है। यही परिवार आगे चलकर समाज की इकाई बन जाता है।

वैदिक-संहिताओं के साहित्य का आलोडन एवं आलोचन करने से पता चलता है कि उस समय समाज मे नारी का एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। अपने इस महत्त्व पूर्ण पद के निर्वाह हेतु नारी को तीन प्रमुख पारिवारिक कार्य करने पडते थे, जो मातृ एवं सहचरी के रूप में सम्पन्न होते थे। इन कार्यों के अतिरिक्त नारी को पूर्ण अधिकार था कि वह आत्म-विकास के पथ में अग्रसर होकर सांस्कृतिक विकास के माध्यम से समाज की सेवा में अपना सहयोग प्रदान करे।

नारी को नर की अर्द्धाङ्गिनी स्वीकार करने में वैदिक समाज-शास्त्रियों का बड़ा ही पवित्र उद्देश्य रहा होगा कि कहीं पुरुष अपने को नारी से श्रेष्ठ न मान ले। पुरुष को जब तक इस समता और ममता का ध्यान बना रहा, तब तक उसने कभी भी नारी को हीनभावना से नहीं देखा। पुरुष और स्त्री में जिस अधिकर्ता एवं अधिकृत भाव का आज के समाज में दर्शन होता है, उसकी कल्पना भी वैदिक-

संहिताओं के युग में किसी ने कभी नहीं की होगी। उस समय का समाज तो पुरुष और स्त्री को पारिवारिक जीवन के दो पहलू मानता था। इन दोनों में यदि कोई भी पहलू कमजोर होता था, तो जीवन दुःखमय हो जाता था। आन्तरिक एवं बाह्य जीवन की रेखाएं संहिताकाल में पुरुष और नारी के लिये बाधक न होकर एक दूसरे की साधक रही हैं। यही मुख्य कारण है कि उस समय नारी भी नर के समान जीवन के हर क्षेत्र में अपनी ज्येष्ठता एवं श्रेष्ठता सिद्ध करने में सफल रही है।

नारी-समाज को वेदमन्त्रों के अध्ययन से विरत रखने वाला आज का पण्डित चाहे जो तर्क दे, परन्तु वैदिक-युग पुकार-पुकार कर कह रहा है—"वेद पढने का स्त्री को समान अधिकार है"। वेद के अध्ययन हेतु उपनयन (यज्ञोपवीत) के अधिकार से भी नारी वंचित न थी। नारी को यज्ञोपवीत के अधिकार के साथ ही साथ यज्ञ करने और कराने का भी अधिकार रहा है[1]। इस मन्त्र में "योषितः" शब्द का विशेषण "यज्ञिया" है, जिसका सीधा अर्थ है—यज्ञ की सभी विधियों का ज्ञाता यज्ञाधिकारी। क्या वेद के मन्त्रों के सम्यक् अध्ययन के बिना कोई भी पुरुष या स्त्री वैदिक कर्मकाण्ड कराने में निष्णात हो सकता है? उत्तर स्पष्ट है कि कभी नहीं। इस प्रकार यह सुतरां सिद्ध है कि वैदिक-संहिताओं के अध्ययन-अध्यापन का द्वार सभी के लिये खुला था। सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनाने की कल्पना[3] करने वालों के हृदय में संकीर्णता एवं भेदभाव की भावना की कल्पना करना सचमुच उन वैदिक नर-नारी (मन्त्र-द्रष्टाओं) समाज का तिरस्कार करना है।

मन्त्रद्रष्ट्री नारियां[4]—(अकारादि क्रम से)

नाम	दृष्ट मन्त्र और संख्या		मन्त्रों में नाम
१—अगस्त्य-स्वसा	ऋग्वेद १०।६०।६	एक	×
२—अदिति	,, १०।७२।१-९	नौ	४,५,८,९

१ देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्॥ (ऋ० १०।१०९।४)

२ शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्र पृथक् सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे॥ (अथर्व० ६।१२२।५)

३ इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्।
अपघ्नन्तो राव्णः॥ (ऋ० ९।६३।५)

४ ऋग्वेद, मण्डल—१, सूक्त १२६ और १७९। ऋ० मं० ५, सू० २८, ऋ० म० ८, सू० १ और ९१, ऋ० म० ९, सू० ८६, ऋ० म० १०, सू० १०, २८, ३९, ४०, ६०, ७२, ८५, ८६, ९५, १०८, १०९, १२५, १२७, १३४, १४५, १५१, १५३, १५४, १५९, १८९।

३—अपाला	ऋग्वेद	८।९१।१-७	सात	७
४—इन्द्राणी	,,	१०।१४५।१-६	छ	×
,,	,,	१०।८६।१-२३	तेईस	११,१२
५—इन्द्र मातर	,,	१०।१५३।१-५	पाँच	×
६—इन्द्र-स्नुषा	,,	१०।२८।१	एक	×
७—उर्वशी	,,	१०।९५।२, ४ ५, ७, ११, १३, १५, १६, १८	नौ	१०, १७
८—कुशिका-रात्रिः	,,	१०।१२७।१-८	आठ	१, ८
९—गोधा	,,	१०।१३४।६-७	दो	×
१०—घोषा-काक्षीवती	,,	१०।३९।१-१४	चौदह	
,,	,,	१०।४०।१-१४	चौदह	५
११—जुहू	,,	१०।१०८।१-७	सात	५
१२—दक्षिणा-प्रजापत्या	,,	१०।१०७।१-११	ग्यारह	१
१३—यमी	,,	१०।१५४।१-५	पाँच	×
१४—यमी-वैवस्वती	,, ,,	१०।१०।१, ३, ६, ७, ११, १३	छ	७, ९, १४
१५—रोमशा कक्षीवान् (ब्रह्मवादिनी)	,,	१।१२६।१-७	सात	७
१६—लोपामुद्रा	,,	१।१७९।१-६	छ.	४
१७—वाक्-आम्भृणी	,,	१०।१२५।१-८	आठ	×
१८—विश्वावारात्रेयी	,,	५।२८।१-६	छ	१
१९—शची-पौलोमी	,,	१०।१५९।१-६	छ.	×
२०—श्रद्धा कामायनी	,,	१०।१५१।१-५	पाँच	१, २, ३, ४, ५
२१—शश्वती आंगिरसी	,,	८।१।१-३४	चौंतीस	३४
२२—सरमा-देवशुनी	,,	१०।१०८।२, ४, ६, ८, १०, ११	छ.	१, ५, ७, ९
२३—सूर्या-सावित्री	,,	१०।८५।१-४७	सैंतालीस	६, ७, ८, ९, १०, १२, १३, १४, १५, १७, ३४, ३५
२४—सार्पराज्ञी	,,	१०।१८९।१-३	तीन	
२५—सिकता-निवावरी	,,	९।८६।११-२०	दस	×

प्रमुख मन्त्रद्रष्टा नारियो का जीवनवृत्त

(१) अदिति

मन्त्र-दर्शन—

ऋग्वेद-सहिता मे "अदिति" की सर्वाधिक चर्चा है। मन्त्रदर्शी नारियो मे अदिति ही एक ऐसी नारी है, जिसका लगभग ऋग्वेद मे ८० बार नामोल्लेख हुआ है। ऋग्वेद चतुर्थ-मण्डल के अठारहवे सूक्त की पाँचवी, छठी एव सातवी ऋचाएँ अदिति द्वारा साक्षात्कृत हैं[1]। यह अदिति इन्द्र की माता के रूप मे भी विख्यात है। अदिति एक मन्त्रद्रष्टा नारी है, जिसने अपनी तपश्चर्या के प्रभाव से ऋग्वेद के दशम मण्डल के बहत्तरवे सूक्त के सम्पूर्ण नौ मन्त्रो का साक्षात्कार किया। इस सूक्त के चतुर्थ, पचम, अष्टम तथा नवम मन्त्र मे "अदिति" नाम का भी उल्लेख है[2]। इस सूक्त की ऋषि होने के कारण इसमे लेशमात्र भी सन्देह नही कि इस सूक्त के मन्त्रो की द्रष्टा "अदिति" स्वय है।

अदिति द्वारा दृष्ट ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के १८वें सूक्त के मन्त्रो से इन्द्र द्वारा बद्ध किये गये वृत्तासुर की अवाछनीय गतिविधियो पर अच्छा प्रकाश पडता है। इन्द्र ने जन-कल्याण हेतु वृत्र-नामक दैत्य द्वारा रोकी गयी नदियो को प्रवाहित किया और जन-द्वेषी वृत्रासुर को सदा के लिए समाप्त कर दिया। दशम मण्डल के बहत्तरवे सूक्त मे देवताओ की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है और अदिति द्वारा सात पुत्रो के साथ द्युलोकगमन की चर्चा है। आठवे पुत्र सूर्य को आकाश मे ही स्थिर रखने का औचित्य प्रतिपादित है।

जीवन-वृत्त—

"अदिति" महर्षि कश्यप की धर्मपत्नी तथा देवताओ की माता है। महर्षि कश्यप ने तत्कालीन सामाजिक प्रथा के अनुसार दो विवाह किये थे। द्वितीय पत्नी का नाम "दिति" था। अदिति की इस सौत (दिति) के गर्भ से दैत्यो का जन्म हुआ, जो आगे चलकर समाज के लिए बडे ही सन्तापी सिद्ध हुए। यहा तक वे आगे बढ गये कि उन्होने (प्रह्लाद के पौत्र एव विरोचन के पुत्र राजा बलि ने) अपने पौरुष से देवताओ को स्वर्ग से निकालकर अमरावती पर भी अधिकार कर लिया। अपने पुत्र की इस दुर्दशा ने "अदिति" को शोकाकुल कर दिया। अपने मन.क्लेश को

---

१ एता अपन्त्यलला भवन्तीऋतावरीरिव सङ्क्रोशमाना.।
एता वि पृच्छि किमिद भवन्ति कमापो अद्रि परिधि रुजन्ति ॥ (ऋ० ४।१८।६)

२. सप्तभि. पुत्रैरदितिरुप प्रैत्पूर्व्यं युगम्।
प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥ (ऋ० १०।७२।९)

समाप्ति हेतु अदिति ने अपने पति कश्यप का स्मरण किया और इस दु:ख-विमोचन का कारण जानने की अभिलाषा व्यक्त की। भगवान् कश्यप ने देवमाता अदिति को पयोव्रत का उद्यापन कर विष्णु की उपासना करने का आदेश दिया। अदिति की तपस्या से विष्णु भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने दैत्यों के दर्प-दलन हेतु "अदिति" के गर्भ मे प्रवेश किया।

वामनावतारी विष्णु ने अपने यज्ञोपवीत-संस्कार के समय दैत्यराज बलि से भिक्षा की याचना की। दानी बलि ने वामन-रूपधारी भगवान् विष्णु को स्वेच्छा-पूर्वक मागी गयी तीन कदम भूमि देने की स्वीकृति दे दी। स्वीकृति मिलते ही भगवान् वामन से विशाल हो गये और अपने प्रथम चरण से सम्पूर्ण भूमि को आत्मसात् कर लिया और द्वितीय चरण से सूर्य-चन्द्र-नक्षत्रों सहित नभ को नाप लिया। बलि समझ गया कि भगवान् ने मुझे छल लिया है, अत उसने तृतीय चरण को अपने सिर पर रखवा लिया और स्वय पाताल चला गया। सच्चे दानी ने अपने वचन का पालन किया और इधर भगवान् ने भी "अदिति" माता के वचन का सरक्षण करते हुए देवताओ को स्वर्ग का राज्य वापस दिला दिया।

कहा गया है कि एक बार वामदेव ऋषि ने अपनी माता का अपमान कर दिया, फलत- वह अदिति और इन्द्र के पास चली आयी। नारी के अपमान को न सह सकने वाली अदिति ने ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के १८वे सूक्त के छठें मन्त्र के माध्यम से वामदेव को फटकारते हुए कहा—"हे विज्ञ ! ये जलवती नदियाँ हर्ष-सूचक कल-कल शब्द करती हुई चली जाती हैं। हे ऋषि ! उनसे पूछो ये क्या कहती हैं[1] ?" अदिति का आशय स्पष्ट है कि समाज मे उत्पीड़न करने वाला व्यक्ति वृत्रासुर की तरह दण्डनीय है। वृत्रासुर ने नदियो का मार्ग अवरुद्ध करके पाप किया था और तुम भी अपनी पूजनीया माता को कष्ट पहुँचाकर समाज के सन्मार्ग को दूषित कर रहे हो।

अदिति की अनेक व्याख्याएँ—

अदिति की वैदिक-सहिताओ मे अनेक व्याख्याएँ की गयी हैं। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १०० सूक्त के प्रथम मन्त्र मे अदिति को "सर्वतातिम्"[2] अर्थात् सर्व-ग्राहिणी कहा गया है। अदिति शब्द का वास्तविक अर्थ ही है—सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, बन्धनमुक्त अर्थात् स्वाधीन। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के दसवें सूक्त के चौथे मन्त्र मे

१. ऋ० ४।१८।६।

२ इन्द्र दृह्य मघवन्त्वावदिद्भुज इह स्तुत सुतपा बोधि नो वृधे।
देवेभिर्नः सविता प्रावतु श्रुतमा सर्वतातिमदितिं वृणीमहे ॥ (ऋ० १०।१००।१)

अदिति को "विश्वजन्या"[1] अर्थात् विश्वहितैषिणी के नाम से पुकारा गया है। ऋग्वेद के पञ्चम मण्डल के चौथे सूक्त के ६वें मन्त्र मे अदिति को "उरुव्यचा" अर्थात् अतिविस्तीर्णा माना गया है। ऋग्वेद के मण्डल १, सूक्त १३६, मन्त्र ३ मे अदिति को "ज्योतिष्मती"[2] अर्थात् प्रकाशमती स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के २७वें सूक्त के ७वे मन्त्र मे अदिति को "राजपुत्रा"[3] अर्थात् ऐसी माता के रूप मे प्रतिपादित किया गया है, जिसके सभी पुत्र राजा ही हो। अदिति को आकाश, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र और समस्त देवमय माना गया है। ऋग्वेद (१।८९।१०) मे अदिति को जन्म और जन्म का कारण माना गया है। पापो से बचाने वाली देवी के रूप मे अदिति का वर्णन वैदिक सहिताओ मे बहुधा उपलब्ध है। ऋग्वेद के १०व मण्डल के ३६वे सूक्त के तीसरे मन्त्र मे प्राथना की गयी है कि हमे मित्र और वरुण की माता अदिति पापो से सुरक्षित करें। दक्ष की पुत्री (ऋ० १०।७२।५) के रूप मे भी अदिति का वर्णन किया गया है। अदिति को (ऋ० ७।८२।१०) "यज्ञवर्द्धिका"[4] के रूप मे भी वर्णित किया गया है।

शतपथब्राह्मण (१०।६।५।५) मे "सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम्" कहकर सर्वभक्षी अर्थात् अग्नि के रूप मे अदिति का प्रतिपादन किया गया है। अदिति को पृथ्वी के रूप मे (श० ब्रा० ११।१।४।५, २।२।१।१९) वर्णित किया गया है। गौ के रूप मे (श० ब्रा० २।३।४।३।४), एव वाग् (वाणी) के रूप मे (श० ब्रा० ६।५।२।२०) दिखाया गया है।

अदिति की व्यापकता—

अदिति की व्यापकता के सम्बन्ध मे ऋग्वेद की ऋचा (१।८९।१०) मे कहा गया है कि 'अदिति वैदिक-दर्शन के सम्पूर्ण तत्त्वो का एक पर्याय है"। वैदिक दर्शन मे सात सप्तक हैं, जो सभी "अदिति" के नाम से जाने जाते हैं। इससे स्पष्ट

---

१ इन्द्र नो अग्ने वसुभि सजोषा रुद्र रुद्रेभिरा वहा बृहन्तम्।
अदित्येभिरदिति विश्वजन्या बृहस्पतिमृक्वभिर्विश्ववारम्॥ (ऋ० ७।१०।४)

२ ज्योतिष्मतीमदिति धारयत्क्षितिं स्ववतीमासचेते दिव दिवे जागृवांसा दिवे दिवे।
ज्योतिष्मत्क्षत्रमाशाते आदित्या दानुनस्पती मित्रस्तयोर्वरुणो यातयज्जनोयमा यातयज्जन॥
(ऋ० १।१३६।३)

३ पिपर्तु नो अदिति राजपुत्राति द्वेषास्यर्यमा सुगेभि।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य शर्मोप स्याम पुरुवीरा अरिष्टा-॥ (ऋ० २।२७।७)

४ अस्मे इन्द्रो वरुणे मित्रो अर्यमा द्युम्न यच्छन्तु महि शर्म सप्रथ।
अवध्र ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो देवस्य श्लोक सवितुर्मनामहे॥ (ऋ० ७।८२।१०)

है कि अदिति प्रत्येक वैदिक सप्तक का नाम है। प्रत्येक सप्तक मे विकसित होने वाला तत्त्व "अदितेर्भव: आदित्य-" कहा जाता है। अदिति की अपनी इस महनीयता के कारण ही उसे अखण्डनीया, अदीना आदि विशेषणो से विभूषित किया गया है। ऋग्वेद (१।८९।१०) मे अदिति के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है[1] कि "आकाश, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र, सम्पूर्ण देवता, सभी जातियां अर्थात् जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है और भविष्य मे उत्पन्न होगा, वह सभी अदिति का ही रूप है"। इस मन्त्र मे "द्यौ" ब्रह्म का सूचक है और इसके अतिरिक्त अन्तरिक्ष को प्रथम, माता को द्वितीय, पिता को तृतीय, पुत्र को चतुर्थ, सम्पूर्ण देवताओं को पचम, उत्पन्न प्राणिवर्ग को षष्ठ तथा जनिष्यमाण जीवात्मा को सप्तम सप्तक मानकर सर्वत्र "अदिति" के प्रभुत्व की स्थापना की गयी है।

गौ-रूप अदिति का सम्बन्ध आदित्यो से स्थापित करते हुए ऋग्वेद मे ८वें मण्डल के १०१वें सूक्त के १५वें मन्त्र[2] मे बडी ही मनोरमता का परिचय दिया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि "अदिति" का कितना बड़ा परिवार है। गौ (पृश्नि) की तरह अदिति भी अनागा एव कल्याणकारिणी मानी गयी है। इसलिये वैदिक-संहिताओ मे अदितिरूपी गौ को बन्धन, वध, सयमन एव दमन आदि से मुक्त रखने की कामना की गयी है। आगे चलकर अथर्ववेद (८।९।२१) मे[3] अष्ट-पुत्रा अदिति का वर्णन किया गया है। आठ सन्तति मे अन्तिम रात्रि है।

"अदिति" की व्यापकता, उदारता एव महानता से प्रभावित होकर महर्षि अजीगर्त के पुत्र शुन शेप ऋषि, अदिति के दर्शनार्थ ऋग्वेद (१।२४।१) मे[4] अपनी व्यग्रता व्यक्त करते हैं। अदिति से उत्पन्न होने के कारण सभी देवताओ को वन्दनीय एवं नमस्करणीय माना गया है। ऋग्वेद (१०।६३।२) मे ऋषि ग्लात ने कहा है[5] कि अदिति सभी के लिये मधुर रस प्रवाहित करती है और सभी के लिये मगलमय

१ अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्र ।
विश्वे देवा अदिति· पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ (ऋ० १।८९।१०)

२ माता रुद्राणा दुहिता वसूना स्वसादित्यानाममृतस्य नाभि ।
प्र नु वोच चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ॥ (ऋ० ८।१०१।१५)

३ अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमी रात्रिमभि हव्यमति ॥ (अथर्व० ८।९।२१)

४ कस्य नून कतमस्यामृताना मनामहे चारु देवस्य नाम ।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितर च दृशेय मातर च ॥ (ऋ० १।२४।१)

५ विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवा उत यज्ञियानि व ।
ये स्थ जाता अदितेरद्भ्यस्परि ये पृथिव्यास्ते म इह श्रुता हवम् ॥ (ऋ० १०।६३।२)

मार्ग का सृजन करती है। देवताओ को व्यापक सम्राज तत्त्व अदिति के कारण ही उपलब्ध है, जिनके कारण देवता अजर और अमर बने हुए हैं[१]। ऋग्वेद के दशम मण्डल के इस ६३ वे सूक्त के १० वे मन्त्र मे अदिति को एक सुन्दर नौका का नाम दिया गया है। मगलमयी, सुखदायिनी, सुप्रणीत इस नौका को दु खो से बचाने वाली कहा गया है। इस नौका की यह विशेषता है कि इसकी पतवारे इसी नौका मे लगी हुई हैं। यह अदितिरूपी नौका बडी ही निरापद मानी गयी है, क्योकि इसमे कभी भी छिद्र होने की आशका नही है। छिद्राभाव मे इस नौका मे कभी बाहरी जल नही भर सकता, जिसके कारण उसके डूबने का भय हो। यही कारण है कि महर्षि ने कल्याण चाहने वालो को इस नौका मे आरूढ होने का आह्वान करते हुए कहा है—"हम सब आकाशरूपवाली मङ्गलमयी नौका पर सवार होकर देवत्व को प्राप्त करें। इस नाव पर बैठने से किसी प्रकार की अरक्षा की शका नही हो सकती। इस नौका की यात्रा बडी आनन्दवर्धक है। न नष्ट होने वाली यह नौका बडी ही विशाल है, सुदृढ है एव श्रेष्ठकर्म की प्रतिपादिका है। निर्दोष यह नौका अपनी निष्कलकता के कारण आरूढ होने वालो को निर्बाध गति से उस परम लक्ष्य तक पहुँचाने मे सक्षम है। इस नौका के रूपक से भव सागरतारिणी "अदिति" का यशोगान किया गया है[२]।

अदिति-विश्वेदेवता के रूप मे—

"अदिति" अपने अत्यधिक महत्त्व के कारण सर्वदेवता तथा विश्वेदेवता का स्थान ले लेती है। यही कारण है विश्वदेवताओ के बडे बडे सूक्तो मे प्राय कुछ न कुछ अदिति का वर्णन अवश्य पाया जाता है। अथर्ववेद (७।२।६४) मे[३] अदिति के गुणो का प्रतिपादन करते हुए उसे ऋत् की पत्नी और सूक्तो की माता कहा गया है। सोम की उत्पत्ति अदिति के उपस्थ (गोद) से ही मानी गयी है। इस अदिति को "दक्ष" की माता भी कहा गया है। दक्ष की माता होन के कारण ही अदिति को "दाक्षायणी"

---

१ सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिर दिवि क्षयम।
ता आ विवास नमसा सुवृक्तिभिमहो आदित्या अदिति स्वस्तय ॥ (ऋ० १०।६।३)

२ सुत्रामाण पृथिवी द्यामनेहस सुशर्माणमदिति सुप्रणीतिम।
दैवी नाव स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमारुहमा स्वस्तय ॥ (ऋ० १०।६३।१०)

३ महीमूषु मातर सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवामह।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूची सुशर्माणमदिति सुप्रणीतिम् ॥
वाजस्य नु प्रसव मातर महीमदिति नाम वचसा करामहे।
यस्या उपस्थ उर्वन्तरिक्ष सा न शर्म त्रिवरूथ नियच्छात ॥ (अथर्व० ७।२।६४)

अर्थात् दक्ष की जननी कहा गया है। दक्ष द्वादशादित्यों में पञ्चम आदित्य माने गये हैं। दक्ष के जन्म के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। ऋग्वेद (१०।७२।४) के अनुसार "अदितेर्दक्षो अजायत्" अर्थात् अदिति से दक्ष की उत्पत्ति हुई। देवजन्म के विषय मे अनेक भ्रान्तियाँ भी कभी कभी वैदिक साहित्य मे दृष्टिगोचर होती हैं। यही कारण है कि कहीं-कहीं 'दक्षाददितिः परि" अर्थात् दक्ष से अदिति का भी जन्म माना है। अस्तु, समयानुसार जन्य-जनकभाव देवधर्म मे बदलता भी रहता है। अर्थात् आज का जनक किसी दूसरे काल मे जन्य भी हो सकता है। हमारे विचार से यह बात अदिति के सम्बन्ध मे चरितार्थ नही होती, क्योंकि अदिति को सभी वैदिक-दर्शनो की आधारशिला माना गया है। अदिति की गोद से दक्ष के जन्म के विषय मे ऋग्वेद (१०।५।७) में स्पष्ट घोषणा की गयी है[1]।

अदिति के दो स्वरूपों का वर्णन ऋग्वेद (८।१८।६) मे किया गया है। प्रथम स्वरूप को दिन (पूर्वार्द्ध) एवं द्वितीय स्वरूप को रात्रि (उत्तरार्द्ध) माना गया है। उत्तरार्द्ध वाली अदिति को पशुमति अर्थात् भौतिकी कहा गया है। अदिति से दिन और रात मे अपने पशुवो की रक्षा हेतु प्रार्थना की गयी है और साधक को अपने विस्तृत साधनो से पापमुक्त करने की प्रार्थना की गयी है[2]।

अदिति और दिति—

"अदिति" और "दिति" दोनो को *कश्यप की पुत्रियाँ भी कहा गया है*। अदिति को देवताओं की एवं दिति को दैत्यों की माता माना गया है। अदिति को पूर्ण वैदिक-दर्शन स्वीकार किया गया है। वैदिक दर्शन के दो भाग हैं—(१) उत्तरायण (पूर्वार्द्ध), (२) दक्षिणायन (उत्तरार्द्ध)। यद्यपि दोनो भागो में अदिति को अदीना, अखण्डनीया तथा व्यापिका माना गया है, तथापि उत्तरार्द्ध भौतिकी प्रभाव के कारण दिति का सूचक है, जिसे खण्डित एवं सीमित भी माना गया है। ऋग्वेद में अदिति का नाम जहाँ लगभग ८० बार आया है, वहीं दिति के नाम की चर्चा ३ से अधिक बार नही हुई है। यदि इसी को कारण मान लिया जाय, तो दिति का वैदिक-वाङ्मय मे स्थान-निर्धारण बडी ही सरलता एवं संशयहीनता से किया जा सकता है। ऋग्वेद (४।२।११) मे कहा गया है[3]—"जैसे अश्व-पालक अपने घोडे के कसे हुए साज

---

१ असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे। (ऋ० १०।५।७)

२. अदितिर्नो दिवा पशुमदितिर्नक्तमद्वया।
अदिति पात्वंहसः सदावृधा॥ (ऋ० ८।१८।६)

३. चित्तिमचित्तिं चिनवद्वि विद्वान्पृष्ठेव वीता वृजिना च मर्तान्।
राये च नः स्वपत्याय देव दितिं च रास्वादितिमुरुष्य॥ (ऋ० ४।२।११)

को अलग कर देता है, वैसे ही अग्निदेव पाप-पुण्य को अलग कर देते हैं। हे देव! हमको सुन्दर पुत्र से युक्त धन प्रदान करो और दिति, अदिति को धन देकर उनका पालन करो"। ऋग्वेद (५।६२।८) मे कहा गया है[1]—"हे मित्र वरुण! आप प्रातः उषःकाल मे सूर्योदय के समय यज्ञ मे आगमन करते समय सुवर्णमय रथ पर आरूढ होकर अखण्ड भूमि एव गर्त, अदिति एव दिति को देखो"। ऋग्वेद (७।१५।१२) मे कहा गया है कि[2]—'हे अग्ने! पुत्र पौत्रादि से युक्त धन हमे प्रदान करें। इसके साथ ही साथ सविता एव अदिति भी हमे धन दे"।

विमर्श—

ऋग्वेद (५।६२।८) मे गर्त, अदिति और दिति, तीनो शब्दो का एक साथ प्रयोग किया गया है। यहाँ गर्त से तात्पर्य एक ऐसी उच्च स्थली से है, जहाँ से पूर्वार्द्ध (अदिति) एव उत्तरार्द्ध (दिति) दोनो तत्वो का अन्तर स्पष्ट प्रतीत होता है। "गर्त" आध्यात्मिकता का सर्वोत्तम विकास है। इस विकासस्थल से उत्तरार्द्ध की ओर अर्थात् "दिति" की ओर बढने स पतन का आरम्भ हो जाता है।

ऋग्वेद (४।२।११) मे प्रार्थना की गयी है—"हे देव! हमारी सन्तति की रक्षा तथा ब्रह्मप्राप्ति हेतु 'दिति" (भौतिकता) को हमसे दूर करे और उसके स्थान पर हमारे कल्याण हेतु "अदति" (आध्यात्मिकता) को स्वीकार कीजिए।

ऋग्वेद (७।१५।१२) मे दिति के दानकर्म की प्रशसा की गयी है कि हे अग्निदेव! तुम सविता और मन देवता सर्वशक्तिशाली यशरूपी बीज को देते हो, परन्तु दिति उस बीज को पनपाने हेतु जल देकर सम्पूर्ण विश्व को आवृत्त कर लेती है।

अथर्ववेद (७।७।१) मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि दिति के पुत्रो की रचना भी अदिति से ही हुई है, जिनका जन्मस्थान आसुरी सागर या भौतिकी समुद्र है, जो चतुर्थ सप्तक माना गया है। इनके आगे झुके बिना कोई नही रह सकता[3]। अदिति का वास्तविक स्वरूप शब्दब्रह्म का है। इस सम्बन्ध मे बृहदारण्यक-उपनिषद् मे[4] कहा

---

१ हिरण्यरूपमुषसो व्युष्टावय स्थूणमुदिता सूर्यस्य।
आरोहिथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षाथे अदिति दिति च॥ (ऋ० ५।६२।८)

२. त्वमग्ने वीरवद्यशो देवश्च सविता भग।
दितिश्च दाति वार्यम्॥ (ऋ० ७।१५।१२)

३ दिते. पुत्राणामदितेरकारिषमव देवाना बृहतामनर्मणाम्।
तेषा हि धाम गभिषक्समुद्रिय नैनान् नमसा परा अस्ति कश्चन॥ (ऋ० ७।७।१)

४ स ऐक्षत यदि वा इममभिमस्ये कनीयोऽन्न करिष्य इति। स तया वाचा तेनात्मनेद सर्वमसृजत यदिद किञ्च ऋचो यजूषि सामानि च्छन्दासि यज्ञान् प्रजा पशूनत्स यद्यदेवासृजत, तत्तदत्तुमध्रियत। सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्व वेद। (बृहदारण्यक-उ० १।२।५)

गया है कि वागुरूपिणी अदिति की कृपा से ही सम्पूर्ण शब्दमयी सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, इसमे लेशमात्र सन्देह नही है। अदिति ही निखिल सृष्टि का मूल कारण है, जिससे अन्य सभी देवता प्रकाश पाते हैं।

अदिति को चाहे जिस रूप मे भी याद किया जाये, उसका नारीत्व सर्वत्र अपनी कवितामयी कमनीयता से विश्व का मगल करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। अदिति द्वारा साक्षात्कार किये गये मन्त्र नि सन्देह यज्ञवर्द्धिका अदिति के पाण्डित्य का परिचय देते हैं। अदिति के लिये प्रयुक्त विशेषण बन्धनमुक्त, स्वाधीन वैदिक-समय की नारी की स्वतन्त्रता के सूचक है। अदिति का व्यापक प्रचार-प्रसार संहिता-युग के नारी समाज के प्रभुत्व का प्रतिपादक है।

(२) अपाला

मन्त्र दर्शन—

"अपाला" का नाम ब्रह्मवादिनी के नाम से प्रसिद्ध है। आपने अपनी तपश्चर्या के प्रभाव से ऋग्वेद के आठवें मण्डल के ९१वे सूक्त की सम्पूर्ण ७ ऋचाओ को दृष्टिगोचर किया था। इस सूक्त के ७वें मन्त्र मे "अपाला" के नाम का भी उल्लेख है[1]। इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि उपर्युक्त सम्पूर्ण सूक्त की ऋषि अपाला ही है। हमारे इस कथन की पुष्टि बृहद्देवता (६।९९।१६०), सायण-भाष्य (८।९१) और नीतिमञ्जरी (पृ० २७८-८१) से भी होती है। ऋग्वेदीय इस सूक्त मे अपाला के वैदुष्य का पता चलता है, जिसके कारण वैदिक-साहित्य मे उसकी ख्याति है। इन्द्र को स्तुतिपरक प्रार्थना, जिसे अपाला ने सूक्त की ऋचाओ के माध्यम से प्रस्तुत किया है, उसका साराश है—

हे देव! हम ऋषिकन्याएँ आपका साक्षात्कार करना चाहती है, परन्तु आपको जानने मे असमर्थ हैं। आपकी असीम, महिमामयी माया है, जिसके कारण आपको अज्ञेय माना गया है। हे सोम! इन्द्र को प्रसन्न करने के एक मात्र तुम्ही साधन हो। अत· तुम इन्द्र के लिये धीरे-धीरे प्रवाहित होकर हमारी स्तुतियो को चरितार्थ करो। हम तुम्हे सामर्थ्यवान् इन्द्र के लिये निष्पन्न करती हैं, जिससे प्रसन्न होकर इन्द्र भगवान् हमे अपाला से सुपाला बना दें।

जीवन-वृत्त—

सायणाचार्य ने अपाला के जीवन-वृत्त पर विस्तृत प्रकाश डाला है। महर्षि अत्रि की कुटिया सन्तति के अभाव मे सदा सूनी-सी रहती थी। महर्षि-दम्पत्ति की

---

१ खे रथस्य खेऽनस खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणो सूर्यत्वचम्॥ (ऋ० ८।९१।७)

प्रबल इच्छा थी कि उनका घर पुत्र या पुत्री के जन्म से सनाथ हो जाये। प्रभु की कृपा से अत्रि के घर अपाला का आविर्भाव हुआ। आश्रम का कोना-कोना इस कन्या की किलकारियो से मुखरित हो उठा। ऋषि बाल मण्डलो के साथ खेलते हुए अपाला ने अपनी बाल्यावस्था पार की।

अकस्मात् एक दिन पिता अत्रि की दृष्टि अपाला के सौन्दर्यपूर्ण शरीर पर पड़ी, जहाँ उन्हे कुष्ठ (श्वित्र) के छोटे छोटे चिह्न दृष्टि गोचर हुए। ऋषि की सम्पूर्ण प्रसन्नता विषाद मे परिणत हो गयी। ऋषि ने अपनी शक्ति-भर उन कुष्ठचिह्नो को दूर करने का प्रयास किया, किन्तु कोई लाभ नही हुआ। अन्ततोगत्वा महर्षि ने सोचा कि वे अपनी पुत्री के बाह्य-शरीर को निर्दोष करने म असमर्थ एव अक्षम रहे हैं। इसलिए अब अपाला के आन्तरिक बोध से उसे अलौकिक बनाने का निर्णय लिया।

महर्षि अत्रि की विलक्षण शिक्षण-पद्धति ने अल्पकाल मे ही अपाला को एक विदुषी के रूप मे तैयार कर दिया। वेद वेदागो की विविधता सप्त सिन्धु की तरह अपाला के वशवर्त्ती हो गयी। इस सुकन्या के कल-कण्ठ से वेद-मन्त्रो का उच्चारण तपोवन को पवित्र करने लगा। मुनिजन इसके प्रगाढ वैदुष्य के सामने नतमस्तक होकर अपाला को सरस्वती का अवतार मानने लगे।

अपाला को विवाह के योग्य समझकर महर्षि ने एक सुपात्र वर का अन्वेपण किया। अपाला का पाणिग्रहण ऋषि कृशाश्व से वैदिक विधि-विधान से सम्पन्न हुआ। अपाला के लिये नया घर (पतिदेव का घर) भी स्वातन्त्र्य और प्रसन्नता का आगार था। सब कुछ था, परन्तु अपने पतिदेव का वह स्नेह और समादर प्राप्त न था, जिसके लिये प्रत्येक नारी लालायित रहती है। विदुषी अपाला को समझने मे देरी नही लगी कि क्यो उसके पतिदेव उससे उदासीन रहते है? स्त्रीत्व की मर्यादा को बनाये रखने के लिये अपाला का सहज स्वभाव विद्रोह कर उठा। सहनशीलता की भी सीमा होती है। एक दिन अपाला ने अपने पति से पूछा "क्या आप मेरे त्वग्दोष के कारण मुझे अपरिचित समझते है" ?

कृशाश्व ने दु खभरे शब्दो मे उत्तर दिया—"मेरा अन्त.करण इस समय एक अन्तर्द्वन्द्व मे फँस गया है। प्रेम की पवित्रता मुझे पतिपरायणा ब्रह्मवादिनी अपाला के गुणो का जहां एक ओर प्रशसक बनाती है, वही उसके शरीर की कुरूपता मुझे उससे कोसो दूर रहने को बाध्य करती है"। प्रेमपाश मे बँधी पत्नी के इस घोर अपमान ने अपाला के हृदय को झकझोर दिया। स्त्री-जाति की इतनी भर्त्सना, सर्वस्व दान करने वाले अर्द्धांग की इतनी बड़ी धर्षणा नर द्वारा!

वेद-वेदागो की विपुल ज्ञानराशि भी शरीर के बाह्यदोष के कारण अपाला को अपने पति का प्रेमपात्र नहीं बना सकी। *यही सोचकर अपाला ने अपने को तपस्या*

की उष्णता में तपाने का निर्णय किया; क्योंकि तपस्या के अनल में तप्त होकर मानव निखर उठता है। यह सोचकर वे वृत्रहन्ता (इन्द्र) के आराधन में लग गयी। देवेन्द्र को प्रसन्न करने का सबसे बड़ा साधन सोम-रस है। अपाला ने सोम को सम्बोधित करते हुए कहा[1]—"हे सोम! आप धीरे-धीरे प्रवाहित हों, जिससे पान करने में इन्द्र को कष्ट न हो"। इन्द्र ने सोमपान किया और प्रसन्न होकर अपाला को वर माँगने को कहा। अपाला ने वर माँगते समय सर्वप्रथम अपने पिता के खल्वाट सिर पर बाल उग जाने की बात की। इसके बाद पिता के ऊसर खेतों को उपजाऊ बनाने की याचना की और अन्त में अपने शरीर के कुष्ठ को दूर करने का आग्रह किया[2]। इन्द्र ने 'एवमस्तु" कहकर अपनी उपासिका की चिर-साधना को सार्थक कर दिया।

विमर्श—

अपाला ने अपनी इस स्वतन्त्र साधना से यह सिद्ध कर दिया कि वैदिक-संहिताकाल की नारियाँ पुरुष के पौरुष को भी चुनौती देने में कभी पीछे नहीं रहीं। यही कारण है अन्त में ऋषि कृशाश्व ने अपाला को अबला समझने की जो भूल की थी, उसके लिए उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ा। परित्यक्ता अपाला ने अपने तप के प्रभाव से अपने शरीर को तप्त सुवर्ण की भाँति दिखाकर अपने पति को भी आश्चर्य-चकित कर दिया। सबला नारी ने सिद्ध कर दिया कि वह अपने तप, त्याग और बलिदान से नर क्या नारायण को भी झुका सकती है।

अपाला द्वारा दृष्ट ऋग्वेद (८।९१।१–७) साहित्यिक सौन्दर्य से भी अनुपम है। इन्द्र को प्रसन्न करने में पंक्ति एवं अनुष्टुप् छन्द का निर्वाह भली-भाँति किया गया है। भाषा-सौन्दर्य एवं सौष्ठव भी ऋचाओं को बोधगम्य करने में सहायक सिद्ध होता है।

(३) घोषा

मन्त्र-दर्शन—

वैदिक-मन्त्रों का साक्षात्कार करने वाली "घोषा" को ज्ञान की प्राप्ति अपनी पैतृक परम्परा से ही मिली थी। घोषा-शब्द अर्थविशेष का सूचक है, जिसे सर्व-सामान्य नारी या नर चरितार्थ नहीं कर सकता। वैदिक-संहिता के युग में वेद प्रचारिका ब्रह्मचारिणी कन्या ही "घोषा" इस नाम की अधिकारिणी थी।

---

१. कन्या वारवायती सोममपि स्रुताविदत्।
अस्तं भरन्त्यब्रवीदिन्द्राय सुनवै त्वा शक्राय सुनवै त्वा॥ (ऋ० ८।९१।१)

२. इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥ (ऋ० ८।९१।५)

ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त ३९ और ४० की सभी ऋचाओं को अपने तपोबल से देखने का श्रेय घोषा को मिला है। दोनों सूक्तों के कुल २८ मन्त्र है, जिनमें कुमारी कन्याओं के लिये वेदाध्ययन से लेकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने तक के समस्त कार्य सुचारु रूप से प्रतिपादित है। अपने द्वारा दृष्ट इन सूक्तों में घोषा ने अश्विनीकुमारों से विविध प्रकार की प्रार्थनाएँ की हैं। कुछ मन्त्रों म सार्वजनिक हितों को ध्यान में रखकर कहा गया है[1]—"हे देव! आप दोनों हमें मधुर बोलने की प्रेरणा दें और हमारी मनोकामनाएँ पूर्ण करें। हम आपकी उपासिकाएँ आपसे मुख्य रूप से तीन बातों की कामना करती है—(१) सच्चे और मधुर वचन की, (२) कर्म की पूर्णता तथा (३) विविध प्रकार की बुद्धि की"। अश्विनीकुमारों के विगत प्रशंसनीय कार्यों का प्रतिपादन करती हुई घोषा ऋग्वेद (१०।३९) के पाचवें मन्त्र मे कहती है[2]—"हे अश्विनीकुमारो! मैं आपकी पुरानी वीरगाथाओं को समाज के सामने प्रस्तुत करती हूँ। आप अत्यन्त ही सुयोग्य चिकित्सक है और सभी को सुख पहुँचाने वाले हैं। हे सत्यस्वरूप! हमे ऐसे उपाय बताइये जिससे हमारे विरोधी भी हमारे प्रति श्रद्धावान हो जायें"। इसी के आगे वाले छठे मन्त्र मे कहा गया है[3]—"हे देवद्वय! आप हमारी प्रार्थना सुन और हमे उसी प्रकार शिक्षा दें, जिस प्रकार माता-पिता अपनी सन्तान को शिक्षा देते है। हम बुद्धिरहित, बन्धुरहित, असहाय है, अत यदि हममे कोई विकृति उत्पन्न हो, तो उसे आप पहले ही नष्ट कर दें"। इसी सूक्त मे कहा गया है कि "समय की गति को पहचानने वाला व्यक्ति नीची अवस्था मे ऊँची अवस्था को प्राप्त हो जाता है"।

ऋग्वेद के इस सूक्त के अन्त मे कहा गया है[4]—"हे अश्विनीकुमारो! जिस प्रकार कुशल कारीगर रथ बनाता है, उसी प्रकार हम आपके लिये सुन्दर सस्कारयुक्त स्तुति की रचना करती है। वस्त्राभूषणों से अलङ्कृत कन्या जिस प्रकार वर के पास प्रेषित की जाती है, वैसे ही हम अलकारादि से विभूषित कमनीय कविता को आपके पास प्रस्तुत करती है। शुभ कर्म करने वाला पुत्र जिस प्रकार

---

१ चोदयत सूनृता पिन्वत धिय उत्पुरन्धीरीरयत तदुश्मसि।
यशस भाग कृणुत नो अश्विना सोम न चारु मघवत्सुनस्कृतम् ॥ (ऋ० १०।३९।२)

२ पुराणा वा वीर्या प्र ब्रवा जनेऽथो हासथुर्भिषजा मयोभुवा।
ता वा नु नव्याववसे करामहेऽयं नासत्या श्रदरिर्यथा दधत ॥ (ऋ० १०।३९।५)

३ इय वामह्वे शृणुत मे अश्विना पुत्रायेव पितरा मह्य शिक्षतम्।
अनापि रज्ञा असजात्यामति पुरा तस्या अभिशस्तेरव स्पृतम् ॥ (ऋ० १०।३९।६)

४ एत वा स्तोममश्विनावकर्मातक्षाम भृगवो न रथम्।
न्यमृक्षाम योषणा न मर्ये नित्य न सूनु तनय दधाना.॥ (ऋ० १०।३९।१४)

माता पिता द्वारा आगे बढाया जाता है, उसी तरह हमारा यह स्तुति-गान भी आगे बढता रहे"।

ऋग्वेद के मण्डल १०।४० सूक्त के मन्त्रो में ब्रह्मचारिणी कन्याओ के लिये प्रार्थना की गयी है और एक सद्गृह की मनोकामना का सजीव चित्र प्रस्तुत करते हुए मन्त्र ४ और ५ म कहा गया है[1]—"हे नायक अश्विनीकुमारो! जिस प्रकार शिकारी बडे-बडे सिंहो का मृगया में पता लगाते हैं, वैसे ही हम ब्रह्मचारिणी कन्याएँ भी रात-दिन प्रेम-पूरित हविष्य द्वारा आपका आह्वान करती हैं"। इसके अनन्तर घोषा स्वयमेव घोषणा करती हुई कहती है[2]—

"मैं राजकन्या घोषा सर्वत्र वेद की घोषणा करने वाली, वेद का सन्देश सर्वत्र पहुँचाने वाली स्तुति पाठिका हूँ। हे देव! मैं सर्वत्र आपका ही यशोगान करती हूँ और विद्वानो से आपकी चर्चा करती हूँ। आप सदा मेरे पास रहकर मेरे इन इन्द्रियरूपी अश्वो से युक्त शरीर-रूपी रथ के साथ मेरे मनरूपी अश्व का दमन करें'।

अश्विनीकुमारो से प्रार्थना करते हुए घोषा ने कहा है—"जब भी कभी कोई ब्रह्मवादिनी ब्रह्मचारिणी नारीलक्षणो से सम्पन्न होकर कमनीय वर की इच्छा करे, उसे उसकी मनोदशा के अनुकूल वर मिले। पति के घर वधू को जीवन के सभी साधन सुलभ रह और सदा उस गृह मे दया, परोपकार, उदारता और शालीनता आदि गुण नदी के प्रवाह को तरह गतिशील बने रह"।

नारी (पत्नी) क गुणो का चर्चा के पश्चात् नर (वर) के आवश्यक गुणो की चर्चा भी इस सूक्त मे की गयी है। श्रेष्ठ नर वही है जो अपनी पत्नी की रक्षा करने मे सक्षम होता है। सदा पत्नी को यज्ञ-कार्यो म लगाने वाला, सुन्दर सन्तति को उत्पन्न करने वाला वर ही सर्वोत्तम है। इसलिये हे अश्विनीदेव! आप सर्वज्ञ है, आप ऐसे गुणवान् पति को ही ब्रह्मचारिणी कन्या को प्रदान करें। आपकी कृपा से पतिप्रिया बनकर ही कन्याएँ अपने पतिगृह की ओर प्रस्थान करें। घोषा ने इस सूक्त के १० मन्त्र मे बडा ही सुन्दर वर्णन करत हुए कहा है कि किस पुरुष के घर म नारी सानन्द जीवन यापन करती है[3]—"जो पुरुष अपनी स्त्री के सुख और आनन्द

---

१ युवा मृगेव वारणा मृगण्यवो दोषावस्तोर्हविषा निह्वयामहे।
युवम् होत्राम् तथा जुह्वते नरश्च जनाय वहथ. शुभस्पती॥ (ऋ० १०।४०।४)

२ युवा ह घोषा पर्यश्विना यता राज्ञ ऊचे दुहिता पृच्छे वा नरा।
भूत मे अह्न उत भूतमक्तवे स्वावते रथिने शक्तमर्वते॥ (ऋ० १०।४०।५)

३ जीव रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसिति दीधियुर्नर.।
वाम पितृभ्यो य इद समेरिरे मय पतिभ्यो जनय परिष्वजे॥ (ऋ० १०।४०।१०)

के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है, अपनी अर्द्धांगिनी को पुण्य कार्यो मे प्रेरित करता है तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण से मुक्ति पाने का मार्ग प्रशस्त करता है, उसके घर उसकी पत्नी सुख से रहती है"।

जीवन-वृत्त—

आचार्य सायण के अनुसार "घोपा" का जन्म महर्षि कुक्षिवान् के घर हुआ था। कुक्षिवान् के द्वितीय भाई का नाम दीर्घश्रवा था। घोपा का बाल्यकाल अपने सयुक्त परिवार मे बडी ही धूम-धाम से व्यतीत हुआ। पिता और चाचा की देख-रेख मे घोपा की जन्मजात प्रतिभा निखर उठी और उसने अपने बाल्यकाल मे ही अच्छी-अच्छी विद्वद्-गोष्ठियो म सम्मान अर्जित किया। योग्य पिता की पुत्री घोपा ने अपने पाण्डित्य से पिता को भी पीछे छोड दिया। पिता को अपनी इस होनहार पुत्री पर गर्व था और वे निरन्तर उस वैदिक सहिताओ के अध्ययन मे प्रोत्साहित करते थे। पिता और गुरु की तो सदिच्छा ही रहती है कि "वे अपनी सन्तति और शिष्य से पराभूत हो, क्योंकि इसमे उनका विशय गौरव होता है"।

गुलाब के फूल म काटो के समान एव आह्लादकारी चन्द्रमा मे कलक के समान उस नारीरत्व के शरीर मे कुष्ठ के चिह्न थे। इन्ही कतिपय कुष्ठ-चिह्नो के कारण घोपा का पाणि-ग्रहण कही सम्पन्न नही हुआ। इस विषाद से कुक्षिवान् का सम्पूर्ण परिवार दु खी रहता था। अपने पिता की विषाद-रेखाओ को हटाने का ब्रह्मवादिनी घोपा ने मन ही मन सकल्प कर लिया। अपनी साधना से अन्त म घोपा ने देवताओ के चिकित्सक अश्विनीकुमारो को प्रसन्न कर लिया। अश्विनीकुमारो की कृपा से कुष्ठकाया कचनमयी हो गयी और घोपा का पाणिग्रहण सम्पन्न हो गया।

विमर्श—

अपने द्वारा दृष्ट सूक्तो की ऋचाओ मे घोपा ने जिस सुन्दर शैली से सत्य-वाणी, श्रेष्ठ कर्म एव प्रखर बुद्धि का प्रतिपादन किया है, उसको समता अन्यत्र यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है। सोम की तरह पतिप्रेम की कल्पना नि सन्देह घोपा के पाण्डित्य की सूचक है। यज्ञ मे सोमपान के सभी इच्छुक रहते है, क्योकि उसका निरादर कर पाना बडे बडे वीतराग महात्माओ की भी शक्ति के बाहर है। यहाँ विदुषी घोपा ने देव से प्रार्थना की है कि हम नारियाँ भी अपने-अपने पति को सोम की तरह प्रिय हो। जिस प्रकार सोमपान करने के बाद मनुष्य की इच्छा अन्यत्र नही होती, ठीक उसी प्रकार विवाहोत्सव सम्पन्न होने के बाद पुरुप की भी अपनी सह-धर्मिणी छोडकर किसी अन्य स्त्री म रुचि न हो।

ऋग्वेद के १०।३९ और ४० सूक्त के अतिरिक्त मण्डल १।१२७ म सूक्त के ७वें मन्त्र मे भी अश्विनीकुमारो की कृपापात्र घोपा का वर्णन मिलता है।

ऋग्वेद के मण्डल १ के १२२ सूक्त के ५व मन्त्र मे पाश्चात्य विद्वान् ओल्डेन बर्ग ने घोषा को एक अर्जुन नामक व्यक्ति की पत्नी के रूप मे कहा है। ओल्डेन बर्ग महोदय का आधार क्या है, यह पता नही चलता, अत इस मत को विद्वान् नही मानते। सायणाचार्य ने परवर्ती बृहद्देवता (७।४१–४८) के विवरण के अनुसार घोषा को अपने कुष्ठ-रोग के कारण चिरकाल तक अविवाहित जीवन-यापन करने वाली माना है। सायण यह मानते हैं कि ऋग्वेद के मण्डल १ के १२० सूक्त की ५वी ऋचा मे उल्लिखित "सुहस्त्य" घोषा का पुत्र था। इस विषय मे पाश्चात्य विद्वान् पिशेल, लुडविग, मेकडानल आदि का मतैक्य नही है।

(४) जुहू

मन्त्र-दर्शन—

वैदिक-सहिताओ के सूक्त-मन्त्रो का दर्शन और मनन करने वाली नारियो मे "जुहू" का नाम बडे आदर से लिया जाता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के १०९वें सूक्त के सभी सात मन्त्रो की ऋषिका जुहू ही है। इस सूक्त की पाँचवी ऋचा मे जुहू के नाम का भी उल्लेख है[१], जिसमे कहा गया है—"स्त्री के अभाव मे बृहस्पति ने ब्रह्मचर्य का पालन किया। सब देवताओ के साथ रहकर वे भी उनके अवयवरूप हो गये। सोम की पत्नी की तरह बृहस्पति ने "जुहू" नामक स्त्री को भी अपनी पत्नी के रूप मे अङ्गीकार किया"।

एक ब्रह्मज्ञानी की पत्नी होने के कारण "जुहू" की प्रसिद्धि ब्रह्मजाया के रूप मे रही है। सम्भवत नर-नारियो मे वैदिक प्रचार करने के कारण ही "जुहू" इस उपाधि से इस नारी को अलकृत किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी जिह्वा की प्रखरता के कारण ही "जुहू" बाद मे ऋग्वेद (८।४४।५, तथा १०।२१।३) के अनुसार एव अथर्ववेद के मण्डल १८।४ के ५-६ मन्त्रो मे जिह्वा (शुक्) के नाम से विख्यात हो गयी। परवर्ती वैदिक-वाङमय मे भी "जुहू" शब्द जिह्वा के समान आकार वाले स्रुक् का ही नाम पड गया, जिससे देवो को हवि दी जाती है।

"असो वै जुहू." (तै०ब्राह्मण), "तस्यासावेव द्यौर्जुहू:" (शत०ब्राह्मण–१,३,२,४), "आग्नेयी वै जुहू." (तै० ब्राह्मण–३,३,७,६)।

"जुहू" द्वारा दृष्ट ऋग्वेदीय दशम मण्डलीय १०९वें सूक्त का सारगर्भित सन्देश इस प्रकार है—"यह मनुष्य-जाति महान् कौतुकशालिनी है और ईश्वर की

---

१ ब्रह्मचारी चरति वे विषद्विष स देवाना भवत्येकमगम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पति सोमेन नीता जुह्व न देवा.॥ (ऋ० १०।१०९।५)

महिमा प्रकट करने वाली है। ईश्वर को सत्ता को मानने वाली यह मानव जाति जब कभी भौतिकवाद की चकाचौंध मे चक्कर खा जाती है, तो ईश्वर को भुला बैठती है। धर्म-कर्म को भूलने वाली इस मानव जाति की जब कभी ऐसी दशा हो जाये, उस समय सभी विद्वानो को एक स्थान पर एकत्रित होकर सत्य का अन्वेषण करना चाहिए[1]।

जीवनवृत्त—

वैदिक-कर्मकाण्ड-प्रचारिका "जुहू" एक ब्रह्मवादिनी महिला है, जिसने अपने बाल्यकाल मे ही अपने अन्त करण को निमल एव स्वच्छ कर लिया था। जुहू द्वारा दृष्ट इन मन्त्रो के आधार पर कहा जा सकता है कि जुहू का जीवनवृत्त तपश्चर्यामय रहा है। किसी कारणवश बृहस्पति ने अपने प्रमाद से अपनी जाया "जुहू" का परित्याग कर दिया। जुहू ने वैदिक महिलाओ के अध्ययन-अध्यापन से अपने को व्यस्त रखकर नारी के गौरव को बनाये रखा। जुहू के धैर्य और साहस का ही फल हुआ कि पूरे देव समाज ने बृहस्पति को अपनी पत्नी के परित्याग हेतु प्रायश्चित्त करने का आदेश किया[2]। प्रायश्चित्त की समाप्ति पर बृहस्पति ने अपनी ब्रह्मजाया को ग्रहण किया और सभी देवो ने एक स्वर से समर्थन किया कि यह विधिवत् विवाहित है और इसका सतीत्व सुरक्षित है[3]।

विमर्श—

इस सूक्त मे वैदिक क्रियाओ के नष्ट होने पर राजा को क्या-क्या करना चाहिए, इसका बडा ही मार्मिक वर्णन किया गया है। अलकारपूर्ण भाषा मे "जुहू" ने कर्म त्याग करने वाले व्यक्ति से प्रायश्चित्त कराने हतु कैसे लोगो की आवश्यकता है, इस पर विस्तृत प्रकाश डाला है। निर्णायक-मण्डल म नर और नारी दोनो की आवश्यकता पर बल दिया गया है, जिससे निर्णय निष्पक्ष हो सके। ठीक ही कहा गया है—निर्णायक विद्या मे निष्णात, विवेकशील, काल पात्र के जानकार

---

१ पुनर्वै देवा अददु पुनर्मनुष्या उत।
राजान सत्य कृण्वाना ब्रह्मजाया पुनर्ददु ॥
पुनर्दाय ब्रह्मजाया कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम्।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासत ॥ (ऋ० १०।१०९।६-७)

२ ते वदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्बिष कूपार सलिलो मातरिश्वा।
वीलुहरास्तप उग्रो मयाभूरापो देवी प्रथमजा ऋतेन ॥ (ऋ० १०।१०९।१)

३ हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्।
न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा तथा राष्ट्र गुपित क्षत्रियस्य ॥ (ऋ० १०।१०९।३)

होने चाहिएँ। दूरदृष्टि, दृढ निश्चय, विस्तृत और व्यापक दृष्टि, धर्मपरायणता, आस्तिकता आदि से सही निर्णय लिया जा सकता है। पक्षपाती कूपमण्डूक, चाटुकार, अन्याय के आगे सिर झुकाने वाले व्यक्ति कभी सही निर्णय नही ले सकते।

"जुहू" द्वारा दृष्ट इस सूक्त के मन्त्र आज के लोगो के लिये भी उतने ही प्रेरणादायक एव निर्णायक-मण्डल चुनने मे सहायक हैं, जितना वैदिक काल में थे।

(५) दक्षिणा

मन्त्र दर्शन—

दान-प्रतिपादिका ब्रह्मवादिनी "दक्षिणा" का दृष्ट सूक्त १०७ है, जो ऋग्वेद के दशम मण्डल मे पाया जाता है। इस सूक्त मे ११ ऋचाएँ हैं, जिनकी द्रष्टा "दक्षिणा" ही है। प्रजापत्या इस नारी के नाम का उल्लेख भी इस सूक्त के मन्त्रो में दृष्टिगोचर होता है। दान हेतु अत्यधिक प्रचार करने के लिये इस ब्रह्मवादिनी का नाम भी "दक्षिणा" ही पड गया। परवर्ती साहित्य मे तो यह नाम यज्ञादि कराने के बाद पुरोहित को भेंट-स्वरूप दिये जाने वाले पदार्थ का नाम ही दक्षिणा हो गया। प्रारम्भिक काल में गो ही दक्षिणा रूप मे बहुधा दी जाती थी।

ऋग्वेद के (१०।१०७) सूक्त के बाद अथर्ववेद (४।११।४, ५।७।११, ११।७।९), तैत्तिरीय सहिता (१।७।३।१, ८।१।१), वाजसनेयि-सहिता (४।१९।२३, १९।३०), काठक-सहिता (१४।५) आदि में पर्याप्त रूप मे दक्षिणा-शब्द पर प्रकाश डाला गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थो में तो इस दक्षिणा-शब्द को अतिरंजित ही कर दिया गया। शतपथ ब्राह्मण (४, ३, ४, ७) के अनुसार चार प्रकार की दक्षिणा को प्रमुखता दी गयी है—स्वर्ण, गाय, वस्त्र और अश्व।

विमर्श—

यदि "दक्षिणा' को मन्त्रद्रष्टा न मानकर परवर्ती साहित्यकारो के अनुसार दक्षिणा का अर्थ यज्ञादि मे दिया गया पुरस्कार मान लिया जाये, तो प्रश्न उठता है, तब इस १०७ सूक्त का द्रष्टा कौन है? सभी सूक्तो का कोई न कोई द्रष्टा है, तो यह सूक्त बिना साक्षात्कार करने वाले के कैसे रह सकता है? मन्त्रद्रष्टा के रूप मे इस सूक्त के साथ "दक्षिणा" के नाम का ही उल्लेख है। अत यह न मानने का कोई आधार नहीं है कि इस १०७ सूक्त मे "दक्षिणा" नामक महिला ने ही सर्वप्रथम नारियो को दान हेतु प्रेरित करते हुए कहा होगा—"हे नारियो! प्रभु ने आपको कितनी अमूल्य वस्तुएँ दी हैं। सूर्य प्रकाश और उष्णता देता है, चन्द्रमा अपनी शीतल किरणो से सभी को आह्लादित करता है और वायु प्रतिक्षण हमारे

जीवन को गतिशील बनाता है। ये पक्षी अपनी मधुर ध्वनि का, फूल अपनी सुगन्ध का, वृक्ष अपने स्वादिष्ट फलों का तथा नदियाँ अपने मधुर-शीतल जल का क्या आपसे दाम या कीमत मांगते हैं ? उत्तर स्पष्ट है—नहीं, क्योंकि उनकी प्रवृत्ति ही परोपकार की है"।

धनवानों को दान हेतु सम्बोधित करती हुई "दक्षिणा" ने ही कहा होगा—"हे प्यारे बन्धुओ ! सम्पूर्ण विश्व का कार्य एक दूसरे की सहायता से चल रहा है। सूर्य की सहायता के बिना वसुन्धरा नाना प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न नहीं कर सकती। इसी तरह भगवत्कृपा के बिना सूर्य, चन्द्र, अनल, अनिल आदि भी अपना कार्य सम्पादन नहीं कर सकते। इसी को आधार मानकर विचार कीजिए कि क्या यह धन-दौलत स्थायी है ? यदि धन आदि पदार्थ स्थायी नहीं हैं, क्षणभंगुर है, तो इनको दान में देकर स्थायी यश-लाभ क्यों न प्राप्त किया जाये ? दान की प्रक्रिया निःस्वार्थ होने से परम पद की प्राप्ति होती है।

इस सूक्त के प्रथम मन्त्र[1] (ऋग्वेद—१०।१०७।१) पर ध्यान देने से पता चलता है कि "दक्षिणा" ने प्राकृतिक शक्ति सूर्य के उदाहरण से दान दाताओं को कैसे प्रेरणा दी है। दान की विविधता से विविध प्रकार के फलों की उपलब्धि होती है। इस सत्य पर प्रकाश डालते हुए "दक्षिणा" स्वयमेव स्पष्ट करती है प्रस्तुत सूक्त के पंचम मन्त्र में[2], कि वे दानी व्यक्ति को ही राजा मानती हैं।

दान-दाता को उसकी उदारता के फलस्वरूप अनेक प्रकार के लौकिक एवं पारलौकिक लाभ मिलते हैं। समाज में वह सर्वत्र समादर पाता है, अपनी कर्तव्य-परायणता के कारण ही सर्वसाधारण जनसमुदाय में उसे ऊँचे आसन पर बैठाया जाता है। इस प्रकार दीन-दुखियों की पुकार सुनने वाला दानी व्यक्ति स्वयमेव दीनबन्धु परमपिता का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। इस सूक्त के छठे मन्त्र[3] में स्पष्ट कहा गया है कि उदारतापूर्वक दान देने वाला ही वस्तुतः ऋषि और ब्रह्मा है। यज्ञ-नेता के रूप में मान्यता प्राप्त करने का अधिकार ऐसे ही लोगों को है, जो दान से अनाथों की सहायता करते हैं। अग्निदेव के आहवनीय, गार्हपत्य एवं

---

१ आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि।
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि ॥ (ऋ० १०।१०७।१)

२ दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय ॥ (ऋ० १०।१०७।५)

३ तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ॥ (ऋ० १०।१०७।६)

दक्षिणा-रूपी तीनो स्वरूपो को पहचानने वाले दानी-व्यक्ति को सर्वत्र विजयश्री मिलती है।

मन्त्रद्रष्टा "दक्षिणा" द्वारा साक्षात्कृत इस सूक्त मे निर्दिष्ट सन्देश को आज के स्वार्थी, लोभी एव लालची समाज को बडी आवश्यकता है।

(६) रोमशा

मन्त्र दर्शन—

बुद्धि की उपासिका "रोमशा ब्रह्मवादिनी" ने ऋग्वेदसहिता के प्रथम मण्डल के १२६वे सूक्त की १ से ७ ऋचाओ का साक्षात्कार किया। ब्रह्मवादिनी इस नारी ने उन सभी बातो का प्रचार और प्रसार किया है, जिनसे स्त्रियों की बुद्धि का विकास होता है। वैदिकी-पद्धति के प्रचार करने हेतु अनेक प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता होती है। वेद और वेदाग इस नारी के रोमवत् थे, अर्थात् इसके कण्ठ थे। सम्भवत. इसीलिए इसका नाम ही रोमशा पड गया। रोमशा-शब्द पहले विशेषणरूप में ही आया होगा, जिसका प्रयोग बाद मे इस मन्त्रद्रष्ट्री नारी के लिए रूढ हो गया।

बृहद्देवता (३।१५६) के अनुसार रोमशा, राजा भावयव्य की सहधर्मिणी (पत्नी) थी। इसी रोशमा का उल्लेख ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १२६वें सूक्त मे है। इस सूक्त को ७वी ऋचा मे "[1]रोशमा" नाम का स्पष्ट सकेत है, जिसमे कहा गया है—"हे पतिदेव! मुझे समीप मे आकर स्पर्श कीजिये। मुझे अल्प-रोमवाली न समझिये। मैं गान्धारी के सदृश रोमवाली हूँ और विविध अवयवो से पूर्ण हूँ। आप मेरे समस्त अगो का निरीक्षण करें और मेरे गुण अवगुण पर विचार करें। मेरे ये अग और गुण समस्त गृह-कार्यो के लिये उपयोगी है, क्योकि इनसे किसी भी प्रकार से हानि की सम्भावना नही है"।

विमर्श—

इस सूक्त मे जितेन्द्रिय, उद्यमी पुरुष के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की गयी है, क्योकि वह बुद्धि से काम लेते हैं। बुद्धि के माध्यम से हम अनेक प्रकार को सफलताएँ प्राप्त करते है। हमारी इस सफलता के पीछे बुद्धि की दृढता का बहुत बड़ा सहयोग होता है। जो मनुष्य बुद्धि को दृढता के साथ अपनाये रहता है, उसके सभी अवगुणो को दूर कर बुद्धि भी उसका सहयोग सच्ची पत्नी के समान करती है। उद्योगी मनुष्य को बुद्धि स्पष्ट रूप स कहता है—"यह मत सोचो कि मेरे पास विद्यारूपी धन कम है, क्योकि मैं सभी तरह की सम्पत्तियो से सम्पन्न हूँ"।

---

१. उपाप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथा।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका॥ (ऋ० १।१२६।७)

इस सूक्त मे रोमशा-रूपी वुद्धि का बडा ही सुन्दर विवेचन किया गया है। इस सूक्त के प्रथम[1] मन्त्र से पता चलता है कि सिन्धु नदी के तटवर्ती भू भाग के स्वामी भावयव्य ने वुद्धिसाधिका रोमशा को प्राप्ति हेतु सहस्र यज्ञो का अनुष्ठान किया था। यश की कामना करने वाले इस राजा से प्रभावित होकर अन्त मे रोमशा ने उसे स्वीकार कर लिया। पत्नी की प्राप्ति के पश्चात् स्वय राजा ने ऋग्वेदीय सूक्त के ६ठ [2]मन्त्र मे अपनी सहधर्मिणी की प्रशसा करते हुए कहा है—"मेरी पत्नी (रोमशा) गृहस्वामिनी के रूप मे मुझ सैकडो प्रकार के भोग्य पदार्थ और ऐश्वर्य देती है। यह मेरी अत्यन्त प्रिय सहधर्मिणी है'।

(७) लोपामुद्रा

मन्त्र दर्शन—

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के १७९व सूक्त का साक्षात्कार करने वाली ऋषिका लोपामुद्रा है। इस सूक्त के चतुर्थ मन्त्र मे 'लोपामुद्रा[3]' के नाम का भी स्पष्ट उल्लेख है। लोपामुद्रा ने इस सूक्त मे पति पत्नी के एक आदर्श रूप का चित्रण किया है। गृहस्थाश्रम के कतव्यो के निर्वाह हेतु यौवनावस्था को सर्वात्तम माना है। जीवन को मयमशील रखते हुए विद्याध्ययन मे दम्पति को सदा लगा रहना चाहिए। गृहस्थ-धर्म के निर्वाह मे स्त्री और पुरुष के अधिकार को एक सा माना गया है। पितृ ऋण स मुक्ति हेतु पुत्रोत्पत्ति की अनिवायता पर बल दिया गया है[4]।

जीवन वृत्त—

विदर्भ राजा की इकलौती पुत्री का नाम लोपामुद्रा है जिसका पाणिग्रहण सस्कार महर्षि अगस्त्य स हुआ था। विदभराज बहुत दिन तक सन्तति के अभाव मे व्याकुल थे। देवाराधन के फलस्वरूप एक कन्या का जन्म हुआ, जिसका शास्त्र सम्मत नाम लोपामुद्रा रखा गया। सच्चरित्र रूपवती लोपामुद्रा अप्सराओ से भी

---

१ अम दान्स्तोमान्प्र भर मनीषा सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य।
यो मे सहस्रममिमीत सवानतूर्तो राजा श्रव इच्छमान॥ (ऋ० १।१२६।१)

२ आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे।
ददाति मह्य यादुरी याशूना भोज्या शता॥ (ऋ० १।१२६।६)

३ नदस्य मा रुधत काम आगन्नित आजातो अमुत कुतश्चित।
लोपामुद्रा वृषण नी रिणाति धीरमधीरा धयति श्वसन्तम॥ (ऋ० १।१७९।४)

४ अगस्त्य खनमान खनित्र प्रजामपत्य बलमिच्छमान।
उभौ वर्णावृषिरुग्र पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम॥ (ऋ० १।१७९।६)

अधिक रूपवाली सिद्ध हुई, जब उसने अपनी कुमारावस्था को पारकर युवावस्था में प्रवेश किया।

अपनी विदुषी पुत्री की प्रतिभा से प्रभावित पिता निरन्तर चिन्तातुर रहते थे कि इसके योग्य वर कहाँ मिलेगा ? राजा अभी इस चिन्ता में पड़े ही थे कि एक दिन ऋषि अगस्त्य ने सन्तान-प्राप्ति हेतु उनसे लोपामुद्रा की याचना की। ऋषि के इस प्रस्ताव से राजा बड़े धर्म-संकट में पड़ गये, क्योंकि प्रस्ताव की विसंगतियाँ स्पष्ट थीं। लोपामुद्रा जैसी सुशीला, सदाचारिणी, विदुषी, सुलक्षणा, रूपवती, सर्वगुण-सम्पन्ना कन्या को एक वनवासी के हाथ सौंप देना एक कठिन कार्य था। एक ओर पुत्री के भविष्य की चिन्ता थी, तो दूसरी ओर महर्षि अगस्त्य की तपश्चर्या का भी भय था कि निषेध करने पर कहीं शाप देकर मेरा सर्वस्व ही न छीन लें।

माता-पिता की इस चिन्ता को लोपामुद्रा ने समझ लिया और वे विनम्रभाव से बोली—'पिता जी! आप मेरी चिन्ता न करें। अपनी रक्षा हेतु मेरा पाणिग्रहण-संस्कार शीघ्र ही महर्षि अगस्त्य के साथ सम्पन्न कीजिये"। अपनी पुत्री के इस उदार विचार से राजा प्रभावित हुए और उन्होंने वैदिक रीति से लोपामुद्रा को महर्षि के हाथों सौंप दिया। आश्रमवासिनी राजकन्या ने तत्काल राजसी वस्त्राभूषणों के स्थान पर वल्कल पहन लिया और महर्षि का सहधर्मिणी बनकर उनकी सेवा में लग गयी। महर्षि अगस्त्य भी अपने तपोबल को बढ़ाने में लग गये।

तपश्चर्या में लीन इस दम्पति के अनेक वर्ष व्यतीत हुए। एक दिन महर्षि को अकस्मात् वैवाहिक-जीवन के लक्ष्य की याद हो आई। "सन्तान हीन के पितरों का कल्याण नहीं होता" यह सोचकर ऋषि ने लोपामुद्रा से पुत्रोत्पत्ति हेतु रतिक्रीडा की याचना की। लोपामुद्रा ने कहा—"पतिदेव! आपको प्रसन्न करना मेरा पहला धर्म है। पालन करने के कारण "पति", शरीर का ईश्वर होने के कारण "स्वामी", अभिलाषाओं की पूर्ति के कारण "कान्त", प्राणों का स्वामी होने के कारण "प्राणेश्वर", रति-दान के कारण "रमण", और प्रेम करने के कारण "प्रिय"—इस तरह आप मेरे लिए सब कुछ हैं"।

"पति-पत्नी का स्थान बराबर का है। इसलिए हे महर्षे! यदि आप पुत्रोत्पत्ति हेतु रतिक्रीडा के अभिलाषी हैं, तो मुझे अलंकारों और आभूषणों से सुसज्जित कीजिये। मैं इन वल्कलों को धारणकर इस कार्य में प्रवृत्त नहीं होना चाहती; क्योंकि इसका प्रभाव सन्तति पर पड़ता है"। यही कारण है कि कामशास्त्र में पति के पास गमन करने से पूर्व पत्नी के लिए अनेक प्रकार के रूप-विधानों की चर्चा की गयी है। महर्षि के सामने भारी समस्या थी कि वे इन आभूषणों का कहाँ से प्रबन्ध करें; क्योंकि कहीं से याचना करने पर तपश्चर्या के भंग होने का भय था। अस्तु, अगस्त्य

मुनि ने अपने तपोबल से इल्लव राजा से लोपामुद्रा की इच्छानुकूल अलकरण प्राप्त किये।

अगस्त्य ने लोपामुद्रा से सन्तानोत्पत्ति के विषय मे पूछा कि "तुम्हे अनेक पुत्रो की अभिलाषा है या किसी एक ही पुत्र की, जो सर्वगुण सम्पन्न हो"। लोपामुद्रा ने तत्काल उत्तर दिया—"भगवन्! मुझे तो एक गुणी पुत्र की आवश्यकता है। मै हजार निकम्मे एव मूर्ख पुत्रो को लेकर क्या करूँगी ?" अगस्त्य की स्वीकृति के पश्चात् मन्त्रद्रष्टा इस नारी ने दृढस्यु नामक पुत्ररत्न को जन्म दिया, जो बाद मे बडे ही विद्वान्, चरित्रवान्, कवि और तत्त्ववेत्ता सिद्ध हुए। ऋषि दम्पति ने एक सुयोग्य पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् अपने गृहस्थाश्रम की सफलता स्वीकार करते हुए पुन तपस्या मे जीवन-यापन करना आरम्भ कर दिया।

विमर्श—

वैदिक-सहिताओ की मन्त्रद्रष्टा नारियो मे लोपामुद्रा का स्थान नि सन्देह अपना एक वैशिष्ट्य रखता है। विदर्भराज के ऐश्वर्य मे लालित पालित-पोषित पुत्री अपने माता-पिता को चिन्तामुक्त करने हेतु वनवासी अगस्त्य से विवाह करने मे लेशमात्र भी सकोच नही करती। लोपामुद्रा का दृढ विश्वास है कि पितृ-परितोष सन्तान का प्रथम कर्तव्य है। विवाह होने पर अपने वल्कलधारी पति के साथ लोपामुद्रा वल्कल पहनती है और सभी प्रकार के राजसी वैभव का परित्याग कर देती है, क्योकि उसकी दृष्टि मे पति से बढकर कोई देवता नही है।

सन्तानोत्पत्ति विषयक प्रस्ताव आते ही लोपामुद्रा, महर्षि अगस्त्य को काम-शास्त्र के पवित्र नियमो का स्मरण कराती है। लोपामुद्रा ने ऋषि को बताया कि रति क्रीडा मे नारी और नर यदि अपने को वस्त्राभूषणो से सुसज्जित नही करते, तो इसका गहरा प्रभाव सन्तान पर पडता है। लोपामुद्रा के चरित्र मे अनेक प्रकार की शिक्षाएँ मिलती हैं, जिनमे सर्वश्रेष्ठ शिक्षा है—आत्मसयम।

हजार पुत्रो की अपेक्षा एक ही राष्ट्रभक्त, समाजसेवी, चरित्रवान्, विद्वान् पुत्र अच्छा है, जो माता-पिता के दोनो कुलो का मस्तिष्क ऊँचा कर देता है। ईश्वरा-राधना और गृहस्थाश्रम की परम्परा का निर्वाह एक साथ कैसे हो सकता है, काम-वासनाओ और मानसिक दुर्बलताओ को कैसे नियन्त्रित किया जा सकता है, इत्यादि सद्गुणो का यदि कही एक साथ दर्शन होता है, तो वह स्थान है—लोपामुद्रा का आश्रम। इस कथा पर विभिन्न विचारको ने विचार किया है[1]।

---

१ बृहद्देवता (४।५७), ओल्डेनबर्ग—त्सी० गे० (३९, ६८)। कीथ—जर्नल आफ रायल एसियाटिक सोसायटी (१९०९, १९११), विण्टरनित्ज-वियना ओरियन्टल जर्नल। (२०१२)

(८) वागाम्भृणी

मन्त्र-दर्शन—

अम्भृणी महर्षि की पुत्री के कारण वैदिक-संहिताओ के मन्त्रो का साक्षात्कार करने वाली इस नारी का नाम वागाम्भृणी पड गया। अपने योगबल से इस नारी-रत्न ने ऋग्वेद के दशम मण्डल के १२५व सूक्त के प्रारम्भिक ८ मन्त्रो का साक्षात्कार किया है। वैदिक वाङ्मय मे इस सूक्त को देवीसूक्त के नाम से भी जाना जाता है। इस सूक्त मे वाक् (वाणी) की प्रशसा की गयी है। आज सम्पूर्ण भारत मे नवरात्र के दिनो मे जो चण्डी पाठ होता है, उसके मूल मे यही सूक्त कारण है। चण्डी-पाठ के प्रचार एव प्रसार से पूर्व इसी सूक्त की ऋचाओ का प्रचलन था। मार्कण्डेय-पुराण के चण्डी-माहात्म्य-प्रकरण मे वागाम्भृणी द्वारा दृष्ट इन मन्त्रो पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

अद्वैतवाद के प्रचारक श्रीशङ्कराचार्य जी को अपने प्रिय सिद्धान्त के लिए इसी सूक्त से प्रेरणा मिली थी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि "वागाम्भृणी" ही अद्वैतवाद की मूल जननी थी, जिसने भगवान् शङ्कराचार्य को सम्बल प्रदान किया और वे पुन सनातनधर्म की आधारशिला रख सके। ब्राह्मण धर्म की पुन- स्थापना के पीछे इसी सूक्त के अद्वैतवाद का बल था, जिसके सम्मुख बौद्धधर्मावलम्बी नही टिक सके। इससे यह स्पष्ट होता है कि अद्वैतवाद के प्रवर्तक श्रीशङ्कराचार्य नही थे, अपितु इस सिद्धान्त की प्रवर्तिका उक्त वैदिक मन्त्रो का साक्षात्कार करने वाली वागाम्भृणी स्वय थी।

विमर्श—

वाग् देवी के रूप मे जानी जाने वाली इस नारी ने जिन मन्त्रो का साक्षात्कार किया, उनमे वाणी के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसी को राज्यो की अधिष्ठात्री[1] कहा गया है। प्रस्तुत सूक्त के ५वें मन्त्र में[2] वागाम्भृणी को इतना शक्तिशाली बताया गया है कि उसकी कृपा से ही मानव बलवान्, मेधावी स्तोता या कवि हो सकता है। सम्पूर्ण विश्व को सही मार्ग का दर्शन कराने वाली वाग्-देवी वस्तुत महामहिमाशालिनी है।

---

१ अह राष्ट्री सङ्गमनी वसूना चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
ता मा देवा व्यदधु पुरुत्रा भूरिस्थात्रा भूर्यावेशयन्तीम्॥ (ऋ० १०।१२५।३)

२ अहमेव स्वयमिद वदामि जुष्ट देवेभिरुत मानुषेभि।
य कामये त तमुग्र कृणोमि त ब्रह्माण तमृषि त सुमेधाम्॥ (ऋ० १०।१२५।५)

वाक्, वाग् या वाच् इस शब्द का वैदिक वाङ्मय मे कल्पनातीत महत्त्व गाया गया है। सहिताओ मे वाच् को स्पष्ट करने का श्रेय इन्द्र को दिया गया है। इस सम्बन्ध मे तैत्तिरीय-सहिता (६।४,७ ३) एव मैत्रायणी सहिता (४।५,८) द्रष्टव्य है। तूणव, वीणा, दुन्दुभी आदि वाद्य यन्त्रो के शब्द के रूप मे भी "वाच्" का उल्लेख है। कुरु पचालो की वाच् (वाणी) का भी वणन तैत्तिरीय-सहिता (६,१,४,१) मे तथा मैत्रायणी सहिता (३।६,८) एव काठक-सहिता (२३।४) मे उपलब्ध है।

काठकसहिता (१४।५) म वाच् के विभिन्न भेदो मे देवी" और "मानुषी" विभेद भी दृष्टिगोचर होता है। 'यश् च वेद वश् च न" शब्द 'दैवी" और "मानुषी" के साधारण रूप मे मैत्रायणी-सहिता (१।११।५) म पाया जाता है।

ऐसा लगता है "अम्भृण" ऋषि की इस पुत्री ने अपने समय मे अपनी वाणी के बल से सभी को पराभूत कर दिया था। अपने अद्वैतवादी सिद्धान्तो स द्वैतवाद म निष्ठा रखने वालो को पराजित करने के बाद इस देवी की समाज मे धाक जम गयी और लोगो ने सम्भवत इसे वाग् (वाणी) का अवतार मान लिया। जो भी हो, "अम्भृण" ऋषि की इस पुत्री को वैदिक-सहिताओ की ऋचाओ का साक्षात्कार करने वाली नारी के रूप मे आज जो समादर प्राप्त है, वह सम्मान सम्भवत किसी *पुरुष ऋषि को प्राप्त नही है।*

(९) विश्ववारा

मन्त्र-दर्शन—

ऋग्वेद सहिता के पचम मण्डल के द्वितीय अनुवाक क २८वें सूक्त की द्रष्ट्री "विश्ववारा' है। इस सूक्त म छ ऋचाएँ हैं, जो एक से एक बढकर साहित्यिक छटा का प्रदर्शन करती हैं। अग्निदेव की स्तुति मे प्रतिपादित इस सूक्त की अनेक विशेषताएँ है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र म मन्त्रद्रष्ट्री 'विश्ववारा"[1] क नाम का उल्लेख है। इस मन्त्र मे प्रज्वलित अग्निदेव के उस उज्ज्वल तेज का वणन किया गया है जो आकाश तक अपनी ज्वाला फैलाता है। देवार्चन म निमग्ना विदुषी नारी विश्ववारा को विद्वानो का सत्कार करत हुए एव हविष द्वारा यज्ञ करते हुए दिखाया गया है। इस सूक्त के तृतीय मन्त्र[2] म स्त्री पुरुष के दाम्पत्य सम्बन्ध को सुदृढ करने की कामना व्यक्त की गयी है, क्योकि वैदिक-परम्परा म विश्वास करने

---

१ समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत्प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया वि भाति।
एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईलाना हविषा घृताची॥ (ऋ० ५।२८।१)

२ अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि॥ (ऋ० ५।२८।३)

वाले स्त्री और पुरुष का हृदय स्वच्छ होता है और उसे सम्पूर्ण ऐश्वर्य अपने आप उपलब्ध हो जाते हैं। इस सूक्त के चतुर्थ मन्त्र मे "वन्दे" क्रिया उत्तम-पुरुष एक-वचन की है, जिसमे कहा गया है—"हे अग्ने ! जब तुम प्रज्वलित होते हो, तो मैं विश्ववारा तुम्हारे उस अलौकिक तेज की स्तुति करती हूँ। इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र मे[1] अग्निदेव से प्रार्थना की गयी है कि वे स्त्रियो के अखण्ड सौभाग्य के लिए बलयुक्त हो, दूसरो की भलाई मे तत्पर हो, हमारे हृदयों मे वैमनस्यता के बीज बोने वाले कुकर्मो, दुष्प्रवृत्तियो का सहार हो।

विमर्श—

जो नारी स्वय पाप मे मुक्त होकर स्त्रियो मे वैदिक-धर्म का प्रचार करती हुई दूसरो को पाप से मुक्त करती है, उसे विश्ववारा कहा जाता है। विश्ववारा ने स्वय यज्ञ किये और दूसरो को भी वैसा करने का उपदेश दिया। ब्रह्मवादिनी इस नारी ने इस सूक्त मे जो अग्निदेव की प्रार्थना की है, वह दाम्पत्य-सुख के लिये विशेष रूप से है। सुखी दम्पति मे मनमुटाव हो ही नही सकता, क्योंकि वहाँ कुचेष्टाएँ फटकती तक नही।

(१०) शश्वती

मन्त्र-दर्शन—

ऋग्वेद के आठवें मण्डल के प्रथम सूक्त की ३४वी ऋचा की द्रष्टा ब्रह्मवादिनी 'शश्वती" हैं। शश्वती बुद्धि का पर्याय है। जो जीवात्मा के साथ शाश्वतरूप मे स्थिर रहे, उस बुद्धि को शश्वती कहा जाता है। यह शश्वती ऋषिका अंगिरा ऋषि की पुत्री एव आसङ्ग[2] नामक यदुवंशी राजा की पत्नी मानी गयी है। इसी सूक्त की ३३वी ऋचा मे आसङ्ग को एक महान् दानदाता[3] के रूप में वर्णित किया गया है और इसके साथ ही साथ उसके पिता "प्लयोग" के नाम का भी उल्लेख है। आसङ्ग एव उसके पिता "प्लयोग" के नामोल्लेख से "शश्वती" के पारिवारिक प्रसग पर प्रकाश पडता है।

---

१ आ जुहोता दुवस्यताग्नि प्रयत्यध्वरे।
वृणीध्व हव्यवाहनम् ॥ (ऋ० ५।२८।६)

२ अन्वस्य स्थूर ददृशे पुरस्तादनस्थ ऊरुरवरम्बमाणः।
शश्वती नार्यभिचक्ष्याह सुभद्रमर्य भोजन बिभर्षि ॥ (ऋ० ८।१।३४)

३ अध प्लायोगिरति दासदन्यानासङ्गो अग्ने दशभि सहस्रै।
अधोक्षणो दश मह्य रुशन्तो नळाइव सरसो निरतिष्ठन् ॥ (ऋ० ८।१।३३)

ऋषिका शश्वती ने स्वदृष्ट इस ऋचा मे पति-पत्नी के सम्बन्ध को बुद्धि और आत्मा के दृष्टान्त से समझाया है। अपने पतिदेव "आसङ्ग" को सम्बोधित करती हुई शश्वती कहती है—"हे स्वामिन्! आप परम सौभाग्यशाली हैं, क्योकि आपके पास शोभन भोजन है। यह भोजन स्थिर है, इसका विनाश कभी नही हो सकता। इस भोजन के टुकडे का झुकाव ईश्वराभिमुख है, इसीलिये यह बहुत सा दिखाई देता है"।

विमर्श—

ऋषिका शश्वती पति पत्नी के सुचारु सम्बन्ध की व्याख्याता मानी जाती है। शश्वती ने नारी को बुद्धि का प्रतीक एव पुरुष को आत्मा का प्रतीक माना है। बुद्धि से ही आत्मा की शोभा होती है। बुद्धि की शुद्धता पर ही आत्मा की शुद्धि और पवित्रता निर्भर है। बुद्धि और आत्मा का पारस्परिक सहयोग जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार पति और पत्नी का मेल मिलाप भी समाज मे आवश्यक है। पत्नी की शोभा यदि पति है, तो नि सन्देह पत्नी भी अपने पति का अलकरण है। पति पत्नी को अभेदभाव से इस ससार मे रहना चाहिए। जो दम्पति इस प्रकार एक दूसरे के पूरक होकर रहते है, उनके सामने अमरावती का सुख भी नगण्य है। पति चाहे जितना भी निर्धन हो, पत्नी को सदा यही भाव रखना चाहिए कि मेरे पति के पास सब कुछ है। इसी गूढ रहस्य का उपदेश शश्वती ने इस ऋचा मे नारियो के लिए दिया है।

(११) सूर्या

मन्त्र-दर्शन—

ऋग्वेद सहिता के दशम मण्डल के ८५व सूक्त की मन्त्रद्रष्टा ब्रह्मवादिनी "सूर्या" है। यह सूक्त प्रधानरूप से विवाह सम्बन्धी विवेचना करता है। इसमे ४७ ऋचाएँ हैं, जिनके प्रारम्भ मे सूर्य की पुत्री "सूर्या" के विवाह का वर्णन है। विवाह चन्द्रमा के साथ हुआ। चन्द्रमा मे निजी प्रकाश नही होता, क्योकि वह तो सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है। चन्द्रमा मे दृष्टिगोचर होने वाली प्रभा सूर्य की पुत्री सूर्या की है। इस तथ्य को आलकारिक भाषा के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है।

सूर्य की पुत्री "सूर्या" की प्रभा के बिना जैसे चन्द्रमा मलिन लगता है, ठीक इसी तरह समाज मे मनुष्य भी अपनी पत्नी के बिना उदासीन-सा लगता है। अपनी पत्नी के साथ जीवन-यापन करने वाला सदा समाज मे आदर पाता है और दूसरो के लिये उपयोगी सिद्ध होता है। दिन के स्वामी सूर्य की तरह पति की अपनी स्वतन्त्र

सत्ता है, तो रात्रि के स्वामी चन्द्रमा का भी अपना महत्त्व है। इस तरह सूर्य और चन्द्र के दृष्टान्त से पति और पत्नी के समानाधिकार की ओर संकेत किया गया है।

इस सूक्त की नवम ऋचा[1] का आलङ्कारिक वर्णन किया गया है। "चन्द्रमा को जब विवाह करने की इच्छा हुई, तो दोनो अश्विनीकुमार भी वर बन गये। दूसरी ओर जब सूर्या को विवाह की इच्छा हुई, तो सूर्य-भगवान् ने स्वेच्छया उसे चन्द्रमा को प्रदान कर दिया"। इसका सीधा-साधा अर्थ है—विवाह के योग्य वर तभी माना जाता है, जब वह सोम की तरह विवाह के लिये व्याकुल हो उठे। इस प्रकार प्रकारान्तर से बाल विवाह का निषेध किया गया है। इस कथन के अनुसार तो कन्या का विवाह भी परिपक्वावस्था में ही करने का संकेत है।

विवाह के पश्चात् वधू को उपयुक्त सवारी मे बैठाकर ले जाने का विधान इस सूक्त के २०वें मन्त्र[2] मे है। इस मन्त्र मे सूर्या को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—"हे सूर्ये! तुम अब किंशुक एव साल की लकड़ी से बने रथ पर बैठो, जिस पर सुन्दर चन्दोवा तना है। सुन्दर स्वच्छ सुवर्ण के समान उज्ज्वल इस रथ पर बैठकर चन्द्रलोक की ओर गमन करो"।

गृहस्वामिनी बनने के लिये जिन आवश्यक गुणो की आवश्यकता होती है, उन सबका बड़ा ही मार्मिक चित्रण इस सूक्त की ऋचाओ मे किया गया है। मलिन वस्त्रो के परित्याग एव स्वच्छ वस्त्रो के धारण को नीरोगता हेतु आवश्यक माना गया है। गृहस्थ पति पत्नी यदि निर्मलता से रहेगे, तो उन्हे किसी प्रकार की परेशानी नही होती। इसलिए इस सूक्त मे कल्याण चाहने वाली पत्नी के लिये विशेषरूप से प्रतिपादन किया गया है कि वह सदा स्वच्छ वस्त्र धारण करे।

पाणिग्रहण करने के वास्तविक उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए इस सूक्त के ३६वें मन्त्र[3] मे कहा गया है—"हे कन्ये! तुझे सौभाग्यवती बनाने के लिये मैं तेरे साथ विवाह करता हूँ, अर्थात् तेरा पाणिग्रहण करता हूँ। इस घर की स्वामिनी बनकर तुम मेरे साथ वृद्धावस्था तक जीवन-यापन करना। सन्तति हेतु भग, अर्यमा और पूषन् देव ने तुमको मुझे प्रदान किया है"।

---

१ सोमो वधूयुरभवदाश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत्पत्ये शसन्तीं मनसा सविताददात् ॥ (ऋ० १०।८५।९)

२ सुकिंशुक शल्मलि विश्वरूप हिरण्यवर्णं सुवृत सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोक स्योन पत्ये वहतु कृणुष्व ॥ (ऋ० १०।८५।२०)

३ गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्त मया पत्या जरदष्टिर्यथास।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्य त्वादुर्गार्हपत्याय देवा ॥ (ऋ० १०।८५।३६)

इस सूक्त के ४४वे मन्त्र[1] मे नारी से वीर प्रसवा आदि गुणो से सुशोभित होने की कामना की गयी है—"हे वधू ! तुम अपने पति के लिये मगलकारिणी, शुभ दर्शनी एव घर के पशु आदि को सतर्कता से देखने वाली बनो। सौन्दर्य-युक्त होकर सदा प्रसन्न मन से ईश्वर की उपासिका तथा वीर-पुत्र की जननी बनने का गौरव प्राप्त करो"।

विमर्श—

इस सूक्त मे विवाह-मन्त्र-प्रचारिका ब्रह्मवादिनी "सूर्या" ने सनातन परम्परा के पाणिग्रहण-सस्कार पर अच्छा प्रकाश डाला है। विवाह के उचित समय के प्रतिपादन मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पति-पत्नी की प्रौढावस्था होनी चाहिए। पति-पत्नी की सौमनस्यता से घर स्वर्ग बन सकता है, इसलिये दोनो के समान अधिकार का प्रतिपादन किया गया है।

कुछ अन्य मन्त्र-द्रष्ट्री नारियाँ—

कोमल-हृदया वैदिक-सहिताकालीन नारियो ने जिस उच्च आदर्श को प्राप्त किया, उसका पता तो उनके तप-त्यागमय जीवन से ही चलता है। ठीक ही कहा गया है कि "परमात्मा-सम्बन्धी ऋषियो की प्राचीनतम भावना पुरुष के रूप मे नही, नारी के रूप मे प्रकट हुई होगी"। "जायेदमस्त मघवन् सेदु योनि." अर्थात् हे इन्द्र ! स्त्री ही घर है, वही सबकी मूलभूता है। आगे चलकर स्मृतिकारो की घोषणा भी अक्षरशः सत्य है कि "न गृह हुर्गृहिणी गृहमित्यागृहमुच्यते"।

प्रमुख मन्त्र द्रष्टा नारियो के वर्णन के बाद कुछ अन्य मन्त्र-द्रष्टा नारियो का यहाँ नामोल्लेख किया जा रहा है—

(१२) इन्द्राणी

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २२वे सूक्त के १२वे मन्त्र मे इन्द्र की पत्नी के रूप मे इन्द्राणी[2] के नाम का उल्लेख है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के १४५वें सूक्त तथा ८६वें सूक्त के मन्त्रो की द्रष्टा इन्द्राणी को माना गया है। इस मण्डल के सूक्त ८६वें के मन्त्र १६–१७[3] मे शक्तिशाली मनुष्य के कर्तव्यो का बडा सुन्दर निरूपण किया गया

१. अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्य सुमना· सुवर्चा।
वीरसूर्देवकामा स्योना श नो भव द्विपदे श चतुष्पदे॥ (ऋ० १०।८५।४४)

२. इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानी स्वस्तये॥ (ऋ० १।२२।१२)

३ न सेशे यस्य रम्बतऽन्तरा सक्थ्या कपृत्।
सेदीशे यस्य रोमश निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तर.॥ (ऋ० १०।८६।१६)

है। दशम मण्डल के १४५वें सूक्त में सपत्नी से उत्पन्न क्लेशों से छुटकारा पाने वाले प्रयत्नों का वर्णन है। प्रथम मन्त्र[1] में ही कहा गया है—"मैं उस बलवती, गुणवती औषधि का अन्वेषण करती हूँ, जिससे सपत्नी (सौत) को क्लेश पहुँचता है और पति वश में होता है"।

(१३) इन्द्र-मातरः

ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त १५३ के सभी पाँचों मन्त्रों की द्रष्टा इन्द्र-माताओं को माना गया है। इस सूक्त में इन्द्र की उत्पत्ति पर इन्द्र की माताओं की परिचर्या का वर्णन है, जो नवजात शिशु इन्द्र के प्रति की गयी है[2]। शेष चार मन्त्रों में इन्द्र के अलौकिक गुणों का वर्णन है, जिसमें मुख्यरूप से वृत्रासुर के वध की चर्चा है।

(१४) इन्द्रस्नुषा

ऋग्वेद के दशम मण्डल के २८वें सूक्त के प्रथम मन्त्र[3] की द्रष्टा के रूप में इन्द्रस्नुषा (पुत्रवधू) का उल्लेख है। इस मन्त्र में इन्द्र की पुत्रवधू कहती है—"इस यज्ञ में सभी अन्य देवता आ गये हैं, परन्तु मेरे श्वसुर (इन्द्र) अभी तक नहीं आये। यदि आ जाते, तो भुने हुए जौ के साथ सोमपान करते और फिर घर लौटते"।

(१५) रात्रि

ऋग्वेद के दशम मण्डल का १२७वाँ सूक्त "रात्रि" द्वारा साक्षात्कार किया हुआ माना गया है। इस सूक्त में ८ मन्त्र हैं, जिनमें प्रथम और अष्टम मन्त्र में "रात्रि" के नाम का भी उल्लेख है। रात्रि में उत्पन्न होने वाले विघ्नों से त्राण पाने की प्रार्थना इस सूक्त में की गयी है। इस सूक्त के ८वें मन्त्र[4] में रात्रि को आकाश की पुत्री स्वीकार किया गया है।

१ इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्॥ (ऋ० १०।१४५।१)

२ ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते। भेजानासः सुवीर्यम्॥ (ऋ० १०।१५३।१)

३ विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वशुरो ना जगाम।
जक्षीयाद्धाना उत सोमं पपीयात्स्वाशितः पुनरस्तं जगायात्॥ (ऋ० १०।२८।१)

४. उप ते गा इवाकरं वृणीष्व दुहितर्दिवः।
रात्रि स्तोमं न जिग्युषे॥ (ऋ० १०।१२७।८)

(१६) गोधा

ऋग्वेद के दशम मण्डल के १३४वें सूक्त की द्रष्टा गोधा ऋषिका है। इस सूक्त मे सात मन्त्र हैं, जिनमे इन्द्र की स्तुति की गयी है। प्रथम मन्त्र[1] मे ही इन्द्र की महानता द्रष्टव्य है, जिसमे इन्द्र की जननी अदिति की कोख से उनके प्रादुर्भाव का वर्णन है। इस सूक्त के छठें मन्त्र मे इन्द्र के "शक्ति" नामक शस्त्र का वर्णन है, जिसकी तुलना हाथी को वश मे रखने वाले अकुश से की गयी है। शत्रु को खीचकर नष्ट करने की इन्द्र की प्रक्रिया उस छाग (बकरे) के सदृश है, जो वृक्ष की शाखाओ को अपनी ओर खीचता है।

(१७) यमी

ऋग्वेद के दशम मण्डल के १५४वे सूक्त की ऋषिका यमी है। इसमे प्रेत (मृत-व्यक्ति) को उस पवित्र स्थान पर जाने को कहा गया है, जिसे लोगो ने बड़ी तपश्चर्या से प्राप्त किया है। सगाम भूमि मे शौर्यपूर्वक लड़ने वाले लोगो तथा उदारतापूर्वक दान देने वालो का लोक ही श्रेष्ठ है। यहाँ "प्रेत" शब्द मृत व्यक्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है, न कि वैदिकोत्तरकाल मे प्रयुक्त होने वाले "प्रेतात्मा" के अर्थ मे। शतपथब्राह्मण (१०।५,२,१३) मे प्रेत का अर्थ मृत व्यक्ति से किया गया है। सूक्त के द्वितीय मन्त्र[2] मे मृत व्यक्ति को जहाँ पहुँचने हेतु कहा गया है वह स्थान बडे तप, त्याग और बलिदान के फलस्वरूप मिलता है।

(१८) यमी वैवस्वती

ऋग्वेद के दशम मण्डल का दशम सूक्त यमी वैवस्वती द्वारा दृष्ट माना गया है। इस सूक्त मे १४ ऋचाएँ है, जिनमे यमी द्वारा अपने ही सहोदर यम से पाणिग्रहण करने की प्रार्थना की गयी है। यमी के इस पस्ताव को, अनैतिक, सामाजिक परम्परा के विरुद्ध मानते हुए यम ने ठुकरा दिया। इस सूक्त का सवादरूप मे वर्णन नि सन्देह बडा ही कौतूहल पैदा करने वाला है। यमी ने इस सूक्त की (१,३,६,७,११ और १३वी) ऋचा के माध्यम से यम को फुसलाने का प्रयत्न किया है, परन्तु यम ने प्रस्तुत सूक्त की ऋचा (२,४,५,१२ तथा १४) मे यमी को समझाने का प्रयास किया कि भाई और

---

१ उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव।
महान्त त्वा महीना सम्राज चर्षणीनाम्।
देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥ (ऋ० १०।१३४।१)

२ तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययु।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥ (ऋ० १०।१५४।२)

बहन का सम्बन्ध सर्वोपरि है, उसे इस वासना के पंक से दूषित मत करो। सूक्त के द्वितीय मन्त्र[1] में पाप पुण्य को सदा देखने वाले देवगण की चर्चा की गयी है।

(१९) शची

ऋग्वेद दशम मण्डल के १५९वें सूक्त की ऋषिका शची पौलोमी मानी गयी है। इस सूक्त की सम्पूर्ण ६ ऋचाओं में शची ने अपने सुखद, सामर्थ्यवान् एवं सपत्नियों के मानमर्दक यश का वर्णन किया है। सूक्त के प्रथम मन्त्र[2] में ही सपत्नियों को पराभूत करने वाले तथा अपने पति इन्द्र को वशवर्ती करने वाले अपने भाग्य की सराहना की गयी है। इस सूक्त से पता चलता है कि उस समय बहुविवाह-पद्धति प्रचलित थी। वैदिक-संहिताकालीन नारी में कितना सामर्थ्य था, इसका पता इस सूक्त की अन्तिम ऋचा से चलता है, जिसमें कहा गया है कि—"मैं शची सपत्नियों को पराजित कर अपने पति इन्द्र के साथ ही साथ सभी बान्धवों को भी अपने अधीनस्थ करने की शक्ति रखती हूँ"।

(२०) श्रद्धा

ऋग्वेद के दशम मण्डल के १५१वें सूक्त की ऋषिका श्रद्धा-कामायनी है। इस सूक्त में पाँच ऋचाओं का उल्लेख है, जिनमें श्रद्धा के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। श्रद्धा ही उपासकों की आराधना की आधारशिला है। श्रद्धा की अनुकूलता[3] को ही सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्राप्ति का साधन माना गया है। प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में क्रियमाण कर्मों में श्रद्धा[4] के आह्वान की बात की गयी है, जिससे श्रद्धा के महत्त्व का पता चलता है।

आज श्रद्धा के अभाव का ही फल है कि हम सब पारस्परिक सन्देह के शिकार हो जाते हैं। यदि श्रद्धापूर्वक कार्य करने की आदत पड़ जाये, तो इस धरती

---

१ न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन्॥ (ऋ० १०।१०।२)

२ उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः॥ (ऋ० १०।१५९।१)

३ श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु॥ (ऋ० १०।१५१।४)

४ श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥ (ऋ० १०।१५१।५)

को स्वर्ग बनाने का स्वप्न साकार हो सकता है। मानव और दानव के बीच भेद बताने के लिये श्रद्धा एक मानदण्ड का काम करती है।

(२१) सार्पराज्ञी

ऋग्वेद के दशम मण्डल के १८९व सूक्त की द्रष्टा नारी सार्पराज्ञी है। इस सूक्त मे महान् तेजस्वी सूर्य की गतिशीलता पर प्रकाश डाला गया है। अपने उदयकाल के साथ ही यह सूर्य सर्वप्रथम अपनी मातृभूत पूर्वदिशा को नमन करते हुए अपने पितृदेव आकाश की ओर बढते हैं[1]। सार्पराज्ञी ने अपने इस सूक्त के माध्यम से सूर्य को सम्पूर्ण व्योम को व्याप्त करनेवाला एव विश्व को अलकृत करने वाला माना है।

(२२) सिकता

ऋग्वेद के दशम मण्डल के ८६व सूक्त की ऋषिका सिकता निवावरी मानी गयी है। इस सूक्त मे कुल ४८ मन्त्र है जिनमे ११ से २० तक के मन्त्र सिकता द्वारा दृष्ट माने गये हैं। अपने द्वारा दृष्ट इन मन्त्रो म सिकता ने बडे ही सुन्दर ढग से 'सोम" रस की प्रशसा की है। विश्व के सम्पूर्ण कार्यों म सोम के प्रभाव को दिखाया गया है। विशेषरूप स इन्द्र के कार्यो मे इस 'सोमरस को विशेष चर्चा की गयी है[2]।

(२३) उर्वशी-पुरूरवा

कतिपय वैदिक-संवाद-सूक्त—

ऋग्वेद के दशम मण्डल के ९५व सूक्त मे उर्वशी और राजा पुरूरवा का सवाद बडी ही आलङ्कारिक भाषा म प्रस्तुत किया गया है। इस सूक्त के दो प्रमुख पात्र हैं—(१) ऐलवशी पुरूरवस, मृत्युलोक का वासी है एव (२) उसकी प्रेमिका उर्वशी स्वर्ग को अप्सरा है। दोनो का दाम्पत्य सम्बन्ध चार वर्षों तक सुखदरूप मे चलता ह। दोनो के सयोग से आयु नामक पुत्र की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् उर्वशी के प्रभाव स निस्तेज गन्धर्वो के षडयन्त्र के कारण उर्वशी और पुरूरवा को अलग होना पडता है। पत्नी के वियोग की असहनीय वदना स पुरूरवा विक्षिप्त से हो जाते हैं। इसी विक्षिप्तावस्था म राजा न एक दिन आत्महत्या का निश्चय कर लिया।

---

१ आय गौ पृश्निरक्रमीदसद मातर पुर । पितर च प्रयत्स्व ॥ (ऋ० १०।१८९।१)

२ मनीषिभि पवत पूर्व्य कविर्नृभियत परिकोशा अचिक्रदत । (ऋ० १०।८६।२०)

उर्वशी अपने पति की इस दीन-हीन दशा पर चिन्तातुर हो उठी और उसने अपने वैराग्यपूर्ण तर्कों से राजा को आत्महत्या से विरत कर दिया[१]। इससे स्पष्ट है कि उस समय नारी का पुरुष पर अंकुश था और नारी, नर की तुलना मे अधिक विवेकी और जागरूक थी। उर्वशी ने सूक्त के अन्तिम मन्त्र[२] मे पुरूरवा को धैर्य धारण करने की सलाह दी है; क्योंकि अन्त मे उसे इसी प्राणरक्षा के कारण आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

विमर्श—

इस वैदिक सवाद के पीछे एक रहस्य छिपा हुआ है। यहाँ पुरूरवा सूर्य के प्रतीक हैं और उर्वशी उषा की प्रतीक है। सूर्य और उषा का संयोग बहुत ही अल्प-कालीन होता है। लुप्त एवं वियुक्त उषा की खोज मे सूर्य दिनभर चक्कर काटता रहता है। उषा-रूपी उर्वशी का कथन है—"हे सूर्यरूपी पुरूरवा! आज अस्ताचल पर पहुँचकर यह न समझ लो कि कल पुन: प्रात मुझसे सयोग (भेंट) नही होगा"।

उर्वशी-पुरूरवा-सवाद का विस्तृत वर्णन शतपथ-ब्राह्मण (११।५।१) मे है। विष्णुपुराण तथा महाभारत आदि मे भी इस कथा का उल्लेख है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक मे इसका सर्वोत्तम चित्रण है।

(२४) यम-यमी-संवाद

ऋग्वेद के दशम मण्डल के १०वें सूक्त मे इस सवाद का विस्तृत वर्णन है। साहित्यिक-सौन्दर्य की दृष्टि से इस सवाद का बड़ा महत्त्व है। काम वासनाभिभूत यमी अपने सहोदर से अनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अनेक तर्क देती है। सासारिक प्रलोभनो का जाल बिछाकर अपने भाई को फँसाना चाहती है। समाज मे रथ के दोनो पहियों के समान एक साथ कार्य करने की अभिलाषा व्यक्त करती हुई अपने भाई के आगे आत्मसमर्पण करती है। यमी का कहना है कि वह भाई किस अर्थ का है, जिसके रहते उसकी बहन दु खी हो और वह बहन किस काम की, जिसके रहते भाई का दु ख दूर न हो।

चरित्रवान् यम अपने उदात्त चरित्र से यमी के असामाजिक विचारो पर पानी फेर देते है। यम अपनी बहन से स्पष्ट कहते हैं—"पाणिग्रहण" हमारा अभीष्ट

---

१ पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता॥ (ऋ० १०।९५।१५)

२ इति त्वा देवा इम आहुरैल यथेमेतद्भवसि मृत्युबन्धु।
प्रजा ते देवान् हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे॥ (ऋ० १०।९५।१८)

नही है। प्रजापति ने ही हमे एक माता के उदर से उत्पन्न कर साथी बनाया है। इस सम्बन्ध को सभी देव जानते हैं। अत विधाता द्वारा स्थापित सम्बन्ध को तोड़ने का अधिकार किसी को नही है। यमी ! मैं तुम्हारे स्पर्श से भी दूर रहना चाहता हूँ। अत शीघ्र ही यहाँ से चली जाओ, इसी मे तुम्हारा कल्याण है।

विमर्श—

आज के स्वेच्छाचारी युवक और युवतियो के लिये यह सूक्त अत्यन्त शिक्षाप्रद है। व्यक्तिगत जीवन से सामाजिक जीवन का बहुत बडा महत्त्व है। जो व्यक्ति सामाजिक रीति-रिवाजो को तिलाञ्जलि देकर पशुवत् आचरण करता है, वह स्वय ही यमी की तरह सभ्य लोगो की दृष्टि से गिर जाता है।

(२५) सरमा-पणि-संवाद

ऋग्वेद के दशम मण्डल के १०८वें सूक्त की ऋषिका "सरमा" मानी गयी है। इस सूक्त मे ग्यारह मन्त्र हैं, जिनमे २, ४, ६, ८, १० और ११व मन्त्र मे सरमा का कथन उद्धृत है। शेष मन्त्रो मे पणियो के कथन है। सरमा, देवशुनी एक दूती के रूप मे पणियो के पास जाती है। पणियो ने आर्य लोगो के गो-धन को चुराकर किसी अज्ञात स्थान पर रख दिया है। इन्द्र की सन्देश-वाहिका के रूप मे सरमा ज्यो ही पहुँचती है, पणि लोग आश्चर्यचकित हो जाते हैं।

इन्द्र के दौत्यकर्म मे निपुण "सरमा" ने इस सूक्त के दूसरे मन्त्र[1] मे पणियो को बताया कि "मैं इन्द्र की दूती के रूप मे तुम्हारे पास आई हूँ। तुम्हारे पास जो गो-धन है, उसे मैं चाहती हूँ"। पणि लोगो ने सरमा को अनेक प्रकार के प्रलोभन दिये, अपने गो-धन का हिस्सा देने का लालच दिया, परन्तु सरमा अपने व्रत पर दृढ रही। पणियो ने सरमा को अपनी बहन[2] बनाने का प्रस्ताव भी नवम मन्त्र मे रखा, जिसे सरमा ने इस सूक्त के दशम मन्त्र[3] मे यह कहते हुए ठुकरा दिया कि—"मैं भाईचारे को नही जानती"।

ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के १६वे सूक्त के ८वें मन्त्र[4] मे भी "सरमा" द्वारा इस रहस्य के उद्घाटन का वर्णन है, जिसमे पणियो द्वारा आर्यो की गौओ को चुराने की बात कही गयी है।

---

१ इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन्व ॥ (ऋ० १०।१०८।२)

२ स्वमार त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवा सुभगे भजाम ॥ (ऋ० १०।१०८।९)

३ नाह वेद भ्रातृत्व नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोरा ॥ (ऋ० १०।१०८।१०)

४ अपो यदद्रि पुरुहूत दर्दराविर्भुवत्सरमा पूर्व्यते ॥ (ऋ० ४।१६।८)

विमर्श—

"पणि" शब्द अनेक अर्थो मे वैदिक संहिताओ मे आया है। ऋग्वेद मे "पणि" शब्द एक ऐसे व्यक्ति का द्योतक माना गया है, जो सब प्रकार से सम्पन्न होते हुए भी देवताओ के निमित्त दक्षिणादि कुछ भी नही देता। अथर्ववेद के मण्डल ५ के ग्यारहवें सूक्त की ७वी ऋचा म तथा वाजसनेयि संहिता (३५।१) म भी उक्त अर्थ की पुष्टि की गयी है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ८३व सूक्त के चतुर्थ मन्त्र म पणियो के वध की चर्चा है। "पणि" को यज्ञकर्ताओ का विरोधी एवं ऋग्वेद के (६।५१) सूक्त के १४वें मन्त्र मे उसे भेडिया (वृक) की सज्ञा दी गयी है। ऋग्वेद (८।६६।१०) मे 'पणि" को बेकनाट (व्याज खानेवाला) कहा गया है। मृध्र-वाच् भी पणियो के लिये आया है, जिसका अर्थ है कटु या शत्रु की बोली बोलनेवाला। ऋग्वद (५।३४) तथा अथववद (५।११।६) म "पणि" को दास भी कहा गया है।

वैदिक-संहिताओ मे आये 'पणि" शब्द की तुलना आज के प्रचलित शब्द "स्मग्लर" म करना अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है।

वैदिक मन्त्र-द्रष्ट्री नारियो का जो विवरण ऊपर दिया गया है, उसकी पुष्टि महर्षि शौनक द्वारा रचित 'बृहद्देवता" के द्वितीय अध्याय म दिये गये श्लोको से होती है[1]।

ऋग्वेद-संहिता मे इस प्रकार वैदिक मन्त्रद्रष्ट्री नारियो की एक बडी संख्या के रहते हुए भी परवर्ती लोगो ने नारियो को वैदिक शिक्षा से क्यो वंचित रखने का निर्णय लिया, समझ में नही आता। "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि याग-स्थानीय वाक्यो मे मीमासको ने स्वयमेव 'दम्पति" शब्द का प्रयोग किया है, जिससे यह स्वत सिद्ध होता है कि वैदिक कर्मो मे स्त्री पुरुष दोनो का समान अधिकार रहा है। ऋग्वद-संहिता तथा अथर्वसंहिता[2] म एक बार नही अनेक बार "दम्पति" शब्द के अर्थ मे गृहस्वामी तथा गृहस्वामिनी अर्थात् पति एवं पत्नी दोनो का सन्निवेश किया गया है।

---

१ घोषा गोधा विश्ववारापालोपनिषन्निषत् ।
ब्रह्मजाया जुहूर्नामागस्त्यस्य च स्वसादिति ॥
इन्द्राणी चेन्द्रमाता च सरमा रोमशोर्वशी ।
लोपामुद्रा च नद्यश्च यमी नारी च शाश्वती ॥
श्रीलक्ष्मी सार्पराज्ञी वाक्श्रद्धामेधा च दक्षिणा ।
रात्री सूर्या च सावित्री ब्रह्मवादिन्य ईरिता ॥

२ ऋग्वद—५।३।२, ८।३१।५, १०।१०।५, १०।६८।२, १०।८५।३२ इत्यादि।
अथर्ववद—६।१२३।३, १२।३।१४, १४।२।९ आदि।

यह सही है कि ऋग्वेद-संहिता के कुछ स्थलो पर "दम्पति" शब्द का प्र पुरुष के लिए ही आया है, जैसे ऋग्वेद (१।१२७।८, २।२९।२, ५।२२।४, ८।६९।१६, ८।८४।७) मे प्राय. द्विवचनान्त इस "दम्पति" शब्द का प्रयोग पति-पत्नी दोनो के सम्मिलित अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है, जिससे पता चलता है कि वैदिक-संहितायुग मे पुरुष और नारी के समान अधिकार थे। "अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म अपत्नीक पुरुष न करे" इस प्रकार के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। भगवान् व्यास ने अपनी "व्यास स्मृति" (२।१३) मे स्पष्ट कहा है[1]—"पुरुष और नारी का निर्माण आधे-आधे दो भागो से मिलकर बना है, अत जब तक पुरुष नारी को प्राप्त नही करता, तब तक पुरुष आधा ही रहता है अर्थात् उसे पूर्णाङ्ग कहलाने का अधिकार नही है।

आचार्य सायण ने भी अपनी "ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका" मे इस विषय पर अतीव सरस तथा सरल पद्धति द्वारा प्रकाश डाला है।

निष्पक्षभाव से विचार करने से पता चलता है कि प्राचीनकाल म स्त्री-समाज सन्ध्या-वन्दन, अध्ययन, अध्यापन आदि का उसी प्रकार अधिकारी था, जैसा कि पुरुष वर्ग। "वैदिक सभी प्रकार की क्रियाएँ स्त्री-समाज के अधिकारगत थी"—इस कथन की पुष्टि यम-स्मृति की एक प्रसिद्ध उक्ति से होती है[2]। व्याकरण-महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य (४।१।१४) मे[3] नारी-सम्बन्धी वेद के अध्ययन-अध्यापन का पूर्ण रूप से समर्थन किया है। इतना ही नही विदुषी नारियो की कठी, बृहृष्टी, उपाध्यायी, उपाध्याया, आचार्या आदि पदवी को मान्यता देते हुए अपनी रचना "महाभाष्य" मे उदाहरण रूप मे प्रयुक्त किया है।

परवर्ती नारियो पर प्रभाव—

मन्त्र द्रष्टी अपाला, लोपामुद्रा, रोमशा आदि नारियो का ही प्रभाव था कि परवर्ती साहित्य मे सुलभा नामक कन्या ने दर्शन-शास्त्र मे, महामुनि कपिल की माता देवहूति ने साङ्ख्यशास्त्र मे, गार्गी और मैत्रेयी ने आध्यात्मिक क्षेत्र मे, मदालसा ने ब्रह्मविद्या मे एव विदुला ने अपने पुत्र को राजनीति मे शिक्षा देकर ख्याति अर्जित की। प्राचीनकाल की बात यदि थोडे समय के लिये विस्मृत भी कर दी जाये, तो

१ पतयोऽर्द्धेन चार्द्धेन पत्न्या भूवन्निति श्रुति ।
यावन्न विन्दते जाया तावदर्द्धो भवेत पुमान् ॥

२ पुराकल्पे तु नारीणा मौञ्जीबन्धनमिष्यत ।
अध्यापन च वेदाना सावित्री वाचन तथा ॥

३ काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमासा काशकृत्स्नी तामधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी-मीमासाध्ययनस्य वेदाध्ययनानन्तरमुपस्थितेः वेदाध्ययनस्यापनयनपूर्वकत्वात् स्त्रीणामुपनयन सिद्धयति ।

इधर निकटस्थ भूतकाल की विदुषी महिला "उभय-भारती" के उस वैदुष्य का अपलाप कैसे किया जा सकता है, जिसके कारण आपने श्रीशङ्कराचार्य को आश्चर्य-चकित कर दिया था। मण्डनमिश्र भी जिस बात को नहीं कह सके, उसे उनकी विदुषी धर्मपत्नी "उभयभारती" ने कहकर भगवान् शङ्कराचार्य को भी थोड़े समय के लिये ही सही, मौन रहने को बाध्य कर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय-वाङ्मय में ऐसे अगणित नारी-रत्न हुए हैं, जिन्होंने अपने तेज पुंज से देश, समाज, धर्म, संस्कृति, सभ्यता और साहित्य को निरन्तर उज्ज्वल एवं चमत्कृत किया है। आज का संकीर्णतावादी मनुष्य चाहे जो भी कहे, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वैदिक-संहिताकाल में नारी को पुरुष के ही समान जीवन के हर क्षेत्र में बराबरी का अधिकार था।

मन्त्र के महत्त्व को समझने वाली नारियाँ

(१) मनोरमा की माता—

अथर्ववेद-संहिता में "वेदमाता" की स्तुति करते हुए कहा गया[1] है कि यह वेदमाता द्विजों को पवित्र करनेवाली एवं श्रेष्ठ वर देनेवाली है। वेदमाता से यह भी प्रार्थना की गयी है कि वह स्तुति-गायक को आयु, प्राण, सन्तान, पशु, कीर्ति, धन, ज्ञान, बल आदि प्रदान करें।

वेदमाता कौन है ? इस जिज्ञासा की पूर्ति के लिये हमारा ध्यान ऋग्वेद के पंचम मण्डल के ६१वें सूक्त में वर्णित राजा "रथवीति[2]" की ओर जाता है। इस राजर्षि की पत्नी ने अपनी पुत्री का विवाह ऐसे व्यक्ति से करने की अभिलाषा व्यक्त की है, जो मन्त्रदर्शन के कारण महर्षि की उपाधि से विभूषित हो। रथवीति की पत्नी रात्रि अपनी पुत्री मनोरमा को वेदमाता के रूप में देखना चाहती है।

कथानक इस प्रकार है—राजा रथवीति ने एक बार एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें उस समय के ख्यातिप्राप्त ब्रह्मर्षि अर्चनाना को यज्ञ-कार्य सम्पन्न कराने का भार सौंपा गया। महर्षि ने यज्ञ की समाप्ति पर दक्षिणा के रूप में उनकी पुत्री मनोरमा को अपने सर्वगुणसम्पन्न पुत्र श्यावाश्व के विवाह हेतु माँगा। महर्षि के शाप के भय से राजा ने तो महर्षि अर्चनाना का प्रस्ताव स्वीकार कर

---

१ स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।। (अथर्व० १९।७१।१)

२ एष क्षेति रथवीतिर्मघवा गोमतीरनु। पर्वतेष्वपश्रितः।। (ऋ० ५।६१।१९)

लिया, परन्तु उनकी पत्नी ने इस प्रस्ताव को मानने से मना कर दिया। निषेध के पीछे सबसे बडा कारण था कि वह अपनी पुत्री का पाणिग्रहण सस्कार अपनी वश-परम्परा के अनुसार किसी मन्त्रद्रष्टा से ही करना चाहती थी। श्यावाश्व मे इस योग्यता का अभाव था। अपनी इस आवश्यक योग्यता का भान ऋषिपुत्र को हुआ और उन्होंने ऋग्वेद के पचम मण्डल के सूक्त सख्या ५२–६१ मे मरुतो की स्तुति की और उनकी कृपा से उन्हे ऋषित्व की प्राप्ति हो गयी।

आवश्यक योग्यता प्राप्ति के अनन्तर मनोरमा की माता ने अपने पतिदेव के साथ श्यावाश्व को अपनी पुत्री का हाथ अर्पित करते हुए प्रसन्नता व्यक्त की। इस वृत्तान्त स स्पष्ट होता है कि उस समय सर्वसाधारण समाज की दृष्टि मे भी मन्त्र-द्रष्टाओं का कितना बडा महत्व था। वैवाहिक काय मे पिता की ही नहीं, माता की भी स्वीकृति आवश्यक थी। मनोरमा की मा की भांति वैदिक सहिताकाल की प्रत्येक नारी अपनी पुत्री को किसी मन्त्रद्रष्टा पुरुष को सौंपकर उसे वेदमाता के रूप मे देखने का सत्सकल्प रखती थी।

(२) सुकन्या—

वैदिक मन्त्रो के महत्व को अपनी पैनी दृष्टि से झाँकने वाली, राजर्षि शर्याति की पुत्री सुकन्या का त्यागमय जीवन नि सन्देह अनुपम एव अद्वितीय है। माता पिता के नैराश्य को दूर करते हुए सुकन्या ने अपने सौन्दर्यपूर्ण तारुण्य को अन्ध-वृद्ध महर्षि च्यवन के चरणो म अर्पित कर दिया।

सुकन्या के त्याग को कथा इस प्रकार है—मन्त्रद्रष्टा महर्षि च्यवन का आश्रम पुष्कर-क्षेत्र माना गया है। महर्षि भृगु के वशज च्यवन की उत्पत्ति का इतिहास बड़ा ही करुणोत्पादक है। समुद्र के समीपस्थ भृगु-आश्रम, नर्मदा नदी की उस कल कल ध्वनि से गुजायमान रहता था, जिसमे अपने प्रियतम सागर को आलिगन करने की आतुरता दृष्टिगोचर होती थी। तपश्चर्या क प्रभाव से सर्वत्र सुख-शान्ति का साम्राज्य था। भृगु की पत्नी 'पुलोमा" का पुसवन-सस्कार होने वाला था, एतदर्थ महर्षि अभिषेकार्थ कहीं गये थे। इसी बीच पुलोम नामक एक राक्षस आश्रम मे आया और उसने आश्रम मे बैठी उस कमनीय कलेवरा तरुणी का अपहरण कर लिया। राक्षस के भय से गर्भभाराक्रान्त भृगु की पत्नी का गर्भस्राव हो गया और इस गर्भच्युतता के कारण ही 'च्यवन" नाम पड गया। च्यवन की माता ने इस गर्भस्राव पर इतना अश्रुपात किया कि उनकी अश्रुधारा के कारण "वधूसर' नामक एक नदी का प्रादुर्भाव हो गया।

अपने जन्म के साथ ही च्यवन ने अपने तेज से उस दैत्य को भस्मीभूत कर दिया, जो उसकी माता का अपहरण करके लाया था। समय पाकर च्यवन ऋषि

अपने अध्यात्म-चिन्तन में इतने निमग्न हो गये कि उनके शरीर के चारों ओर वल्मीक के ढेर जम गये। अपनी इस निर्जीवता में भी सजीवता का सन्देश देनेवाले च्यवन का चक्षुपटल खुला हुआ था।

इसी समाधिस्थ अवस्था में ही एक दिन च्यवन के आश्रम में पश्चिमी आर्यावर्त के सम्राट् शर्याति मृगया हेतु सदल-बल पहुँचे। राजर्षि की एकमात्र पुत्री सुकन्या भी साथ थी। भ्रम और कौतूहल के वशीभूत होकर कुछ अबोध लोगों ने समाधिस्थ ऋषि का तिरस्कार करते हुए उनकी चमकती हुई आँखों में काँटे चुभो दिये। फलतः नेत्रों से रक्तस्राव हुआ और महर्षि क्रोधित हो उठे। राजर्षि ने आश्रम में जाकर इस अपराध के लिये क्षमा माँगी, परन्तु क्षमा का मूल्य था च्यवन के साथ सुकन्या का पाणिग्रहण संस्कार। महर्षि के इस कठोर दण्ड से राजा और रानी का हृदय विचलित हो उठा, परन्तु वैदिक-मन्त्रों के प्रभाव को समझने वाली उस सती सुकन्या ने तत्काल स्वीकार कर लिया और अपने वृद्ध-अन्ध पति की सेवा से आश्रम की पवित्रता को बढ़ाने लगी।

सुकन्या की इस पवित्र पतिपरायणता को अश्विनीकुमारों ने परखा, जिसमें सुकन्या सफल हुई और उसने उन्हें उत्तर दिया "वह सम्राट् शर्याति की इकलौती पुत्री है और महर्षि च्यवन की पत्नी है। पति की सेवा करना ही उसका एकमात्र धर्म है"। इतना ही नहीं, सुकन्या ने सारे संसार को सुनाते हुए कहा—"दाम्पत्य-सम्बन्ध, स्नेह-प्रेमपाश में बाँधने वाला एक अच्छेद्य बन्धन है, जिसे मृत्यु भी नहीं तोड़ सकती"।

इस प्रकार सुकन्या ने अपने तारुण्यपूर्ण जीवन के तर्कों से देवद्वय को मौन कर दिया। अश्विनीकुमारों ने भी प्रसन्न होकर महर्षि च्यवन के साथ पुष्कर क्षेत्र (सरोवर) में गोता लगाया और च्यवन के वार्द्धक्यपूर्ण गात्र को काञ्चनमयी काया में परिणत कर दिया[1]। इस सम्पूर्ण वृत्तान्त के पीछे सुकन्या की वैदिकी निष्ठा ही कारण रही है। उपकार करने वाले अश्विनीकुमारों को सोमपान कराया गया। इन्द्र ने भी सम्पूर्ण देववृन्द के साथ इस दम्पति के प्रभाव को देखा और नतमस्तक हो गये।

---

१. निष्टीग्रव पारयथ समुद्रात्पुनश्च्यवानं चक्रथुर्युवानम्। (ऋ० १।११८।६)

पंचम अध्याय

नारी-दृष्ट मन्त्र एवं व्यवस्थाएँ

संहिताओं का सन्देश—

(संहिता वाङ्मय के साक्ष्य के आधार पर यह दावे से कहा जा सकता है कि उस समय नारी सुरक्षिता नहीं, स्वरक्षिता थी। सु-समाज की सरचयित्री नारी की सौम्यता, सौष्ठव का सौरभ सम्पूर्ण समाज को सुरभित करता था।

कमनीयता की मूर्ति कन्या को कल्याणकारिणी, पावनता की आगार पतिव्रता नारी को पथ प्रदर्शिका तथा दया, करुणा की अवतार, शुद्धता नैतिकता का आधार, ममतामयी माता को महाशक्ति एवं महाशान्ति के रूप में सम्मान दिया जाता था।

समन्वय संस्कृति का जो स्वरूप वैदिक-संहिता-वाङ्मय में दृष्टिगोचर होता है, उसमें समता ममता दोनों हैं। सन्तति के संवर्द्धन में माता-पिता के सहयोग, सहजीवन एवं दोनों की पारस्परिक निष्ठा को आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी माना है।

नारी समाज द्वारा वैदिक-संहिताओं के साक्षात्कृत उन सूक्तों के आधार पर यहाँ तात्कालिक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। दिग्दर्शन शब्द का प्रयोग सार्थक है, क्योंकि वैदिक संहिताओं का सन्देश, सच्चिदानन्द परमपिता परमात्मा का परमपवित्र उपदेश है, जिसके सम्बन्ध में अथर्वसंहिता के एक मन्त्र में कहा गया है—"हे मानव! ईश्वर के काव्य (वेद) को देखो, जो सदा एक रस बना रहता है, कभी नष्ट नहीं होता और न पुराना ही होता है"[1]।

अपौरुषेय संहिता सन्देश की तुलना ऋक्संहिता में दिये गये "सक्तु" से देना कितना समीचीन प्रतीत होता है, जिसमें कहा गया है कि इसे मित्र जानते हैं कि इन मन्त्र द्रष्टाओं या द्रष्ट्रियों के वचनों में कितनी कल्याणमयी कमनीयता स्थित है[2]।

---

१ अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥ (अथर्व० १०।८।३२)

२ सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥ (ऋ० १०।७१।२)

"मैं (घोषा) सब प्रकार से सौभाग्यवती हूँ, मुझे मनोनुकूल वर (पति) मिल गया है" (ऋ० १०।४।९)। 'हे अश्विनीकुमारो जो नर अपनी नारी (पत्नी) को प्राण रक्षा के लिये नीर (आंसू) बहाते हैं, उन्हें (स्त्रियों को) यज्ञादि सुकर्मों में लगाते हैं तथा सन्तानोत्पत्तिपूर्वक पूर्वजों (मातृ पितृ) के मार्ग का पालन करते हैं, उनको नारियाँ सुखद जीवन व्यतीत करती हैं'[1]।

घोषा ने ऋक्संहिता के दशम मण्डल के ३९वें सूक्त के तीसरे मन्त्र में "अमाजुर" शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है अपने पिता के घर वृद्धावस्था तक निवास करने वाली कन्या। ऋक्संहिता के दशम मण्डल का ४० वां सूक्त कन्या की स्वतन्त्र भावनाओं का प्रतीक है जहां ११वें मन्त्र में घोषा कहती है—'जो पति मुझे चाहने वाला हो, उसी वरशाला के घर में जाऊँ'[2]। इतना ही नहीं, १२वें मन्त्र में पति की प्रियतमा होने की अभिलाषा करना १३वें मन्त्र में पति के लिये धन सन्तान की कामना करना एवं पति के घर में पड़ने वाली सभी बाधाओं को दूर करने का निवेदन संहिताकालीन स्त्री समाज की समृद्धि एवं सौरव का प्रमाण है।

निष्कर्ष—

ऋक्संहिता दशम मण्डल के सूक्त ३९ एवं ४० के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संहिताकाल में कन्या की शिक्षा दीक्षा पुत्रों के समान ही होती थी। बेटे के समान ही लालित पालित पोषित पुत्री (घोषा) पर पिता महर्षि कुक्षिवान् की तरह उसके चाचा दीर्घश्रवा का भी स्नेह था। वैदिक वाङ्मय की अधिकारिणी वक्त्री घोषा अपने प्रौढ़ पाण्डित्य के लिए जहाँ विख्यात थी, वहीं अपने शरीर के सफेद दाग (कुष्ठ) के कारण पाणिग्रहण के लिये उपेक्षित भी थी। ब्रह्मवादिनी घोषा के द्वारा दृष्ट सूक्त इसके साक्षी हैं कि उस समय कन्याओं को स्वतन्त्रतापूर्वक साधना का अधिकार था जिसके बल पर घोषा ने अश्विनीकुमारों को प्रसन्न करके कंचनमयी देह के साथ ही साथ देवतुल्य कान्त (पति) को भी प्राप्त कर लिया।

अपाला—

ऋक्संहिता के अष्टम मण्डल के ९१वें सूक्त की द्रष्ट्री ब्रह्मवादिनी "अपाला" है। अपनी तपश्चर्या से अपाला से सुपाला बननेवाली इस कन्या रत्न ने उपर्युक्त सूक्त के सातों मन्त्रों का साक्षात्कार किया है। इस बात की पुष्टि ७वें मन्त्र से होती है, जिसमें मन्त्र द्रष्ट्री ने अपने नामोच्चारण के साथ इन्द्र की स्तुति करते हुए कृतज्ञता

---

१ जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे॥ (ऋ० १०।४०।१०)

२ प्रियास्त्रियस्य वृषभस्य रेतिनो गृहं गमेमाश्विना तदुश्मसि॥ (ऋ० १०।४०।११)

व्यक्त की है—"सोमरसपायी इन्द्र ने प्रसन्न होकर त्वचा दोष (कोढ) को दूर करके अपाला के शरीर को सूर्य के समान देदाप्यमान कर दिया है[1]"।

इस त्वचा दोष (कोढ) निवारण के पीछे तात्कालिक एक बड़ी सामाजिक समस्या का सकेत सन्निहित है, जो सर्वगुणसम्पन्ना साध्वो 'अपाला' को झकझोर देता है। अपने पिता महर्षि अत्रि की कुटिया को अपने कल नाद स निनादित करने वाली, अपने वैदुष्य से उस समय की वदिक मण्डली मे अपना एक विशिष्ट स्थान बना लेनेवाली, यह ऋषि-कन्या अन्ततोगत्वा अपने बाह्य सौन्दर्य के अभाव म अपने पति कृशाश्व के मन मे कटुता के बीज वपन कर देती है।

वेद-वेदाङ्गो का विपुल वैदुष्य भी बाहरी सौन्दर्य के अभाव म निरर्थक है, यह सोचकर अपाला इन्द्र की प्रसन्नता हेतु तपश्चर्या मे लग जाती है। तपस्या मे तल्लीन अपाला का जीवन उस समय की बाकी झाकी है कि नारी समाज को कितनी स्वतन्त्रता थी, अपने रूप को सँवारने की। पति द्वारा पत्नी के त्यागे जाने का सकेत द्रष्टव्य है, जहाँ अपाला कहती है—"पति द्वारा परित्यक्ता हम इन्द्र से मिलगी[2]"।

सहिताकाल मे कन्याओ का अपने मातृ-पितृ-कुल के प्रति कितना आदर एवं ध्यान था, इसका मूल्याकन अपाला द्वारा दृष्ट मन्त्र ५ और ६ स किया जा सकता है, जब वे (अपाला) इन्द्र से वरदान मागते समय कहती है—'हे इन्द्र सर्वप्रथम मेरे पिता (अत्रि) के खल्वाट सिर पर केश हो जायँ, मेरे पिता क ऊसर खेत उपजाऊ हो", अन्त मे अपने शरीर के कुष्ठ को दूर करने की याचना करती है[3]।

निष्कर्ष—

अपाला द्वारा दृष्ट अष्टम मण्डल का ९१वाँ सूक्त पक्ति और अनुष्टुप् छन्द मे निर्दिष्ट है। इस सूक्त से स्पष्ट है कि उस समय नारी-जीवन की अपनी पवित्रता थी, जिसके बल से नारी, पुरुष-वर्ग की उपेक्षा का उत्तर देने मे अबला नही सबला मानी जाती थी। अपाला ने अपने पिता के सन्तप्त हृदय को जहाँ अपनी अगाध ज्ञान-जलराशि मे निमग्न कर शान्त किया, वही उसने अपने पतिदेव के इस भ्रम को भी दूर कर दिया कि नारी नर के विना नगण्य है।

---

१ अपालामिन्द्र निष्पूत्व्यकृणो सूर्यत्वचम्। (ऋ० ८।९१।७)

२ कुविच्छतिद्विषा यतीरिन्द्रेण सङ्गमामहै। (ऋ० ८।९१।४)

३ इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥
असौ च या न उर्वरादिमा तन्व मम।
अथो ततस्य यच्छिर सर्वा ता रोमशा कृधि॥ (ऋ० ८।९१।५-६)

कृशाश्व की उदासीनता के भावो को आँकते ही अपाला का हृदय विद्रोह कर देता है और वह उस असम्भव, दु साध्य कुष्ठ निवारण के लिए तत्पर हो जाती है। पिता ने शक्ति भर प्रयत्न किया था कि अपाला नीरोग हो जाये, परन्तु महर्षि असफल रहे। पति ने भी प्रयत्न किया, किन्तु असफलता के फलस्वरूप उसने पत्नी-त्याग कर दिया।

धन्य रही अपाला, जिसने अपने दिव्य तेज से देवराज इन्द्र को अपनी तपश्चर्या से प्रसन्न कर नारी को स्वतन्त्र भावनाओ के भव्य-भवन मे बैठकर अपनी सदिच्छा को साकार कर दिया।

जुहू—

मन्त्र-द्रष्टृओ मे ऋक्सहिता के दशम मण्डल के १०९वें सूक्त का साक्षात्कार करने वाली "जुहू' का नाम बडे आदर से लिया जाता है। नर नारियो मे वैदिक प्रचार के कारण ही सम्भवत. "जुहू" को इस नाम से पुकारा जाता था। ब्रह्मजाया कहलाने वाली इस नारी के जीवन वृत्त स ज्ञात होता है कि उस समय स्त्री-परित्याग की प्रथा थी। सात मन्त्रो वाले अपने दृष्ट इस सूक्त के पाँचवें मन्त्र मे "जुहू" अपने नाम का उच्चारण भी करती है, जिसम अपनी पत्नी का त्याग करनेवाले बृहस्पति के ब्रह्मचर्य-पालन की बात का सकेत है[1]।

सूक्त का छठाँ एव सातवाँ मन्त्र इसका प्रमाण है कि उस समय नारी का समाज मे बडा समादर था। नारी अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से बडो से बडी शक्ति को भी अपने अनुकूल करने का अतुलनीय साहस अपने मे सजोये रखती थी। यही कारण है कि बृहस्पति ने जब अपने प्रमाद स अपनी प्रमदा (जुहू) का परित्याग कर दिया तो नारी हृदया 'जुहू" जरा भी अपने मार्ग से विचलित नही हुई, क्योकि उसे धर्मपरायण, चरित्रवान् निर्णायक मण्डल का पूरा भरोसा था कि वह अन्त म निर्णय उसके पक्ष मे ही देगा। देवो के आदेश से पत्नी त्याग हेतु प्रायश्चित्त करने वाले बृहस्पति ने अन्त मे पुन. पत्नी को स्वीकार किया और सुखपूर्वक रहने लगे[2]।

पत्नी-त्याग को सहिताकाल मे अपराध-कोटि म रखा जाता था। ऐसे लोग जो अपनी विवाहिता स्त्री का परित्याग करते थे, उन्हे (चाहे वह बृहस्पति ही

---

१ ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विष स देवाना भवत्येकमङ्गम्। (ऋ० १०।१०९।५)

२ पुनर्वै देवा अददु पुनर्मनुष्या उत।
राजान सत्य कृण्वाना ब्रह्मजाया पुनर्ददु ॥
पुनर्दाय ब्रह्मजाया कृत्वी देवैर्निकिल्बिषम्।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासत ॥ (ऋ० १०।१०९।६ ७)

क्यो न हो) प्रायश्चित्त करना पडता था। "जुहू" द्वारा दृष्ट सूक्त के प्रथम मन्त्र मे वायु, अग्नि, सूर्य, सोम, वरुण आदि देवो ने बृहस्पति से प्रायश्चित्त कराया था। (ऋ० १०।१०९।१)

निष्कर्ष—

"जुहू" द्वारा दृष्ट इस सूक्त के अनुसार महिताकाल की नारी अपने साथ किये गये अन्याय के प्रतिकार हेतु पच (निर्णायक-मण्डल) के पास जा सकती थी। निर्णायक-मण्डल की निष्पक्षता ही उसकी सबसे बडी विशेषता थी, जिसका पालन वह प्रत्येक स्थिति मे करता था। निर्दोष नारी का घर से निकास, उस समय निकृष्ट कार्य माना जाता था, जिसके लिये पत्नी के तिरस्कारकर्ता को प्रायश्चित्त करना पडता था।

विधिवत् विवाह मे साक्ष्य की समीक्षा की जाती थी। यदि पति-पत्नी मे कोई भी साक्ष्य की अवहेलना करता था, तो बन्धन तोडने वाला अपराधी घोषित होता था।

सतीत्व की रक्षा पर बल दिया जाता था। जो नारी कठिन परिस्थिति मे भी अपने पति के अनुराग मे अक्षुण्णता बनाये रखती थी, उसको सहायता देवता भी करते थे।

"तप के प्रभाव से कभी-कभी निम्नस्तर का व्यक्ति भी उच्च स्थान पर बैठ जाता है[1]", ऋक्-सहिता के इस मन्त्र म "जुहू" का अपने पति (बृहस्पति) के प्रति कितना बडा व्यग्य है, जो उस समय की नारी की निर्भीकता को पूर्णतया स्पष्ट करता है।

नारी-रक्षा की बात इस सूक्त के पाँचवें मन्त्र से ध्वनित होती है, जहा सोम की पत्नी की तरह "जुहू" को भी प्राप्त करने की बात देवताओ द्वारा कही गयी है[2]। इसके साथ उस समय, नारी को भी पार्थिव सम्पत्ति के बँटवारे का अधिकार था, इसको पुष्टि सूक्त की अन्तिम पक्ति से अभिलक्षित होती है[3]।

रोमशा—

ऋक्महिता के प्रथम मण्डल के १२६वे सूक्त का साक्षात्कार करने वाली "रोमशा" ने उन सभी पक्षो पर विचार किया है, जिनसे नारी समाज की बुद्धि विकसित होती है। दृष्ट सूक्त की सातवी ऋचा मे रोमशा (रोम-रोम मे वेद वेदाग

१ भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्। (ऋ० १०।१०९।४)

२ तेन जायामन्वविन्दद्बृहस्पति सोमेन नीता जुह्वं न देवा ॥ (ऋ० १०।१०९।५)

३ ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासते। (ऋ० १०।१०९।७)

वाली) ने उस समय की निर्दोष नारी का प्रतिनिधित्व करते हुए कहा है—"हे पतिदेव ! आप मुझे समीप से देखें और मेरे गुण-अवगुणों पर विचार करें। मेरे ये अंग और गुण गृह कार्यों के लिये उपयोगी हैं, क्योंकि इनसे किसी प्रकार की हानि सम्भावित नहीं है[1]"।

संहिता-कालीन पत्नी के आदर्श एवं त्यागमय जीवन का परिचय देते हुए रोमशा के पति (भावयव्य) स्वयं सूक्त के षष्ठ मन्त्र में कहते हैं—"मेरी पत्नी (रोमशा) महत्स्वामिनी के रूप में मुझे अनेक प्रकार के भोज्य-पदार्थ एवं ऐश्वर्य देने वाली है। यह मेरे प्रति अगाध स्नेह रखने वाली है[2]"।

निष्कर्ष—

बुद्धि-साधिका पत्नी (रोमशा) को पाने के लिये उस समय पुरुष को कितनी तपश्चर्या करनी पड़ती थी, इसका संकेत सूक्त के आदि से लेकर अन्त तक है। जितेन्द्रिय पुरुष का अनुसरण पत्नी उसी तरह करती है, जिस प्रकार विचारवान् पुरुष का बुद्धि अनुगमन करती है। "सर्वाहमस्मि" शब्द के पीछे कितनी बड़ी शक्ति है कि—"मैं नारी विद्यारूपी धन में कम हूँ ऐसा कोई सोचने का दुःसाहस न करे, क्योंकि मैं सभी प्रकार की सम्पत्तियों से सम्पन्न हूँ"।

लोपामुद्रा—

ऋक्संहिता के प्रथम मण्डल के १७९वें सूक्त की द्रष्ट्री लोपामुद्रा ने अपने सूक्त के तृतीय मन्त्र में संहिताकालीन नारी के अधिकारों और कर्त्तव्यों को पुरुष के समान बताते हुए सम्मिलित रूप में गृहस्थ-धर्म के निर्वाह की ओर संकेत किया है[3]। दृष्ट सूक्त के चतुर्थ मन्त्र में लोपामुद्रा के नाम का उल्लेख है।

लोपामुद्रा द्वारा दृष्ट इस सूक्त के वर्ण्य विषय से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय पति-पत्नी का आदर्शमय जीवन था, क्योंकि पाणिग्रहण-संस्कार की व्यवस्था पूर्ण यौवनावस्था में ही सम्पन्न होती थी। जीवन की समृद्धि संयम एवं विद्यार्जन पर निर्भर थी, जिसे दम्पति (पति-पत्नी) आजीवन चलाते थे। इस

---

१ उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथा।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका ॥ (ऋ० १।१२६।७)

२ आगधिता परिगधिता या काशीकेव जङ्गहे।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता ॥ (ऋ० १।१२६।६)

३ न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवा विश्वा इत्स्पृधो अभ्यश्नवाव।
जयावेदत्र शतनीथमाजिं यत्सम्यञ्चा मिथुनावभ्यजाव ॥ (ऋ० १।१७९।३)

कथन को पुष्टि इस सूक्त के द्वितीय मन्त्र से होती है, जिसमे उचित समय पर सन्तानोत्पादन का समर्थन किया गया है[1]।

सूक्त के अन्तिम मन्त्र से यह ध्वनित होता है कि उस समय नर-नारी को सन्तति (पुत्र-पुत्री) के जनन के पश्चात् ही पितृ-ऋण से मुक्ति मिलती थी। यही कारण है कि वृद्धावस्था आ जाने पर भी लोपामुद्रा के पतिदेव (अगस्त्य ऋषि) ने सन्तान के लिये इच्छा व्यक्त की[2]।

निष्कर्ष—

उस समय वैवाहिक जाति-बन्धन नही था। राजकुमारी लोपामुद्रा और महर्षि अगस्त्य का प्रणय बन्धन इसका प्रमाण है।

विश्ववारा—

ऋक्सहिता के पचम मण्डल के २८वे सूक्त का साक्षात्कार ब्रह्मवादिनी विश्ववारा को हुआ। विश्ववारा उस नारी की उपाधि थी, जो स्वय पापमुक्त होकर वैदिक-सहिताओ का सन्देश स्वय सुनती और अन्य लोगो को भी पवित्र करने हेतु सुनाती थी।

इस सूक्त के तृतीय मन्त्र के अनुसार उस समय का दाम्पत्य-सम्बन्ध बडा ही सुदृढ था, क्योकि वैदिक-परम्परा मे विश्वास करने के कारण उनका (पति पत्नी का) हृदय स्वच्छ रहता था[3]।

इस सूक्त के एक मन्त्र म अग्निदव से प्रार्थना की गयी है कि वे स्त्रियो को अखण्ड सौभाग्य प्रदान करे, वैमनस्यता के बीज-वपन करने वाली दुष्प्रवृत्तियो का सहार हो।

निष्कर्ष—

विश्ववारा द्वारा दृष्ट सूक्त से तात्कालिक नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा का अनुमान किया जा सकता है। अग्निदेव की पूजा एव स्तुति मे तत्पर विश्ववारा को विद्वन्मण्डली का स्वागत करने वाली तथा यज्ञ-कर्त्री के रूप मे दर्शाया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय नारी समाज सहिताओ से लेकर ज्ञान की किसी भी शाखा का अध्ययन करने और उसका प्रचार प्रसार करने मे पूर्ण स्वतन्त्र था। यज्ञ करने और कराने म भी वह पूर्ण अधिकारिणी मानी जाती थी।

---

१ ते चिदवासुर्नह्यन्तमापु समू नु पत्नीर्वृषभिजगम्यु । (ऋ० १।१७९।२)

२ अगस्त्य खनमान खनित्रै प्रजामपत्य बलमिच्छमान । (ऋ० १।१७९।६)

३ अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु ।
स जास्पत्य सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महासि ॥ (ऋ० ५।२८।३)

शश्वती—

ऋक् संहिता के मण्डल ८ के प्रथम सूक्त की द्रष्ट्री शश्वती मानी गयी है। अङ्गिरा ऋषि की पुत्री शश्वती यदुवंशी राजा "आसङ्ग" की पत्नी थी। इस सूक्त की ३३वीं ऋचा में आसङ्ग को एक महान् दान दाता के रूप में दर्शाया गया है। आसङ्ग तथा उसके पिता "प्लयोग" के नामोल्लेखन से शश्वती की पारिवारिक स्थिति का ज्ञान होता है। ३४वीं ऋचा में शश्वती अपने पति को परम सौभाग्यशाली मानती हुई स्वयं कहती है—"हे स्वामिन्! आप परम भाग्यशाली एवं सभी से बढ़कर हैं[1]।"

शश्वती का यह सूक्त दाम्पत्य-जीवन पर अच्छा प्रकाश डालता है, क्योंकि सूक्त-द्रष्ट्री पति-पत्नी के मधुर सम्बन्ध की व्याख्याता मानी गयी है। नारी को बुद्धि एवं पुरुष को आत्मा का प्रतीकात्मक रूपक मानना इस बात का द्योतक है कि एक के बिना दूसरे का कार्य चलना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

बुद्धिरूपी नारी की पवित्रता पर आत्मारूपी पुरुष की शुद्धता निर्भर है। बुद्धि और आत्मा के सहयोग की तरह ही समाज में पति-पत्नी का मेल मिलाप आवश्यक है। जहाँ सहयोगपूर्वक दम्पति रहते हैं, वहीं अमरावती है, इत्यादि उदात्त भावनाओं का दिग्दर्शन इस सूक्त में कराया गया है, जिससे उस समय की नारी की सामाजिक स्थिति का ज्ञान होता है।

सूर्या—

ब्रह्मवादिनी "सूर्या-सावित्री" ऋक्-संहिता के दशम मण्डल के ८५वें सूक्त की द्रष्ट्री हैं। इस सूक्त में प्रधानरूप से वैवाहिक चर्चाएँ हैं। ४७ ऋचाओं वाले इस सूक्त में सूर्य की पुत्री सूर्या के विवाह का विशद वर्णन है, जो उस समय की नारी-सम्बन्धी सामाजिक स्थिति को भलीभाँति स्पष्ट करता है।

कन्या का विवाह परिपक्वावस्था में होता था, इसकी पुष्टि इस सूक्त की नवम ऋचा से होती है, जिसमें सूर्या का विवाह चन्द्रमा से करने का संकेत है[2]। विवाह के समय कन्या के साथ सेविकाओं को भेजा जाता था, तथा कन्या को सुन्दर परिधानों से अलंकृत किया जाता था, इसकी पुष्टि इस सूक्त की छठी ऋचा करती है, जिसमें आलंकारिक-वर्णन के साथ रैभी-नामक ऋचाओं को सखी, नाराशंसी ऋचाओं को सेविका तथा सामगान को परिधान का रूपक दिया गया है।

---

१. शश्वती नार्यभिचक्ष्याह सुभद्रमर्य भोजन बिभर्षि। (ऋ० ८।१।३४)

२ सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात्। (ऋ० १०।८५।९)

विवाह मे स्वेच्छया कन्या को, दहेज आदि दिया जाता था, इसका सकेत सूक्त की तेरहवी ऋचा करती है, जिसमे मघा नक्षत्र के उदय होने पर विदाई मे दी गयी गौओ का वर्णन है[1]। कन्या की विदाई सम्मान पलाश और शाल्मली वृक्ष की लकडी से बने अलकृत रथ पर बैठाकर की जाती थी, यह ऋक्सहिता (१०।८५।२०) से स्पष्ट है।

सुमनस्यता के लिये आशीर्वादप्राप्त कन्या का गोत्र विवाह के बाद बदल जाता था। पति का गोत्र ही उसका गोत्र हो जाता था, इसका सकेत सूक्त की पच्चीसवी ऋचा मे है[2]।

नारी अपने घर की शासिका मानी जाती थी, इसका स्पष्ट सकेत इस सूक्त की सत्ताईसवी ऋचा मे है, जहाँ उसे वृद्धावस्था तक अपने पति की प्रीतिभाजन बनकर शासन करने को कहा गया है[3]।

पर्दा-प्रथा का अस्तित्व नही था, इसका सकेत सूक्त की तैतीसवी ऋचा मे है, जहाँ वर स्वय अपनी पत्नी को देखने का अन्य लोगो से आग्रह करता है[4]।

नारी सौभाग्य की प्रतीक मानी जाती थी, पति-पत्नी का समाज मे समान अधिकार था। सूक्त की चालीसवी ऋचा मे "पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजा" पढकर कुछ लोग उस समय एक स्त्री के अनेक पतियो की कल्पना करने लगते है, जो पूर्णतया असगत है, क्योकि वहा सोम, गन्धर्व एव अग्नि को रक्षकरूप मे पति कहा गया है।

"दशास्या पुत्रानाधेहि" (ऋ० १०।८५।४५) का तात्पर्य यह कदापि नही था कि सहिताकाल मे केवल पुत्रो को ही महत्त्व दिया जाता था और पुत्री तिरस्कार से देखी जाती थी। पितृकुल की प्रधानता तथा पिण्डोदक-क्रिया के अधिकारी पुत्र का नाम यहाँ उपलक्षण-मात्र है। यदि ऐसा न होता तो "सम्राज्ञी श्वशुरे भव" (ऋ० १०।८५।४६) की उदात्त भावनाओ का प्रचार-प्रसार तथा विकास वैदिक-सहिता-काल मे न होता।

निष्कर्ष—

बाल विवाह नही होते थे। विवाह की अवस्था प्रौढावस्था थी। स्वेच्छया दहेज दिया जाता था। पुत्र-पौत्रो से भरे-पूरे घर को स्वर्ग तुल्य समझा जाता था, जहाँ पति-पत्नी सामाजिक जीवन का आनन्द लेते थे।

---

१. सूर्याया वहतु प्रागात्सविता यमवासृजत्।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्यो पर्युह्यत ॥ (ऋ० १०।८५।१३)

२ प्रेतो मुञ्चामि नामुत सुबद्धाममुतस्करम्। (ऋ० १०।८५।२५)

३. इह प्रिय प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्व स सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथ ॥ (ऋ० १०।८५।२७)

४. सुमङ्गलीरिय वधूरिमा समेत पश्यत। (ऋ० १०।८५।३३)

अन्य मन्त्र-द्रष्ट्रियाँ

इन्द्राणी—

ऋक्संहिता दशम मण्डल के ८६वे तथा १४५वें सूक्त की द्रष्ट्री इन्द्राणी मानी गयी है। दशम मण्डल के ८६वें सूक्त के छठें मन्त्र मे नारी अपने सुखद सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालती हुई स्वय कहती है—"कोई अन्य नारी मुझसे अधिक सौभाग्यवती एव पुत्रवती नही है। भविष्य मे भी मुझसे बढकर पति को सुख देने वाली नारी की स्थिति असम्भव है[1]"।

नारी-समाज को यज्ञो मे भाग लेने तथा स्वतन्त्रतापूर्वक उनके सयोजन का अधिकार तथा सत्कार प्राप्त था। इस कथन की पुष्टि इस सूक्त के १०वें मन्त्र से होती है[2]।

अखण्ड सौभाग्यवाली नारी का समाज मे बडा आदर था। ऐसी नारी जो धन एव पुत्र से युक्त होती थी, उसे श्रेष्ठ सुस्नुषा (वधू) इस सूक्त के १३वें मन्त्र में कहा गया है।

ऋक्संहिता-दशम मण्डल के १४५वें सूक्त से स्पष्ट होता है कि उस समय बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। इस सूक्त की दूसरी ऋचा मे सपत्नी (सौत) को दूर रखने तथा पति को अपने वश मे रखने की बात कही गयी है। इस सूक्त की तीसरी ऋचा मे अपनी सपत्नी के प्रति एक नारी की कितनी घृणा हो सकती है, यह दर्शाया गया है[3]। सपत्नी के कारण उस समय नारी की सामाजिक स्थिति अवश्य ही कटु रही होगी, इसका अनुमान इन्द्राणी द्वारा दृष्ट सूक्त से लगाया जा सकता है।

शची—

ऋक्संहिता-दशम मण्डल के १५९वे सूक्त का दर्शन करने वाली ऋषिका शची पौलोमी मानी गयी है। इस सूक्त के सभी मन्त्रो मे अपनी सपत्नियो के मान-मर्दन की बात कही गयी है। इस सूक्त मे आया दूसरा मन्त्र "अह केतुरह मूर्धा-हमुग्रा विवाचनी" उस समय की नारी की सामाजिक गौरवशालिनी अवस्था का ज्ञान कराती है, जिसके सामने प्रतिद्वन्द्विनियाँ (सपत्नियाँ) पराभूत होती हैं। अपने

---

१ न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत्।
न मत्प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसि विश्वस्मादिन्द्र उत्तर ॥ (ऋ० १०।८६।६)

२ सहोत्र स्म पुरा नारी समन वाव गच्छति।
वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तर ॥ (ऋ० १०।८६।१०)

३ उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्य।
अध सपत्नी या ममाधरा साधराभ्य ॥ (ऋ० १०।१४५।३)

पुत्र-पुत्रियो के कार्यो पर गर्व करने वाली नारी उस समय सभी पर शासन करने का गौरवमय घोष करती है[1]।

इन्द्र-मातरः—

"इन्द्रमातर" शब्द भी उस समय के बहु-विवाह का सूचक है। इन्द्र की माताओ ने ऋक्‌सहिता के दशम मण्डल के १५३वें सूक्त का साक्षात्कार किया था, जिसमे पाँच मन्त्र है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र से उस समय की शिशुपालन-सम्बन्धी परिचर्य्या का पता चलता है।

इन्द्रस्नुषा—

ऋक्‌सहिता के दशम मण्डल का २८वाँ सूक्त इन्द्र की वधू द्वारा दृष्ट माना गया है, जिसमे वह स्वय कहती है—"सब देवता मेरे यज्ञ म आ गये हैं, परन्तु अभी तक मेरे श्वसुर (ससुर) इन्द्र नही आये, यदि आ जाते तो भुने जौ के साथ सोम-पान करते[2]।

उपर्युक्त कथन से पुत्र-वधू तथा श्वसुर के प्रिय सम्बन्धो का ज्ञान होता है और इस बात का सकेत भी मिलता है कि उस समय पर्दा की प्रथा नही थी, अर्थात् सास ससुर के साथ विना भेद-भाव के बहुएँ भी खाती-पीती थी।

संवाद-सूक्त—

सहिता-वाड्मय के तीन सूक्त—(१) यम-यमी-सवाद (ऋ० १०।१०), (२) उर्वशी पुरूरवा सवाद (ऋ० १०।९५) तथा (३) सरमा-पणि सवाद (ऋ० १०।१०८), सहिताकालीन नारी की सामाजिक स्थिति पर विस्तृत प्रकाश डालते हैं।

(१) यम यमी सम्बन्धी सूक्त की द्रष्ट्री यमी है, जो इस सवाद के माध्यम से स्वेच्छाचरण करने वाले युवको के सम्मुख अपने भाई यम के उदात्त चरित्र को रखती है। यमी एक प्रतीक है स्वच्छन्द विचरण करने वाली नारियो का, जो कामवासना के वशीभूत होकर अपने सहोदर से भी सम्भोग-समागम करने मे नही हिचकती

कितनी उदात्त भावना हे सहोदर यम की अपनी बहन यमी के प्रति, जब वह कहता है—'हे यमी! हम सत्यभाषी हैं, कभी मिथ्या नही बोलते। सूर्यलोक के अधिपति आदित्य हमारे पिता तथा उनकी अर्द्धागिनी योषा हमारी माता है[3]।

१ समजैषमिमा अह सपत्नीरभिभूवरी।
यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च॥ (ऋ० १०।१५९।६)

२ विश्वो ह्यन्यो अरिराजगाम ममेदह श्वशुरो ना जगाम। (ऋ० १०।२८।१)

३ गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभि परम जामि तन्नौ। (ऋ० १०।१०।४)

यमी की स्वेच्छाचारिता का उत्तर देते हुए यम अपनी बहन को उत्तर देते हुए कहते हैं—"हे यमी! देवताओ के दूत सदा चैतन्य रहते हैं, उनके लिए रात-दिन बाधक नही हैं। अत यहाँ से दूर चली जाओ (इसकी मे कल्याण है[1])।

इस सूक्त का प्रथम, द्वितीय, षष्ठ, सप्तम, एकादश एव त्रयोदश मन्त्र यमी की उक्तियाँ हैं, जिनमे अपने भाई यम को पथभ्रष्ट करने मे अनेक युक्तियाँ दी गयी हैं। इन्ही उक्तियो को अभिप्रेय समझकर कुछ आधुनिक विद्वान् उस समय के भाई-बहन के विवाह-सम्बन्ध का समर्थन करते है, जो युक्तियुक्त नही है; क्योकि यम-यमी के सम्बन्ध के आधार पर आज भी हिन्दू-समाज मे कार्तिक शुक्लपक्ष की द्वितीया तिथि "भइया-दूज" के नाम से आदृत है। इस दिन भारतीय बहनें अपने भाइयो को टीका लगाकर उनके अनिष्ट का परिष्कार करती हैं। भ्रातृ-द्वितीया को यम-द्वितीया भी कहा जाता है।

(२) उर्वशी-पुरूरवा-सवाद (सूक्त) उस समय के समृद्ध नारी-समाज की उत्कृष्टता का प्रतीक है। स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी का प्रणय-बन्धन होता है। दोनो के सम्पर्क से "आयु" नामक पुत्र की उत्पत्ति होती है। कुछ दिनों के पश्चात् उर्वशी स्वर्ग चली जाती है, जिसके वियोग मे पुरूरवा व्याकुल हो उठता है। व्याकुलता इस सीमा तक बढ जाती है कि राजा पत्नी-वियोग मे आत्महत्या करने लगता है।

अपने पति की इस हीनावस्था को देखकर उर्वशी इस सूक्त की पाँचवी ऋचा मे एक सच्ची भारतीय नारी का पाठ दुहराती हुई अपने पति पुरूरवा से कहती है—"हे पुरूरवा! मुझे आपके घर मे किसी सपत्नी से प्रतिस्पर्द्धा नही थी, मैं तुमसे सब प्रकार से प्रसन्न थी, क्योकि मैंने जब से तुम्हारे घर मे प्रवेश किया, तुमने मेरी सुख-सुविधाओ का ध्यान रखा था[2]"। इसके अनन्तर पुरूरवा को आत्म-हत्या से विरत करने के लिये वैराग्यपूर्ण पाण्डित्य का परिचय देती हुई कहती है—"हे पुरूरवा! गिरो मत, मृत्यु की इच्छा का परित्याग करो, क्योंकि स्त्रियो तथा वृको (भेडियो) का हृदय एक-सा होता है, इनकी मित्रता स्थायी नही होती (ऋ० १०।९५।१५)।

"न वै स्त्रैणानि सख्यानि" उर्वशी के इस कथन को लेकर कुछ आत्म-प्रशसी विद्वान् यह मानने लगे हैं कि उस समय नारी-समाज अविश्वसनीय माना

१ न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवाना स्पर्श इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूय तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥

२. त्रि स्म माह्न श्नथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि।
पुरूरवोऽनु ते केतमाय राजा मे वीर तन्वस्तदासी ॥ (ऋ० १०।९५।५)

जाता था। वस्तुत ऐसा सोचने वाले लोग वे ही हैं, जिन्हे साहित्यकारो ने "काष्ठ-कुड्यसन्निभ." कहा है।

(२) सरमा-पणि सवाद सहिताकालीन नारी की निर्भीकता की जीती-जागती एक तस्वीर है, जिसे "पणि" लोगो का लालचभरा भरोसा भी धूमिल नही कर सका।

दौत्य-कार्य के लिये सर्वाधिक विश्वसनीय "सरमा" इन्द्र की दूती है, जो उस समय के असामाजिक कृपण वैश्यो (पणियो) के पास जाती है, इस बात का पता लगाने के लिये कि इन लोगो ने गो धन को कहाँ छिपा रखा है। अपने पास हठात् आयी हुई सरमा को देखकर "पणि" कहते हैं—"आप हमारी बहन है, हम आपको गो-धन का भाग देते है, अब लौटकर मत जाओ" (सूक्त की ९वी ऋचा)।

"सरमा" का पणियो को दिया गया उत्तर कितना तार्किक एव युक्ति-सगत है—"हे पणियो! मैं भाई-बहन का रिश्ता नही जानती। इन्द्र और अगिरस ने मुझे अच्छी तरह से रक्षित करके यहाँ भेजा है। अब यहाँ से कही दूसरी जगह आप लोग चले जायें"[1]।

वैदिक-वाङ्मय मे "पणि" शब्द निन्दापरक रहा है, क्योकि ये लोग छल-छद्म से धन-सग्रह करने वाले सदखोरो के प्रतीक थे। ऐसे लोगो के बीच जाकर देव-कार्य करना बहुत ही कठिन था, जिसे ना री सरमा ने बडी ही चतुराई के साथ सम्पन्न किया।

सारांश—

सहिताकालीन वैदिक समाज का आधार कुटुम्ब था। विवाह युवावस्था मे होता था। बाल-विवाह की दूषित प्रणाली कही प्रचलित न थी। युवक युवतियो को अपना जीवन-सगी चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। विवाह एक पवित्र एव चिरस्थायी सम्बन्ध माना जाता था।

नारी की सामाजिक स्थिति सहिता काल मे जितनी ऊँची थी, उतनी फिर कभी दृष्टिगोचर नही हुई। पुरुषो की तरह ऊँची शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नारी समाज को भी था। घोषा, अपाला, जुहू, रामशा, लोपामुद्रा, विश्ववारा, शश्वती आदि २१ सूक्त-द्रष्ट्रियाँ इस बात की प्रमाण है कि उस समय ऋषि होने का गौरव नारी समाज को सुलभ था। परिवार मे नारियो की प्रतिष्ठा थी। मागलिक (वैवाहिक) कार्यो मे वधू को आशीर्वाद दिया जाता था कि वह अपने पति के घर मे साम्राज्ञी बनकर पूरे कुटुम्ब को अपने आदर्शमय व्यवहार से अपने वशीभूत

---

१ नाह वेद भ्रातृत्व नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोरा.।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीय ॥ (ऋ० १०।१०८।१०)

करे। घरेलू एव धार्मिक कृत्यो के सम्पादन मे नारी नर का दर्जा बराबर का था। पत्नी के बिना यज्ञ पूर्ण नही माना जाता था।

विवाह के बन्धन कठोर नही थे। गुणो के आधार पर विवाह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णो मे होते थे। वर्ण व्यवस्था का तग दायरा उस समय न था, जैसा कि बाद के कालो मे दृष्टि-गोचर होता है।

आश्रम-व्यवस्था के चार स्तम्भ (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास) थे। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार पैदा होने वाला प्रत्येक व्यक्ति देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण के अतिरिक्त मानव सेवाऋण लेकर ही ससार मे आता था। ऋषि ऋण से उऋण होने के लिये अध्ययन अध्यापन, पितृ-ऋण से सन्तानोत्पादन, देवऋण से यज्ञ आदि का सम्पादन एव मानव-ऋण से मुक्ति पाने के लिए जन सेवा अनिवार्य कार्य माने जाते थे।

राजनैतिक व्यवस्था

गोपायन माता—

ऋक्सहिता के दशम मण्डल के ६०वे सूक्त की द्रष्ट्री गोपायनो की माता (अगस्त्य-स्वसा) मानी जाती हैं। इस सूक्त की छठी ऋचा मे आप तत्कालीन "असमाति" नामक नरेश को सम्बोधित करती हुई कहती हैं—"हे राजन्! महर्षि अगस्त्य के धेवतो (दौहित्रो) के हितार्थ रक्तवर्ण वाले अश्वो को रथ मे योजित कर अत्यन्त लोभी, अदानशील व्यक्तियो पर विजय प्राप्त करें"[1]।

सूक्त की ऋचा १ से ५ म तक अच्छे शासक के गुणो से अलकृत भजेरथ नरेश के वशज असमाति नरेश की भूरि भूरि प्रशसा की गयी है। मेधावी-जनो से प्रशसित, शत्रु-नाशक, तेजस्वी इस राजा के मनोरथ रथारूढ होते ही सिद्ध हो जाने की बात कही गयी है, क्योकि वे बाघ की तरह अपने शत्रुरूपी भैंसो का हनन करने मे समर्थ थे। इक्ष्वाकु वशज इस राजा को श्रेष्ठ रक्षक के रूप में वर्णित करते हुए तत्कालीन पच जनो (जनपदो) का भी सकेत किया गया है, जो उनके शासन के अन्तर्गत आते थे।

सहिताकाल की राजनीति मे नारी समाज की सच्ची पैठ थी, इस बात की पुष्टि इस सूक्त मे वर्णित उपर्युक्त विवरण से होती है। कैसे शासक के प्रति जनता आकृष्ट होती है, किसके आगे शत्रु अनायास ही नतमस्तक हो जाते हैं, इसका विशद

१ अगस्त्यस्य नद्भ्य सप्ती युनक्षि रोहिता।
पणीन्न्यक्रमीरभि विश्वान्राजन्नराधस ॥ (ऋ० १०।६०।६)

एव सुन्दर चित्रण यहाँ किया गया है, जो उस समय की जागरूक नारी की राजनीतिक सूझ बूझ का सबल प्रमाण है।

जन शब्द का प्रयोग ग्राम से बडी बस्ती के लिये सम्भवत प्रयुक्त होता था। ऋक्सहिता (१।८९।१०) मे 'पच जना" का प्रयाग हुआ है जिसका अर्थ सायण और यास्क ने देव, पितर, गन्धर्व, असुर, राक्षस या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद किया है, परन्तु यहाँ "गोपायन" द्वारा दृष्ट इस सूक्त मे "जना" शब्द का प्रयोग सम्भवत "भारत जनम्" (ऋ० ३।५३।१२) के अनुसार व्यापक दृष्टि का परिचायक है, जिसमे अनु, द्रुह्य, तुर्वशु, यदु, भरत (पुरु) वशी जातियाँ आती हैं। ऐसे "जन" का शासक राजा होता था, जिसका उल्लेख गोपायना" न असमाति राजा के रूप मे किया है।

अदिति—

ऋक् सहिता की सर्वाधिक चर्चित अदिति ने (ऋ० ४।१८) सूक्त का साक्षात्कार किया है, जिसम वृत्रासुर नामक दैत्य की जनविरोधी गतिविधियो का सम्यक् रूप से निरूपण किया गया है। इस सूक्त की पाचवी, छठी एव सातवी ऋचा विशष द्रष्टव्य है, जिनम विदुषी अदिति ने इन्द्र को अपने सामर्थ्य स आकाश पृथिवी को व्याप्त करने वाला कहा है। छठी ऋचा मे एव विज्ञ व्यक्ति को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—' हे विज्ञ ! ये नदिया क्या कहती हे इनसे पूछो। क्या ये नदिया जल को रोकने वाले वृत्रासुर के हन्ता इन्द्र का स्तुति गान कर रही हे'" ?

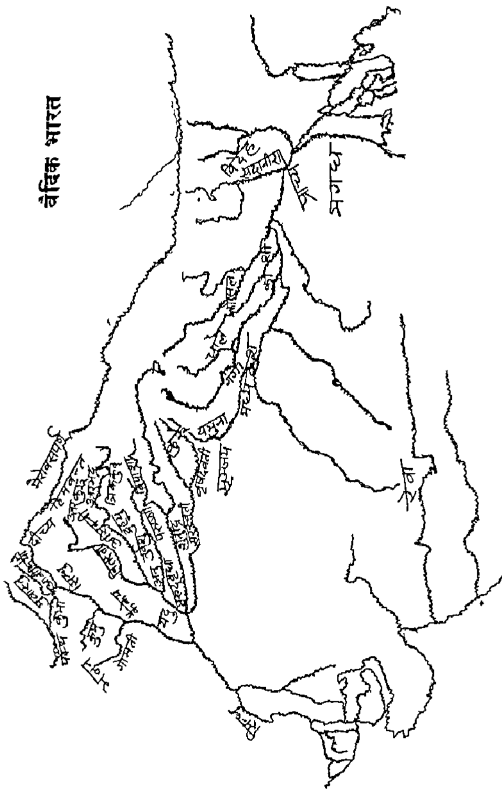
इस सूक्त मे 'कुपवा" नाम्नी राक्षसी, "व्यस' नामक दैत्य का नामोल्लेख उस काल की अस्थिरता का सूचक है। दुष्ट-प्रवृत्तिया पर अकुश लगाने वाले इन्द्र की अनुशासन-पूर्ण राज्य शक्ति का इससे पता चलता है।

देवासुर-सग्राम की सूत्रधात्री अदिति ही है। कश्यप ऋषि की दो पत्नियो मे दूसरी पत्नी का नाम 'दिति' था, जिसके गर्भ से दैत्य उत्पन्न हुए और अदिति के गर्भ स देवो का जन्म हुआ। दैत्यो के समाज विरोधी कार्यो का विरोध ही देवासुर-सग्राम का मुख्य कारण था।

इस सूक्त मे अदिति का आशय स्पष्ट है कि जनता का उत्पीडन करने वाली बडी से बडी शक्ति का भी अन्त म ध्वस हो जाता है, जैसे विश्वव्यापी प्रभुत्व वाले वृत्रासुर का इन्द्र के हाथो हुआ।

---

१ एता अपत्यलङ्गभव तीऋतावरीरिव सङ्क्रोशमाना ।
एता वि पृच्छ किमिद भनन्ति कमापो अद्रि परिधिं रुजन्ति ॥ (ऋ० ४।१८।६)


वैदिक भारत

नदी शब्द का प्रयोग वैदिक-वाङ्मय की उन तीस नदियो की स्मृति दिलाता है, जिनका नामोल्लेख (ऋक्म० १।४६।२, ७, ८, ९) मे किया गया है। सहिताकालीन जनता अपनी इन पवित्र नदियो की विभाजित रेखाओ मे निवास करती थी। ऋक्सहिता के दशम मण्डल के पचहत्तरवे सूक्त मे इन नदियो के त्रिसप्तक की चर्चा है। लगता है उस समय का सम्पूर्ण भारत इन नदियो के सप्तक (सिन्धु सप्तक, सरस्वती सप्तक तथा सरयू सप्तक) मे विभाजित था, जिस पर इस देश के मूल-निवासी आर्यो का शासन था।

गोधा—

ऋक्सहिता (१०।१३४) सूक्त की द्रष्ट्री गोधा ऋषिका है, इस सूक्त की छठी ऋचा मे कुशल शासक देवराज इन्द्र के शक्ति नामक अस्त्र की प्रशसा करती हुई कहती है—"हे इन्द्र! तुम महान् ऐश्वर्यवाले हो, क्योकि तुम्हारे पास शक्ति नामक आयुध है जिससे आप शत्रु को खीचकर धराशायी कर देते हैं[1]"।

इस सूक्त के प्रथम मन्त्र मे इन्द्र की उत्पत्ति देवो की माता अदिति की कोख से दिखाई गयी है और तृतीय मन्त्र म उन्हे रक्षक होने को कहा गया है।

शक्ति नामक शब्द से उस समय के अस्त्र-शस्त्रो की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है, जिनकी राष्ट्र-रक्षा हेतु बडी आवश्यकता होती है।

यमी—

ऋक्सहिता के दशम मण्डल के १५४ वे सूक्त की द्रष्ट्री ऋषिका यमी है। इस सूक्त की तृतीय ऋचा म यमी उस समय की मान्यता के अनुसार युद्ध म प्राण देने वाले व्यक्ति को श्रद्धा और सम्मान देती है। इतना ही नही प्रेतात्मा (मृत व्यक्ति) को उस स्थान पर जाने को कहती है, जहाँ अपनी देह के मोह को छोडकर सग्राम भूमि मे मरने वाले शूरवीर निवास करते हैं[2]।

देश, जाति एव धर्म की रक्षा हेतु प्राणोत्सर्ग करना सहिताकाल मे एक पवित्र कार्य माना जाता था, इस बात की ध्वनि इस सूक्त म मिलती है। अच्छे कार्य के लिये प्राणो का बलिदान उस समय की राजनीतिक विशेषता थी, जिसे यमी ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखा है।

---

१ दीर्घं ह्यङ्कुश यथा शक्ति बिभर्षि मन्तुम ।
पूर्वेण मघवन्पदाजो वया यथा यमो ।
देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत ॥ (ऋ० १०।१३४।६)

२. ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यज ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताश्चिदेवापि गच्छतात ॥ (ऋ० १०।१५४।३)

"गोधा" ने राज्यसत्ता को सुचारु रूप देने के लिए शक्ति के साथ "शक्ति" नामक शस्त्रास्त्रो की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया है। रक्षक के सम्मान का दिग्दर्शन कराते हुए 'यमी" ने जो भाव सग्रामभूमि मे मरने वाले वीरो के बारे मे व्यक्त किये है, वे नि सन्देह अनुपम हैं।

"सरमा" द्वारा किया गया दौत्य-कार्य तत्कालीन नारी के बुद्धि वैभव एव चातुर्य का परिचय देता है। अपने पक्ष को राजनैतिक दृष्टिकोण से अपने विरोधियों के सामने कैसे रखना चाहिए, इसे नारी "सरमा" अच्छी तरह जानती है। भयभीत न होने वाली नारी ही अपने प्रभु का कार्य कर सकती है, यह सरमा के जीवनवृत्त से सिद्ध होता है।

सार्वभौमिकता के लिये शासक के पास जिन अनिवार्य तत्त्वो की आवश्यकता होती है, उन सबका सकेत मन्त्र द्रष्ट्रियो ने अपने अपने सूक्तो म किया है। राजा (शासक), जन (जनपद), नदी, पवत, शस्त्रास्त्र के साथ जन-सहयोग आदि की चर्चाएँ उपर्युक्त सूक्तो मे की गयी हैं, जिनसे नारी की राजनैतिक स्थिति का आभास हो जाता है।

धार्मिक व्यवस्था—

धृ (धृञ् धारणे) धातु से निष्पन्न होने वाले धर्म शब्द की व्यापकता की स्रोत वैदिक सहिताएँ ही हैं। धर्म क्या है, अधर्म क्या है, इस जिज्ञासा के समाधान मे सहिताओ का साक्ष्य ही परम प्रमाण माना गया है। अभ्युदय और नि श्रेयस को प्राप्त कराने का साधन सहिताओ मे सार्वभौमिकता का अमर सन्देश है, जिसके फलस्वरूप आज ये ससार के सम्पूर्ण धार्मिक सिद्धान्तो की उपजीव्य मानी जाती हैं।

सहिताकाल मे नारी नर की परामर्शदात्री मानी जाती थी, जिसे नर के प्रत्येक धार्मिक-कार्य मे एक साथ बैठने, कार्य करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था, क्योंकि वह सहधर्मिणी थी। ऋक्-सहिता (५।६१।८) मे पत्नी को पति का "नेम" अर्थात् आधा अग कहा गया है। सयुक्त रूप मे यज्ञानुष्ठान (ऋ० ५।५३।१५), सयुक्त रूप मे अग्निहोत्र (ऋ० ५।१।७३), पृथक् रूप मे भी नारी को यज्ञ करने का अधिकार (अथर्वसहिता ११।१।१७-२७), सूक्तद्रष्ट्री विश्ववारा प्रतिदिन यज्ञ करती थी (ऋ० ५।२८।१) आदि वैदिक प्रमाणो से पता चलता है कि उस समय नारी को नर के समान ही धार्मिक कृत्यो के सम्पादन की पूर्ण सुविधा थी।

पाणिग्रहण एक धार्मिक कृत्य है, जिसमे कन्या "सप्तपदी मन्त्र" ऐसा कहने पर पुरुष के सामने अपने धार्मिक कृत्यो के साथ अन्य अधिकारो की माग करती हुई कहती है—"आप यज्ञ, दान, व्यवसाय, अन्य सामाजिक कर्मों मे मुझे सहयोगी

समझने और मेरी सम्मति का आदर करने का यदि वचन दें, तो मैं आपकी वामांगी बनने को तत्पर हूँ"। पुरुष—'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय" (ऋ० १०।८५।३७) कहता है, जिसका आशय स्पष्ट है कि "हे कन्ये, तुझे सौभाग्यवती बनाने के लिये ही मैं तेरा हाथ ग्रहण करता हूँ। तुम मेरी वृद्धावस्था तक सहयोगिनी रहो"।

वागाम्भृणी—

ऋक्-संहिता दशम मण्डल के १२५वें सूक्त की द्रष्ट्री "वागाम्भृणी" है, जिनमे संगठन करने की अद्भुत शक्ति है। देवी-गुणो से सम्पन्न इस नारी ने राष्ट्र को एक सूत्र मे बाँधने को सर्वोत्तम धर्म माना है। सगठन-शक्ति के रूप मे अपना परिचय देती हुई वे कहती हैं—"मैं राज्यों की अधिष्ठात्री एव धन-प्रदात्री हूँ। मै ज्ञान से अलंकृत तथा यज्ञो मे प्रयुक्त होने वाले सभी साधनो मे सर्वोत्तम हूँ। मैं प्राणिमात्र मे निवास करती हूँ। देवताओ ने मुझे महत्व देते हुए अनेक स्थानो पर स्थापित किया है[1]"।

नारी की अद्भुत-शक्ति का प्रतिपादन करने के साथ ही सूक्त-द्रष्ट्री का विचार स्पष्ट है कि शरीर मे नाड़ी जिस प्रकार गतिमान है, उसी प्रकार समाज मे नारी क्रियाशील है। प्राण-धारण, श्रवण, दर्शन, भोजन आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था नारी-धर्म की धुरी के चारो ओर व्यवस्थित है। यही कारण है कि प्रस्तुत सूक्त के चतुर्थ मन्त्र मे स्पष्ट कहा गया है—"हे विज्ञ! मै जो कहती हूँ, वह पूर्ण यथार्थ है, मुझे न मानने वाले क्षीणता को प्राप्त होते हैं"।

नारी नरत्व की नींव है, इसके प्रतिपादन मे कहा गया है—"मैं देवता और मनुष्यों के परम-पुरुषार्थ की उपदेशिका हू। मेरी कृपा से ही लोग बलवान्, मेधावी, स्तोता और कवि बनते हैं"[2]।

देवताओ की स्तुति करना संहिता-काल मे एक आवश्यक धर्म माना जाता था। स्तुति न करने वाला व्यक्ति राजा का कोपभाजन बनता था। इस कथन की पुष्टि सूक्त की छठी ऋचा से होती है, जिसमे—"अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे" का प्रतिपादन किया गया है। मनुष्यो के लाभार्थ संग्राम करने वाली, आकाश स्थल-समुद्र मे विचरण करने वाली, जिसने अपने सदाचरण से स्वर्ग को स्पर्श किया, उस वागाम्भृणी की उक्ति है कि—"मैं जब सृजन-कार्य करती हूँ, तो मेरी गति वायु के

---

१ अहं राष्ट्री संगमनी वसूना चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
ता मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ (ऋ० १०।१२५।३)

२. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥ (ऋ० १०।१२५।५)

समान होती है। मैं अपने महत्त्वपूर्ण कार्यों से महिमामयी होकर आकाश, पृथिवी की सीमाओं को भी लाँघ चुकी हूँ[1]"।

इस सूक्त का साक्षात्कार करने वाली "वागाम्भृणी" ने संहिता-कालीन नारी की धार्मिक स्थिति का सम्यक्-ज्ञान कराते हुए प्रारम्भ के दो मन्त्रों में सब कुछ कह दिया है। उस समय नारी स्वतन्त्र-रूप से रुद्रगण, वसुगण, तथा आदित्यगण देवताओं के पूजन अर्चन हेतु अनुष्ठान करती थी। मित्रावरुण, इन्द्र, अग्नि, अश्विनी-द्वय को प्रसन्न करने के लिये सोम (पेय-पदार्थ) का धारण करना नारी के अधीन था। त्वष्टा, पूषन् (पूषा) आदि देवता भी उस समय की नारी के आराधनीय देव माने जाते थे।

श्रद्धा—

"श्रद्धा" ऋक्संहिता दशम मण्डल के १५१वें सूक्त का साक्षात्कार करने वाली ऋषिका है। इस सूक्त में श्रद्धा के महत्त्व का सांगोपांग वर्णन किया गया है। श्रद्धा को छोड़कर जीवन की सभी धाराएँ दुःखदायिनी होती हैं। श्रद्धा के महत्त्व का प्रतिपादन करती हुई सूक्तद्रष्ट्री कहती है—"वायु को अपना रक्षक बनाने की अभिलाषा करने वाले देवता तथा मनुष्य श्रद्धा की आराधना करते हैं। उपासकों के निश्चय का कारण श्रद्धा ही है। श्रद्धा का आनुकूल्य ही वैभव प्राप्ति का साधन है। प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल श्रद्धा ही हमारे द्वारा (सन्ध्यावन्दन के रूप में) आहूत होती है[2]"।

ऋक्संहिता में उषा, सूर्या, वाक्, पृथिवी, श्रद्धा आदि अनेक नारियों को देवता की संज्ञा दी गयी है। वैदिक-संहिताकाल में नारी-समाज को देव-कोटि में रखा जाता था और धार्मिक दृष्टि से समाज में उसका स्थान बड़ा ही आदरणीय था। कन्यावस्था में ब्रह्मचर्य धर्म का पालन करना अनिवार्य था।

संहिताकाल में नारी का अन्तस्तल सात्त्विक श्रद्धा विश्वास का वक्षःस्थल माना जाता था। श्रद्धारूपी नदी नारी ने सदा विश्वासरूपी नग नर का पाद-क्षालन किया है। वस्तुतः ज्ञानपूर्वा अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त करने के कारण

---

१ अहमेव वातइव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ (ऋ० १०।१२५।८)

२ श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ (ऋ० १०।१५१।४-५)

ही नारी वैदिककाल मे ससम्मान जीवन यापन करती थी। आज का तमोगुणी मानव, नारी की उस श्रद्धामयी मूर्ति का आकलन नही कर सकता, जिसको सहिताकाल का सात्त्विक पुरुष श्रद्धा से पूजता था। यही कारण है कि असती, विपथ गामिनी नारी की वैदिक-वाङ्मय मे सर्वत्र निन्दा की गयी है।

दक्षिणा—

ऋक्सहिता दशम-मण्डल के १०७वे सूक्त की द्रष्ट्री दक्षिणा (प्राजापत्या) मानी गयी है। इस सूक्त मे दान-दाता की प्रशसा की गयी है। दानशील व्यक्ति उस समय ग्राम का प्रथम नागरिक माना जाता था। उदार व्यक्ति को राजा के समान आदर मिलता था[1]।

अच्छी नारी प्राप्त करने के लिये दानदाता होना आवश्यक था। मन्त्र-द्रष्ट्री प्रस्तुत सूक्त के नवम, दशम मन्त्र मे कहती है—"दान दाता व्यक्तियो को घृत, दुग्ध देने वाली गौ, सुन्दरी, सुशीला, नवोढा पत्नी की प्राप्ति होती है और ऐसे लोग अपने शत्रुओ पर विजय भी प्राप्त करते है। द्रुतगामी अश्व, सुन्दरी नारी, पुष्करणी के समान स्वच्छ तथा देवमन्दिर के सदृश चित्ताह्लादक निवासस्थान भी दान देने वालो को सुलभ होता है[2]"।

राष्ट्र की सुख-समृद्धि, विकास के लिये सगठन, पारस्परिक सहयोग, सह अस्तित्व, श्रद्धा, विश्वास आदि गुणो के साथ उदारता, दानशीलता को भी धार्मिक-भावना का एक महत्त्वपूर्ण अग माना जाता था। इस तथ्य को इस सूक्त मे भली-भाति दर्शाया गया है।

विशेषताएँ—

सहिताकालीन धार्मिक भावना की पहली विशेषता है कि उसमे सार्वभौमिकता है, सकीर्णता नही। इस धर्म की दूसरी विशेषता है कि यह परम-पिता परमात्मा को ही अपना परम लक्ष्य मानने की सम्मति देता हुआ कहता है—"त्व हि न पिता वसो, त्व माता शतक्रतो बभूविथ, अथा ते सुम्नमीमहे"। अर्थात् हे सबको वास देने

---

१ दक्षिणावान्प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपति जनाना य प्रथमो दक्षिणामाविवाय ॥ (ऋ० १०।१०७।५)

२ भोजा जिग्यु सुरभि योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्व या सुवासा।
भोजा जिग्युरन्त पेय सुराया भोजा जिग्युर्ये अहूता प्रयन्ति ॥
भोजायाश्व स मृजन्त्याशु भोजायास्ते कन्या शुम्भमाना।
भोजस्येद पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृत देवमानेव चित्रम् ॥ (ऋ० १०।१०७।९-१०)

वाले प्रभु, आप ही हमारे सच्चे पिता तथा कल्याणदात्री माता है, इसलिये हमे शरण दें। अपने सुकर्म तथा दुष्कर्म के फल का भोक्ता अकेला व्यक्ति ही होता है, इसलिये सत्कार्य करना चाहिए, यह तीसरी विशेषता मानी गयी है। चौथी विशेषता यह है कि वैदिक-धर्म नर नारी के सम्पूर्ण जीवन को वर्णाश्रम व्यवस्था द्वारा व्यवस्थित कर देता है, जिसमे शिक्षा, रक्षा, जीविका (व्यवसाय) तथा कला कौशल के निर्वाह के साथ ऐसी सुदृढ स्थिति बनती है, जिसका पराभव असम्भव नही तो कठिन अवश्य माना गया है। पाँचवी विशेषता है कि प्रत्येक बात को पहले बुद्धि की कसौटी पर परखकर ही उसमे प्रवृत्त होने की अनुमति यह धर्म देता है। धर्म-अर्थ काम को समभाव से सेवन करने की आज्ञा देने वाली संहिताएँ, मुक्ति को चरम-लक्ष्य घोषित करने वाली ऋचाएँ ही मानवीय ज्ञान की आदि स्रोत हैं—यह स्वीकृति ही इस धर्म की छठी विशेषता है।

उपर्युक्त विशेषताओ का मन्त्रद्रष्टियो ने अपने अपने सूक्तो मे यत्र तत्र प्रतिपादन किया है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि उस समय नारी की धार्मिक स्थिति अच्छी थी, जिसका उत्तरोत्तर ह्रास होता गया और नारी को नर की तुलना म हीन मानने की भावना बलवती हो गयी।

आर्थिक व्यवस्था—

संहिता कालीन नारी की आर्थिक स्थिति के बारे म स्पष्ट रूप मे कुछ कहना कठिन है। एक ओर ऋक्संहिता (१०।८५) मे नव वधू को घर की साम्राज्ञी कहकर आदर दिया गया है, तो दूसरी ओर उसे तैत्तिरीय संहिता (६।५।८।२) मे "तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादी." एव मैत्रायणी संहिता (४।६।४) मे "पुमान् दायाद स्त्री अदायादी" कहकर नर-नारी के आर्थिक अधिकारो के बीच एक गहरी खाई खोद दी गयी है।

अभ्रातृका कन्याओ को छोड़कर शेष कन्याओ का दायभाग पर कोई अधिकार नही था। विवाह के समय भेंट-रूप मे मिलने वाले उपहारो पर नारी के अधिकार की चर्चाएँ है। विवाह के समय मिलने वाली इस सम्पत्ति को "पारिणाह्य" कहा जाता था, जिसकी ओर सकेत करत हुए तैत्तिरीय-संहिता (६।२।१।१) मे कहा गया है—"पत्नी वै पारिणाह्यस्य ईश." अर्थात् उपहार क रूप मे मिलने वाली वस्तुओ पर नारी का पूर्ण अधिकार था। इसका समर्थन काठक-संहिता (२४।८), कपिष्ठल-संहिता (३८।१), मैत्रायणी-संहिता (३।७।९) म भी किया गया है। विधवा नारी को धन-प्रदान करने की बात अथर्वसंहिता मे कही गयी है[१]।

---

१ इय नारी पतिलोक वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रतम्।
धर्म पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजा द्रविण चह धेहि॥ (अथर्वसंहिता–१८।३।१)

इसके अतिरिक्त कुमारी-कन्याएँ, जो वृद्धावस्था तक पिता के घर ही रहकर जीवन यापन करती थी, उनकी ओर से पिता की सम्पत्ति मे अधिकार-प्राप्ति हेतु ऋक् सहिता (१०।८५, १३, ३८) तथा अथर्वसहिता (१४।१।१३) मे प्रार्थना की गयी है। इन्द्र से धन की याचना करने वाला एक व्यक्ति अपनी तुलना उस कन्या से करता है, जो वृद्धावस्था तक पितृगृह मे रहने पर अपने दायाश के लिए पिता से प्रार्थना करती है[1]।

वैदिक-सहिताओ मे स्त्री-धन की उपर्युक्त चर्चाओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नारी का आर्थिक स्थिति स्वतन्त्र रूप मे नगण्य थी, परन्तु पिता, पति एव पुत्र की छत्र-छाया मे रहते हुए उसे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक अधिकारो की तरह आर्थिक अधिकारो के उपभोग की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

आर्थिक-साधन—

सहिता-काल मे नारी नर की सहधर्मिणी सहचरी थी, जो परिवार की समस्त व्यवस्था पर नियन्त्रण करती हुई आर्थिक सन्तुलन बनाये रखने हेतु पति का सहयोग करती थी। प्राचीन-काल मे नारी को साहित्य एव ललित-कलाओ की ही शिक्षा दी जाती थी, जिसका उद्देश्य धनोपार्जन नही था, परन्तु आवश्यकता पडने पर धन-अर्जित करने पर प्रतिबन्ध भी नही था।

गो-पालन—

ऋक्-सहिता दशम-मण्डल का १०८वाँ सूक्त ऋषिका देवशुनी सरमा द्वारा दृष्ट है। इस सूक्त मे मन्त्र-द्रष्ट्री सरमा गो-धन का पता लगाने हेतु गुप्तचर का कार्य करती है। गो-धन वापस न देने के कारण पणियो को गम्भीर फल भोगने की चेतावनी देती है। इन्द्र और महर्षि अगिरस आदि विभूतियो की गो-पालन, सरक्षण, सवर्द्धन मे कितनी रुचि है, इसको स्पष्ट ऋषिका "सरमा" ने इस सूक्त मे दर्शाई है।

अथर्वसहिता (१०।१०।४) म गौ को उत्पादन, आरोग्यता का आधार माना गया है। गौ का एक नाम "वशा" भी आया है, जिसके सम्बन्ध म कहा गया है कि वह दूध देती है, भूमि को अपनी खाद स उर्वरा बनाती है, जिससे राष्ट्र परिपुष्ट होता है[2]।

गाय राष्ट्र के उत्पादन तथा उसकी अर्थ-व्यवस्था को ठीक करने के साथ हमारे सास्कृतिक सकेतो की साक्षी भी है। गाय—पाँच ज्ञानेन्द्रियो, पाँच कर्मेन्द्रियो तथा आत्मा (ग्यारह रुद्रो) की माता, २७ वसुवो (नक्षत्रो) की पुत्री, द्वादश आदित्यो (बारह महीनो) की बहन, अमृत की स्रोत है, इसलिये इसे अवश्य माना गया है[3]।

१ अमाजूरिव पित्रो सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्। (ऋ० २।१७।७)
२ अथर्व० १०।१०।८। ३ ऋ० ८।१०१।१५।

अथर्व-संहिता (४।५।२१) में गौ की सुरक्षा हेतु उपाय दर्शाए गए हैं—गौ का चोर अपहरण न करें, उन पर शस्त्र प्रहार न हो, हिंसक जन्तुओं से इन्हें बचाया जाय, भयरहित स्थान पर इनका गमनागमन हो, गो भक्षों के हाथ में इन्हें न जाने दिया जाय।

गो पालन से यज्ञ सम्पादित होते हैं (यजु०३।४९), गो-पालन से दीर्घायुष्य मिलता है (अथर्व० ६।८।७८)। संहिता-कालीन नारी समाज सदा गो धन की सुरक्षा में लगा रहता था क्योंकि अथर्व-संहिता में गौ माता से प्राप्त होने वाले लाभों को विस्तार से दर्शाया गया है—"गौ के दूध, घृतादि सेवन से निर्बल पुरुष सबल, अज्ञानी व्यक्ति ज्ञानी, निर्धन मानव धनवान्, कुरूप जन रूपवान् हो जाता है। जिस घर में गौ रहती है, वहाँ सदा आनन्द रहता है और गो सेवक का समाज में सर्वत्र समादर होता है"[१]।

वस्त्र-उद्योग—

गृह-कुटीर-उद्योगों का महत्त्व भारतीय वाङमय में सर्वत्र प्रतिपादित है। वैदिक संहिताओं में वेमन् (यजु० १९।८३)=खुड्डी, सीस (यजु० १९।८०)=कपड़ा लपेटने हेतु शीश का वजन, तसर (ऋ० १०।१३०)=नाल, ओतु (ऋ० ६।९।२)=बाना, तन्तु-तन्त्र (ऋ० १०।१३०।२)=ताना आदि आए शब्दों से ज्ञात होता है कि उस समय वस्त्रोद्योग का प्रचलन बहुत था। वस्त्रों को बुनने, रंगने तथा उन पर गोटा आदि लगाने का कार्य कौन करता था? वस्त्रों के कितने प्रकार थे? वस्त्रों के बुनने का कार्य कहाँ होता था? इत्यादि प्रश्नों का समुचित उत्तर संहिताओं में उपलब्ध है, जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय वस्त्र-उद्योग एक घरेलू अनिवार्यता के रूप में स्वीकृत था। अर्थात् नर नारी अपनी अपनी आवश्यकतानुसार स्वयं वस्त्र-निर्माण करते थे और उसे अन्य साधनों से सुसज्जित करने का कार्य भी। 'चर्खे' की चर्चा घर घर में था और उससे बने वस्त्र को धारण करना राष्ट्रीय धर्म माना जाता था[२]।

नारी-समाज की रुचि वस्त्रोद्योग में अधिक थी, इसकी पुष्टि "सरी-वयिनी' (जुलाहा), 'रजयित्री' (रंगरेजिन), "वास पल्पूली" (धोबिन) आदि शब्दों से होती है, जिनका उल्लेख क्रमश "सरी" (ऋ० १०।७१।९), वयित्री (पर्वविंश-

१ यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥ (अथर्व० ४।२१।६)

२ अभिश्रियो मरुतो विश्वकृष्टय आ त्वेषमुग्रमव ईमहे वयम्।
ते स्वानिनो रुद्रिया वर्षनिर्णिजः सिंहा न हेषक्रतवः सुदानवः॥ (ऋ० ३।२६।५)

ब्राह्मण १।८।९), रजयित्री (यजु० ३०।१२), वास-पल्पूली (वा० यजु० ३० अध्याय) मे है। यह ठीक है कि वस्त्रो को तैयार करने मे पुरुष वर्ग को भी उतना ही अधिकार था, जितना नारी को[१]।

वस्त्र निर्माण करने वाले नर या नारी मे किन-किन गुणो की आवश्यकता होनी चाहिए, इसका प्रतिपादन ऋक्संहिता मे करते हुए कहा गया है—"वस्त्र बुनने वाले को बुद्धिमान्, कार्यकुशल, भद्र भावना आदि गुणो से सम्पन्न होना चाहिए"[२]।

वस्त्रो की विभिन्नता—

संहिता काल मे स्त्रियाँ विभिन्न अवसरो पर पहनने वाले अनेक प्रकार के वस्त्रो का निर्माण करती थी। ऋक्संहिता मे यज्ञ के अवसर पर धारण किये जाने वाले वस्त्र का निर्माण करने वाली दो नारियो का वर्णन किया गया है[३]। अथर्वसंहिता (१४।२।५१) मे एक नारी का वर्णन किया गया है, जो अपने पतिदेव के लिये सुन्दर कपडो का निर्माण करती है। ऋक्संहिता (५।४७।६) मे एक माता अपनी सन्तति (पुत्र पुत्री) के लिये वस्त्र-निर्माण करती हुई कितनी उदात्त भावना रखती थी, इसका अनुभव एक सहृदय सामाजिक सहज मे कर सकता है। उस समय अपनी सन्तति के लिए वस्त्रो का निर्माण करना नारी का प्रथम कर्त्तव्य माना जाता था। वैदिक-युग की माताओ की श्रेष्ठता स्वत सिद्ध है, क्योकि उनके पवित्र हाथो से बने हुए दशी वस्त्रो मे सद्विचारो की शिक्षा निहित रहती थी। सेनानायक चमकदार कपडे पहनते थे, इस सम्बन्ध मे ऋक्संहिता के नवम-मण्डल मे उल्लेख है[४]।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उस समय नारी-समाज अपने घर की आर्थिक स्थिति ठीक रखने के लिये गो पालन के अतिरिक्त चर्खे की सहायता से सूत कातता था और खुड्डी (खड्डी) पर वस्त्र-निर्माण करता था।

सांस्कृतिक-व्यवस्था—

ऋक्संहिता के नवम-मण्डल के पाचवे सूक्त मे अपने अभीष्ट की पूर्ति मे संस्कृति के मूलभूत तीन तत्त्वो (देश, भाषा, धर्म) का आह्वान करते हुए कहा गया

---

१ इमे वयन्ति पितर। (ऋ० १०।१३०।१)

२ वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयू रथ न धीर स्वपा अतक्षम। (ऋ० ५।२९।१५)

३ साध्वपासि सनता न उक्षिते उषासानक्ता वय्येव रण्विते।
तन्तु तत सवयन्ती समीची यज्ञस्य पेश सुदुघे पयस्वती॥ (ऋ० २।३।६)

४ प्र सेनानी शूरो अग्रे रथाना गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना।
भद्रान् कृण्वन्निन्द्र हवान्त्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते॥ (ऋ० ९।९६।१)

है—"हमारे इस योग मे ये तीनो देवियाँ आगमन करें"[1] । मातृभाषा, संस्कृति (धर्म) तथा मातृभूमि के रूप मे आयी ये त्रिमूर्तियाँ, नि सन्देह उस समय की नारी की सांस्कृतिक स्थिति को सुव्यवस्था की ओर सकेत करती है। कल्याणदायिनी इस मूर्तित्रय के संरक्षण तथा सवर्द्धन का सत्य-सकल्प ही वास्तव मे राष्ट्रीय जन-जीवन को ज्योतिर्मय बना सकता है। ऋक्संहिता के प्रथम-मण्डल के तेरहवें सूक्त मे—इला, सरस्वती, मही को तीन कल्याणकारिणी देवियो की सज्ञा देते हुए इनसे प्रार्थना की गयी है कि वे राष्ट्रीय-सुरक्षा को सकट मे डालने वाले कुशासकों पर नियन्त्रण करें[2] ।

बालकों की भाँति किलकारी भरते हुए—"माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्या." (अथर्व-संहिता–१२।१।१२), "उपसर्प मातर भूमिम्" (ऋ० १०।१८।१०), "यते महि स्वराज्ये" (ऋ० ५।६६।६) आदि सूक्तियाँ वैदिक संहिता कालीन सभ्यता एव देश-भक्ति की प्रमाण है। सैकडो हाथो से इकट्ठा करने तथा हजारो हाथो से बाँटने की ओर सकेत करते हुए अथर्व-संहिता (३।२४।५) मे कहा गया है—"शत हस्त समाहर सहस्रहस्त सकिर" ।

देश-भक्ति—

ऋक्संहिता प्रथम-मण्डल के १७९वें सूक्त की द्रष्टी लोपामुद्रा ने अपने वर्ण्य-विषय मे देश-भक्ति के गुणो से अलकृत एक ही सन्तति को श्रेष्ठ माना है। अपने पतिदेव (अगस्त्य) के पूछने पर लोपामुद्रा ने स्पष्ट उत्तर दिया—"हजारो पुत्रो की अपेक्षा एक ही देश-भक्त, समाजसेवी, चरित्रवान्, विद्वान् पुत्र अच्छा है। मैं हजार निकम्मे तथा मूर्ख पुत्रो को लेकर क्या करूँगी ?"

ऋक्संहिता दशम-मण्डल के १०९वें सूक्त की ऋचाओ का साक्षात्कार करने वाली नारी "जुहू" का राष्ट्र प्रेम स्पष्ट है, जब वे अपने सूक्त मे कहती हैं—"मानव-जाति के लोग जब कभी भी भौतिकवादी चकाचौंध मे अपने को विस्मृत कर बैठें, तो उन्हें सत्यान्वेषण हेतु बैठकर चिन्तन करना चाहिए" ।

नारी-समाज में अपने देश की रक्षा के भाव बडे ही प्रबल थे। ऋक्संहिता (५।३०।९) मे अपने राष्ट्र की रक्षा हेतु नारियो द्वारा आयुध धारण करने का सकेत है। इन्द्र नारी सेना को अबला-सेना की सज्ञा देते हैं। ऋक्संहिता (१।११२।१०,

१ भारती पवमानस्य सरस्वतीळा मही ।
इम नो यज्ञमा गमन्तिस्रो देवीः सुपेशस ॥ (ऋ० ९।५।८)

२ इला सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुव ।
बर्हि सीदन्त्वस्रिध. ॥ (ऋ० १।१३।९)

१।११।८।८) मे विश्वला नामक नारी अपने देशहित पति के साथ युद्धस्थल मे जाती है और युद्ध मे उसकी एक टाग कट जाती है, जिसे बाद मे अश्विनीकुमार ठीक करते हैं। ऋक्सहिता (१०।१०२।२) मे मुद्गलानी नामक नारी का वर्णन है, जिसने अपने राष्ट्रहित मे अपने शत्रुओ से एक हजार गौएँ जीती थी।

मातृ-भाषा—

अम्भृणी ऋषि की पुत्री ऋक्सहिता दशम मण्डल के १२५वें सूक्त मे वाणी (मातृ-भाषा) के महत्त्व का प्रतिपादन करती हुई कहती है—"यह वाणी ही राज्यो की अधिष्ठात्री है, इसी की कृपा से मानव बलवान्, मेधावी या कवि हो सकता है"। यह सत्य है कि मातृभाषा के ज्ञान से ही सही मार्ग देखा जा सकता है।

ऋक्सहिता के पचम-मण्डल के २८वें सूक्त मे "विश्ववारा" ने अग्निदेव से प्रार्थना करते हुए कहा है—"हे अग्निदेव! स्त्रियाँ अखण्ड सौभाग्यवाली हो और दूसरे लोगो की भलाई मे तत्पर रहे"। "विश्ववारा" शब्द का अर्थ ही है—"अपनी वाणी से दूसरो को पवित्र करने वाली नारी"।

अथर्वसहिता (१९।७१।१) मे मातृभाषा-वेदमाता की स्तुति की गयी है कि वे स्तुति गायक को आयु, सन्तान, कीर्ति, धन, ज्ञान प्रदान करे।

"अपाला" द्वारा दृष्ट (ऋ० ८।९१) सूक्त का भाषा-सौन्दर्य तथा सौष्ठव नि सन्देह सहिता साहित्य की वह सुधा है, जिससे परवर्ती वाड्मय अपने को अजर-अमर बनाने मे सक्षम हो सका है। यह भाषा का ही प्रभाव था कि अन्त मे ऋषि "कृशाश्व" 'अपाला" को अबला समझने की भूल स्वीकार करते हुए उन्हे पुनः अपनी सहधर्मिणी के रूप मे ग्रहण कर हर्ष का अनुभव करते है।

"घोषा" ऋक्सहिता के दशम-मण्डल के ३९व तथा ४०व सूक्त की द्रष्ट्री है। "घोषा" का मातृभाषा प्रेम स्पष्ट है, जैसा कि वह कहती है—"मै राजकन्या "घोषा" सब जगह वेदो के सन्देश को पहुँचाने वाली स्तुतिपाठिका हू" (ऋ० १०।४०।५)। "घोषा" के सूक्तो मे सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का समन्वय है, जिसे मातृभाषा की अमर देन कहा जा सकता है।

संस्कृति—

ऋक्-सहिता के दशम मण्डल के १०९वें सूक्त की द्रष्ट्री "जुहू" है, जो ब्रह्मजाया के नाम से भी जानी जाती है। आपने अपने द्वारा दृष्ट सूक्त की पाचवी, छठी तथा सातवी ऋचा मे तत्कालीन सास्कृतिक विचारो का सम्यक् निरूपण किया है। सामान्य व्यक्ति की तरह उस समय अपनी विवाहिता नारी (जुहू) का परित्याग करने वाला बृहस्पति भी दण्डित होता है। नैतिकवाद की चकाचौध म फँसने वाले को निन्दनीय

माना जाता था, क्योंकि वह ईश्वरीय आदेशों का उल्लघन करता था। धर्म-कर्म को भूलकर कुमार्ग-गमन करने वालों को सन्मार्ग पर लाने का कार्य विद्वन्मण्डली करती थी।

ऋक्संहिता दशम-मण्डल के १५१वें सूक्त की द्रष्ट्री ऋषिका श्रद्धा (कामायनी) है। इस सूक्त में श्रद्धा के महत्त्व का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इससे तत्कालीन संस्कृति का पता चलता है, जिसका उस समय के समाज में श्रद्धा के रूप में समादर था। सूक्त की अन्तिम ऋचा में कहा गया है—"हम लोग श्रद्धा को प्रात काल पुकारते हैं, मध्याह्न में पुकारते हैं एवं सन्ध्याकाल में भी उसका आह्वान करते हैं, जिससे हम लोग सदा आस्थावान् बने रहें"[१]।

निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि वैदिक संहिता-काल की नारी को तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्थितियों का पूर्ण ज्ञान था और नारी-समाज पुरुष वर्ग की तरह ही स्वतन्त्रता-पूर्वक राष्ट्र निर्माण में योगदान करता था।

---

१ श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ (ऋ० १०।१५१।५)

षष्ठ अध्याय

नारी-अधिकार एवं शुभ-कामनाएँ

नारी-अधिकार

यज्ञ—

वैदिक-संहिताओं में "यज्ञ" का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय जन-जीवन यज्ञीय भावनाओं से ओत प्रोत रहा है। यही कारण है कि संहिताओं के उपजीव्य परवर्ती पुराण काल में "सर्वं यज्ञमय जगत्" (कालिका पुराण—३१।४०) कहकर यज्ञ की व्यापकता को स्वीकार किया गया है। फलतः यजन, पूजन, उपासना के अतिरिक्त कथाश्रवण, तीर्थयात्रा, अध्ययनाध्यापन तथा विवाह आदि नैमित्तिक एवं राज्यप्राप्ति आदि काम्यकर्म भी आगे चलकर यज्ञ की श्रेणी में गिने जाने लगे। "यज्ञो वै विष्णु" (शतपथ-ब्राह्मण—१।१।२।१३) से स्पष्ट है कि वैदिक-संहिता-कालीन यज्ञ की परिधि धीरे-धीरे इतनी बढ़ गयी कि उसके अन्तर्गत मर्यादापुरुषोत्तम राम और योगिराज कृष्ण के आचरण के साथ ही साथ ब्रह्मचर्य, धर्मार्थ बलिदान, समाज-सेवा आदि भी यज्ञ मान लिये गये।

यज्+(भाव) नङ् से निष्पन्न यज्ञ के क्रियाकलापों में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किस विधि से किया जाय, इस विषय पर वैदिक-मन्त्रों का भाष्य माने गये ब्राह्मण-ग्रन्थों में विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। संहिताओं के विषय को ठीक से समझने के लिये तीन विभाग किये गये हैं, जिनका अपना विशेष महत्त्व है।

विधि—

यज्ञ करने की विधि तथा यज्ञवेदि-निर्माण के प्रकार के साथ यज्ञ-सम्बन्धी अन्य विषयों का वर्णन इसके अन्तर्गत किया जाता है।

अर्थवाद—

इसमें यज्ञ की महत्ता तथा इससे उत्पन्न होने वाले लाभों को उदाहरणों द्वारा समझाया जाता है। उदाहरणों में आए अनेक प्राचीन राजा-महाराजाओं के वर्णनों से तत्कालीन धार्मिक गतिविधियों का परिज्ञान हो जाता है। उपनिषद्, यज्ञ-सम्बन्धी कर्मकाण्ड तथा दार्शनिक संकेतों का वर्णन इसमें किया गया है।

यज्ञ के प्रकार—

श्रौत और स्मार्त के रूप में यज्ञ के दो प्रकार जाने जाते हैं। श्रुतियों द्वारा सम्पादित होने वाले यज्ञ "श्रौत यज्ञ" एवं स्मृतियों की विधि से सम्पन्न होने वाले

यज्ञो को "स्मार्त यज्ञ" कहा गया है। श्रौत-यज्ञ को (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म) श्रेष्ठ माना गया है। श्रौत-यज्ञो के विभिन्न नाम इस प्रकार है—

(१) स्मार्ताग्नि, (२) श्रौताधान, (३) दशपूर्णमास, (४) चातुर्मास्य, (५) निरूढ-पशुबन्ध, (६) आग्रायणेष्टि, (७) सौत्रामणी, (८) सोमयाग, (९) द्वादशाह-यज्ञ, (१०) गवामयन-सत्र, (११) वाजपेय यज्ञ, (१२) राजसूय-यज्ञ, (१३) अग्निचयन, (१४) अश्वमेध यज्ञ, (१५) पुरुषमेध यज्ञ, (१६) सर्वमेध-यज्ञ, (१७) पितृमेध-यज्ञ, (१८) एकाह यज्ञ (१९) अहीन-यज्ञ, (२०) सत्र।

नारी और यज्ञ—

वैदिक सहिता काल मे नारी अपने नर के साथ या स्वतन्त्ररूप मे भी यज्ञ करने की पूर्ण अधिकारिणी थी या नही ? इस शका एव सन्देह का निराकरण करना परमावश्यक है। इस सम्बन्ध मे अथर्वसहिता मे कहा गया है—"मैं शुद्ध, पवित्र यज्ञ की अधिकारिणी इन स्त्रियो को विद्वानो के हाथो मे पृथक् पृथक रूप मे प्रसन्नता से अर्पित करता हूँ"[1]।

उपर्युक्त मन्त्र मे पठित योषित् (नारी) शब्द के लिये आये "शुद्धा", "पूता" तथा "यज्ञिया:" विशेषण इस बात के स्पष्ट प्रमाण है कि उस समय नारी-समाज यज्ञ मे भाग लेने एव अपनी योग्यतानुसार यज्ञ करने तथा दूसरो से यज्ञ कराने का पूर्ण अधिकार रखता था। यदि ऐसा न होता तो "यज्ञिया:" विशेषण के स्थान पर किसी अन्य विशेषण का प्रयोग योषित् शब्द के साथ किया जाता। यज्ञाधिकार से स्पष्ट है कि उस समय का प्रबुद्ध नारी समाज वैदिक सहिताओ के अध्ययन-अध्यापन, मनन, चिन्तन मे भी पूर्ण स्वतन्त्र था। यदि ऐसा न होता, तो सहिता-वाङ्मय के उपजीव्य साहित्य मे ब्रह्मवादिनी, शास्त्रार्थ कुशला नारियो के नामो का उल्लेख न मिलता।

सहिता युग मे नारियो को याज्ञिक-अधिकार प्राप्त थे और उनकी सम्मान-जनक स्थिति थी। सहिता-वाङ्मय के अनेक स्थलो मे पति पत्नी द्वारा सम्पन्न सयुक्त अनुष्ठानो का वर्णन है। ऋक्सहिता पचम-मण्डल मे[2] तथा प्रथम-मण्डल के २७वें सूक्त मे[3] सयुक्त रूप मे यज्ञ करने का उल्लेख है। अथर्वसहिता (११।१।१७-२७)

१ शुद्धा पूता योषिता यज्ञिया इमा ब्रह्मणा हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे॥ (अथर्व० ६।१२२।५)

२ वृहद्वयो वृहते तुभ्यमाने धियाजुरो मिथुनास सचन्त। (ऋ० ५।४३।१५)

३. सजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्य नमस्यन्।
रिरिक्वासस्तन्व कृण्वत स्वा सखा सख्युर्निमिषि रक्षमाणा॥ (ऋ० १।७२।५)

मे "योषितो यज्ञिया इमा." द्वारा स्पष्ट रूप मे नारी के यज्ञ-अधिकार की पुष्टि की गयी है। ऋक्संहिता के पाँचवे मण्डल के २८वें सूक्त मे विश्ववारा नामक नारी का वर्णन है, जो प्रतिदिन प्रात स्वय यज्ञ करती हैं[1]। ऋक्संहिता के आठवे मण्डल के ९१वे सूक्त में एक कन्या को यज्ञ मे देवराज इन्द्र को सोमरस प्रदान करते हुए दर्शाया गया है[2]।

यजुर्वेद-संहिता मे गृहस्थ पति-पत्नी के दृष्टान्त से यज्ञपति राजा पृथिवी एव राज्य-लक्ष्मी का सुन्दर वर्णन किया गया है[3]। इस दृष्टान्त मे स्पष्ट किया गया है कि गृहस्थ धर्म स्वीकार कर लेने पर नर-नारी दोनो का भोग्य सम्पत्ति मे समान अधिकार है। पुरुष का यज्ञ के रूप मे वर्णन किया गया है और स्त्री के लिये प्रार्थना की गयी है कि अग्निरूपी तुम्हारा पति तुम्हारे किसी भी अधिकार का हनन न करे।

"नमो व पितरो" (यजु० २।३२) म पितरो शब्द माता-पिता दोनो के लिये आया है, जिसमे ब्रह्मानन्द एव ज्ञानरस हेतु उनसे प्रार्थना की गयी है। यह ज्ञानरस और कुछ नही यज्ञ-पुरुष ही है, जिसका प्रादुर्भाव नर-नारी के सयोग से ही सम्भव है।

आगे चलकर ऐतरेय-ब्राह्मण (१।२।५) म पति को पत्नी के अभाव मे अपूर्ण कहा गया है। शतपथ-ब्राह्मण (५।१।८।१०) मे कहा गया है कि पत्नी के बिना दी गयी पति की आहुति देवता स्वीकार नही करते। इन विवरणो मे स्पष्ट है कि वैदिक संहिता-काल मे यज्ञ की पूर्णता के लिये पत्नी की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती थी।

ऋक्संहिता के दशम मण्डल के ११४वें सूक्त मे नारी को 'चतुष्कपर्दी" कह-कर पुकारा गया है[4], जिसका स्पष्ट अर्थ है—यज्ञीय वेदी के निर्माण मे कुशल नारी। इससे ज्ञात होता है कि उस समय नारी यज्ञ के सभी अवयवो से सुपरिचित थी और यज्ञ करने एव कराने का अधिकार उसे जन्म से प्राप्त था। "चतुष्कपर्दी" शब्द का अर्थ कुछ विद्वानो की दृष्टि मे धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी पुरुषार्थ की साधिका नारी है। यदि

---

१ समिद्धो अग्निर्दिवि शोचिरश्रेत्प्रत्यङ्ङुषसमुर्विया वि भाति।
एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईलाना हविषा घृताची ॥ (ऋ० ५।२८।१)

२ कन्या वारवायती सोममपि स्रुताविदत्।
अस्तं भरन्त्यब्रवीदिन्द्राय सुनवै त्वा शक्राय सुनवै त्वा ॥ (ऋ० ८।९१।१)

३. जनयत्यै त्वा स यौमिदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरुप्रथा उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपति प्रथताम् अग्निष्टे त्वचं मा हिंसीद् देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठे विनाके।
(यजु० १।२२)

४ चतुष्कपर्दा युवति सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्मा सुपर्णा वृषणा नि षेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ॥ (ऋ० १०।११४।३)

दूसरे अर्थ को ही सही माना जाये, तो भी इसमे नारी के एक ऐसे वैदुष्य की झलक मिलती है, जिसमे जीवन के प्रमुख तत्त्व (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) तैरते से दृष्टिगोचर होते हैं।

यज्ञ की घृतधाराओ की तुलना श्रेष्ठ-नारियो से करते हुए यजुर्वेद-संहिता मे कहा गया है[1] कि शुभ आचरण वाली नारियो की तरह ये घृतधाराएँ अग्निदेव-रूपी पति की ओर अग्रसर होती है। यही पर राजा-प्रजा के पालनरूपी कार्य को यज्ञ की सज्ञा देते हुए सेनाओ एव राज्य-व्यवस्थाओ की समता उन घृतधाराओ से की गयी है, जो सुकन्याओ की भाँति अपने पति (अग्निदेव) से मिलने के लिये आतुर हैं[2]।

पञ्च-महायज्ञ—

वैदिक-संहिताकालीन समाज (नर-नारी) अपने श्रेय और प्रेय के लिये पच महायज्ञो का सम्पादन करना अपना धर्म मानता था।

(१) ब्रह्म-यज्ञ—

स्वराज्य (आत्मराज्य) की प्राप्ति हेतु ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्योपासन) अनिवार्य माना जाता था[3]।

(२) देव-यज्ञ—

अग्निहोत्र द्वारा देवो को प्रसन्न करने का स्पष्ट उल्लेख है[4]।

(३) पितृ-यज्ञ—

उत्तमोत्तम पदार्थो से जीवनकाल मे तथा मरणोपरान्त पिण्डदान आदि वस्तुवो से अपने पितरो को तृप्त करना सन्तति का धर्म माना जाता था[5]।

(४) बलि-वैश्वदेव-यज्ञ—

सर्वभूतहित कामना से प्रेरित होकर गौ, श्वान, कौए आदि जीवो को दिये जाने वाले भोज्य-पदार्थ को भी यज्ञ माना जाता था[6]।

(५) अतिथि-यज्ञ—

परम विद्वान्, धार्मिक, सदाचारी, जनहितकारी, वेदानुरागी, ज्ञानी अतिथि का सत्कार करना आवश्यक माना जाता था, जिससे वह निश्चिन्त होकर विद्या-विस्तार आदि कार्यो को कर सके[7]।

---

१ अभिप्रवन्त समनेव योषा कल्याण्य. स्मयमानासो अग्निम्।
घृतस्य धारा समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदा ॥ (यजु० १७।९६)

२ कन्या इव वहतु मेतवा उ अञ्ज्यञ्जाना अभि चाकशीमि।
यत्र सोम सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत्पवन्ते ॥ (यजु० १७।९७)

३ अथर्व० १०।७।३१। ४ अथर्व० १९।५५।३। ५ यजु० २।३४।

६ अथर्व० १९।५५।७। ७, अथर्व० ११।११।

उपर्युक्त पञ्च-महायज्ञो को पूर्ण करने की भांति नारी नर की तरह ही संहिताकाल मे यज्ञादि करने मे पूर्ण स्वतन्त्र थी। यह हमारे देश, जाति का दुर्भाग्य रहा है कि उत्तरोत्तर नारी के अधिकारो मे ह्रास आता गया और आज पूरा समाज इस दीन-हीनावस्था मे पहुँच गया है। पहचान करने पर भी विश्वास नही होता कि क्या यह देश उन मन्त्र-द्रष्टियो, यज्ञ-कर्त्रियो का जन्मस्थान है, जहा कभी तेजस्विता की साक्षात्मूर्ति महर्षि अत्रि की पुत्री "अपाला", वैदिक-मन्त्रो का घोष करने वाली "घोषा", कर्मकाण्ड प्रवर्तिका "जुहू", दानदात्री "दक्षिणा", बुद्धि-उपासिका "रोमशा", ब्रह्मवादिनी 'लोपामुद्रा", अद्वैतवादिनी "वागाम्भृणी" आदि ऋषिकाएँ उत्पन्न हुई थी।

संहिताओ में यज्ञोल्लेख

ऋक्संहिता—

यज्ञीय पदार्थ देवताओ को मिलता है (१।१।४), "यज्ञ" प्रभुप्राप्ति का साधन है (१।९६।३), "यज्ञ" प्राणिमात्र का कल्याण करता है एव देश जाति तथा समाज का सरक्षक है (२।३८।१), यज्ञाग्नि हवि देने वाले को यशस्वी, विजयी, वाग्मी बनाती है और सर्वगुणसम्पन्न पुत्र को देती है (५।२५।५), यज्ञ करना मुख्य धर्म है (१०।९०।१६), हवन करने से अभिलषित कामनाओ की उपलब्धि होती है (१०।१०१।२)। सदाचार-हीन व्यक्ति को यज्ञ मे बैठने का अधिकार नही है ७।२१।५)।

शुक्ल-यजुर्वेद—

हिंसा-रहित यज्ञ श्रेष्ठ है (२।८), यज्ञ न करने वाले पर दुर्भाग्य आक्रमण करता है (१२।६२), यज्ञ करने से ऐश्वर्य-प्राप्ति होती है (२५।८४), प्रकृति रात-दिन यज्ञ करती है (२१।४१), देवता सदा यज्ञ करते है, मनुष्यो (नर नारी) को भी करना चाहिए (२१।४७), सम्पूर्ण पृथ्वी यज्ञ की वेदी है (२३।६२), यज्ञो मे ऋत्विजो (अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता, अग्नीध्र) का पूर्ण स्वराज्य होता है (३३।८३), हव्यप्रदान से सक्रामक रोग नष्ट होते हैं (३३।८७)।

साम संहिता—

यज्ञ द्वारा ही इन्द्र समृद्धशाली होते है (पूर्वा० २।१७), यज्ञ से विविध ऐश्वर्य मिलते है (पूर्वा० २।८।५), यज्ञ की स्तुति से मनुष्य पवित्र होते है (उत्तरा० ७।१।१), देवराज इन्द्र यज्ञो मे आते हैं (उत्तरा० ३।३।२३)।

अथर्व संहिता—

यज्ञ समस्त ब्रह्माण्ड को बांधने वाला नाभिस्थान है (९।१०।१४), यज्ञहीन पुरुष की श्री नष्ट होती है (१२।२।३७), यज्ञ हमारा कल्याणकारक है (१९।६०।२), देवगण पुरुषार्थी यज्ञकर्ता से प्रेम करते हैं, आलसी से कभी नही (२०।१८।३)।

सर्वसुलभ-अधिकार—

चारो संहिताओं मे आये यज्ञ के उपर्युक्त महत्त्व से स्पष्ट है कि उस समय यज्ञ का प्रचलन घर-घर मे था और जन-जन मे इसे सम्पादित करने की उत्कट अभिलाषा रहती थी। ऋक्संहिता दशम मण्डल के ४५वें सूक्त मे यज्ञाधिकार की अनुमति सभी को है, इसका सकेत "पञ्चजना" शब्द करता है[1], जिसका अर्थ निरुक्तकार ने "चत्वारो वर्णा निषाद पञ्चमा" अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एव निषाद (अतिशूद्र) किया है। इस प्रकार वेद पञ्चजनकर्तृक अग्नियाग की आज्ञा देता है। इस स्थिति मे नारी को यज्ञाधिकार से वचित रखने का प्रश्न ही नही उठता, जहाँ यज्ञ करने का सभी को अधिकार प्राप्त रहा हो।

मानव जीवन में ज्ञान, कर्म, उपासना तीनो का महत्त्व है और वैदिक-संहिताओं के मन्त्रो का अर्थ आधिभौतिक, आधिदैविक (आधियज्ञ या याज्ञिक) तथा आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया है। यह सही है कि वैदिक-कर्मकाण्ड का विस्तृत वर्णन यजुर्वेद संहिता मे ही है। अत यजु संहिता से सम्बन्ध रखने वाले ऋत्विज् "अध्वर्यु" को निरुक्तकार ने यज्ञ का नेता मानते हुए कहा है—"यज्ञस्य मात्रा विमिमीत एक। अध्वर्यु.। अध्वर्युरध्वर्यु। अध्वर युनक्ति। अध्वरस्य नेता" (निरुक्त १।८)। अत यज्ञ के सम्बन्ध मे विशेष जानने हेतु यजु संहिता का मनन, चिन्तन आवश्यक है, जिसमे नर-नारी दोनो को सम्बोधित करते हुए यज्ञरूपी संगति को सदा बनाये रखने को कहा गया है[2]।

संन्यास और नारी—

संहिता-काल मे नारी को स्वेच्छया संन्यास आश्रम मे प्रवेश करने का भी पूर्ण अधिकार था। ऋक् संहिता दशम मण्डल मे "अरण्यानी" शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है—संन्यासाश्रम को प्राप्त या उसकी जिज्ञासा करने वाली सुशिक्षिता नारी[3]।

प्रशासन—

संहिता-कालीन समाज प्रशासन की दृष्टि से पाँच भागो मे विभाजित था—(१) कुल (गृह), (२) ग्राम, (३) विश् (जिला आदि), (४) जन (जनपद), (५) राष्ट्र

१ विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमान ।
वीळुं चिदद्रिमभिनत्परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥ (ऋ० १०।४५।६)

२ भवत न समनसौ सचेतसावरेपसौ ।
मा यज्ञ हिंसिष्ट मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य न ॥ (यजु० १२।६०)

३ वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिक ।
आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ॥ (ऋ० १०।१४६।२)

(प्रदेश)। इन इकाइयों के स्वामियों को क्रमश गृहपति, ग्रामणी, विशापति, जनपति एव राजा कहा जाता था।

वैदिक-सहिता-काल म शासक और शासित मे सद्भाव था। 'विशिराजा प्रतिष्ठित" (यजु० २०।९) के अनुसार शासक की स्थिति प्रजा पर निर्भर थी, जिसका सुफल था कि राजा कभी भी प्रजा का उत्पीडन नही करता था। प्रजा को अपने अङ्गो की तरह मानने वाले राजा की स्पष्ट घोषणा होती थी— 'विशो मे अङ्गानि सर्वत "—अर्थात् प्रजा मेरे अङ्गो के समान है। दूसरी ओर प्रजा भी "वय राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता" (यजु सहिता) के अनुसार अपने राष्ट्र तथा राजा की रक्षा हेतु सदा उद्यत रहती थी।

स्वराज्य-भावना—

अथर्वसहिता मे कहा गया है कि "सगठित रूप मे पुरुषार्थ करने वाला जन-समुदाय ही स्वराज्य-प्राप्ति का अधिकारी है। स्वराज्य प्राप्ति के लिये इससे बढकर कोई अन्य उपाय नही है[1]।

ऋक्सहिता के प्रथम मण्डल का ८०वा सूक्त 'स्वराज्य सूक्त' के ही नाम से प्रसिद्ध है। इस सूक्त मे शत्रु का दमन कर स्वराज्य का भक्त बनने का आदेश सभी को दिया गया है[2]। स्वराज्य नामक इस सूक्त मे १६ मन्त्र है, जिनमे अनेक प्रकार की शक्तियों का सग्रह करत हुए विविध प्रकार की बाधाओ को दूर करते हुए राष्ट्रभक्त बने रहने का आदश वर्णित है।

यजु सहिता (३५।९) मे देशभक्त के लिय दशो दिशाएँ, जल, नदिया, अन्तरिक्ष सुखकारी हो, ऐसी प्राथना की गयी है। ऋक्सहिता (१।२६।१५) म एक ओर जहा राक्षसों, धूर्तो, कृपणो, पीडा पहुँचाने वालो एव हिंसको से बचाने क लिये देवताओ से कहा गया है, वही दूसरी ओर ऋक्सहिता प्रथम मण्डल क ९०वें सूक्त मे मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति और विष्णु से रक्षा करने की प्राथना की गयी है[3]।

ऋकसहिता का सगठन सूक्त (१०।१९१), अथर्वसहिता का सगठनात्मक सूक्त (१।१५) तथा अथर्वसहिता का एकता-सूक्त (३।३०) नि सन्देह तत्कालीन

१ यदज प्रथम सबभूव स ह तत स्वराज्यमियाय।
यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम ॥ (अथर्व० १०।७।३१)

२ इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वधनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजमा पृथिव्या नि शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ (ऋ० १।८०।१)

३ श नो मित्र श वरुण श नो भवत्वर्यमा।
श न इन्द्रो बृहस्पति श नो विष्णुरुरुक्रम ॥ (ऋ० १।९०।९)

सुशासन की सूचना देता है, जिसमे लोग एक कुटुम्ब की भाँति रहकर स्वराज्य के सवर्द्धन और परिवर्द्धन मे लगे रहते थे।

नारी और प्रशासन—

स्वराज्य को स्थायित्व प्रदान करने हेतु राजा (शासक) की सहायता हेतु दो जन-संगठनो का निर्देश ऋक्संहिता (समिति–१।९५।८, सभा–८।४।९) मे मिलता है, जिसमे प्रथम का नाम समिति तथा दूसरे का नाम "सभा" कहा गया है। "समिति" मे सम्मिलित होना राजा के लिये अनिवार्य था[1]। समिति मे सामान्य जन भाग लेते थे और राजा का निर्वाचन करते थे, किन्तु 'सभा" मे केवल ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध ही भाग लेते थे।

विधान-निर्मात्री—

अथर्वसंहिता मे "सभा" और 'समिति" को प्रजापति की पुत्रियो की सज्ञा दी गयी है[2]। अथर्वसंहिता (७।१२।२) मे "सभा" को "नरिष्टा" कहकर भी पुकारा गया है, जिसका निर्णय ही विवादास्पद विषयो मे सायणाचार्य के अनुसार अन्तिम माना जाता था[3]। स्त्रीलिंग वाची "समिति" और "सभा" शब्दो का चाहे जो भी रूपक हो, इतना तो स्पष्ट है कि विधवा को आद्याशक्ति की तरह राष्ट्रीय प्राशासनिक कार्यो मे भी नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान संहिता-युग मे था।

सामाजिक जीवन मे प्रवेश करते समय वधू के प्रति ऋक्संहिता दशम-मण्डल के ८५वे सूक्त मे प्रयुक्त "साम्राज्ञी"शब्द सार्थक है। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई "गृह" माना गया है, जिसे समाजशास्त्र के विद्वान् नागरिक की प्रथम पाठशाला कहकर पुकारते हैं। यह सही है, जो अपने घर की छोटी-मोटी समस्याओ के समाधान मे सफल हो जाता है, उसे राष्ट्रीय एव अन्तराष्ट्रीय समस्याओ को सुलझाने मे भी सफलता मिलने लगती है। सम्भवत प्रजापति की समिति और सभा नामक पुत्रियो ने अपने समय मे गृह और विदेश-विभाग का इतना सुन्दर सचालन किया हो, जिसके फलस्वरूप आने वाले युग-पुरुषो ने राजनीतिक (प्राशासनिक) इन दो सगठनो का नाम ही इन नारियो के नाम पर निर्धारित कर दिया हो।

न्यायकर्त्री के रूप मे—

यजु संहिता के दशम अध्याय के प्रथम चार मन्त्रो मे राज्याभिषेक, पाँचवे मन्त्र मे सिंहासनारोहण तथा राजा की तेजस्विता का वर्णन है। छब्बीसवें और सत्ताइसवें

१ राजा न सत्य' समितीरियान.। (ऋ० ९।९२।६)

२ सभा च मा समितिश्चावता प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। (अथर्व० ७।१२।२)

३. नरिष्टा अहिंसिता परैरनभिभाव्या। बहव सभूय यद्येक वाक्य वदेयु। तद्धि न परैरतिलङ्घ्यम्। अत अनभिलङ्घ्यवाक्यत्वाद् नरिष्टेति नाम।, (सायण-भाष्य अथर्व० ७।१२।२)

मन्त्रो की देवता "राजपत्नी" (आसन्दी) है। इन मन्त्रो के मनन से प्रतीत होता है कि उस समय राजाओ की पत्नियाँ दूसरों को न्याय एव राजनीति की शिक्षा देती थी और चक्रवर्ती राजा की तरह ही स्त्री-समाज की समस्याओ पर अपना निर्णय प्रदान करती थी[1]।

ऋक्सहिता मे भी नारी द्वारा किये गये न्याय से राज-प्रबन्ध की सुस्थिरता का प्रतिपादन किया गया है[2]।

यजु सहिता के द्वादश अध्याय के ६५वे मन्त्र मे सत्याचरण वाली नारी निर्ऋति (दमनकारिणी) से प्रार्थना की गयी है कि वह न्यायाधीश बनकर उचित निर्णय द्वारा दण्डनीय व्यक्ति को दण्ड देकर निरपराधियो को बन्धन से मुक्त कराये। बन्धन-मुक्त कराने वाली ऐसी सुव्यवस्थाशालिनी नारी को अभिनन्दनीय एव वन्दनीय कहा गया है। यजु संहिता मे नारी को "घोरा" कहकर उसमे न्याय द्वारा दुष्टदलन के सामर्थ्य की पुष्टि की गयी है[3]।

योद्धा के रूप में—

वैदिक सहिताओ के वर्ण्य-विषयो से स्पष्ट है कि उस समय नारी नर की तरह ही विविध विद्याओ को विधाओ से परिचित थी। एक ओर नारी ब्रह्मवादिनी बनकर आध्यात्मिक चेतना से देश-जाति का हितसाधन करती थी, तो दूसरी ओर सद्योवाह के रूप मे गृहस्थी-सचालन मे अपने पति का पूरा सहयोग। पर्दाप्रथा के अभाव के कारण युद्ध को स्थिति मे नारी अपने पति के साथ समरागण मे जाती थी, आवश्यकता पड़ने पर रथ-सचालन से लेकर युद्ध-सचालन तक सभी कार्य करती थी।

ऋक्सहिता के अनुसार दैत्यराज "नमुचि" ने "बभ्रु" ऋषि की गोओ का अपहरण कर लिया। ऋषि के आह्वान पर देवराज इन्द्र जब "नमुचि" से युद्ध करने के लिए आये, तो उन्होने युद्धस्थल पर एक बहुत बडी सेना को देखा, जिसमे

---

१ स्योना सि सुषदा सि क्षत्रस्य योनिरसि।
स्योनामासीद् सुषदामासीद् क्षत्रस्य योनिमासीद् ॥
निषसाद धृतव्रतो वरुण- पस्त्यास्वा साम्राज्याय सुक्रतु ॥ (यजु० १०।२६-२७)

२ अत्राह ते हरिवस्ता उ देवीरवोभिरिन्द्र स्तवन्त स्वसार.।
यत्सीमनु प्र मुचो बद्बधाना दीर्घामनु प्रसिति स्यन्दयध्यै ॥ (ऋ० ४।२२।७)

३ यस्यास्ते घोरासन जुहोम्येषा बन्धानामव सर्जनाय।
जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋति त्वाह परिवेदविश्वतः ॥ (यजु० १२।६४)

अधिकांश नारियाँ थी। युद्धेच्छु दो नारियो को इन्द्र ने बन्दी बना लिया और स्वयं दैत्य से युद्ध करने को चल दिये[1]।

ऋक्संहिता के दशम-मण्डल के १०२वें सूक्त मे स्पष्ट संकेत है कि महर्षि मुद्गल के गो धन का अपहरण होने पर उनकी पत्नी मुद्गलानी ने रथारोहण किया[2]। रथारोहण के अनन्तर युद्ध-घोषणा के साथ ही-साथ सम्पूर्ण सेना मुद्गलानी के पीछे चल पड़ी[3]। यह मुद्गलानी के साहस का ही फल था कि अन्त मे ऋषि का खोया हुआ गो धन वापस मिल गया।

ऋक्संहिता के प्रथम-मण्डल का ३२वाँ सूक्त इसका साक्षी है कि युद्ध के मैदान मे स्त्रियाँ भी जाती थी। इन्द्र के वज्र प्रहार से वृत्रासुर के शरीर को क्षत-विक्षत देखकर उसकी माता "दनु", जो अपने बेटे के साथ युद्धस्थल मे गयी थी, व्याकुल होकर वृत्रासुर के शरीर पर लेट जाती है, जिससे उसके प्राणो की रक्षा हो सके।

विश्पला नामक नारी अपने पति के साथ युद्धस्थल मे गयी थी। उसने अपने पति के रथ का संचालन किया था और युद्ध मे लड़ते समय उसकी टाग टूट गयी थी, जिसको बाद मे देव-वैद्य अश्विनी-कुमारो ने ठीक कर दिया।

दौत्य-कर्म-कर्त्री—

विधायिका, न्यायपालिका, कार्यपालिका आदि मे सहभागी होती हुई संहिता-कालीन परामर्शदात्री नारी दौत्य कर्म मे भी निपुण थी। इसकी पुष्टि इन्द्र की सन्देश-वाहिका "सरमा" के कार्य-कलापो से होती है, जब वह ऋक्संहिता के दशम-मण्डल के १०८वें सूक्त के अनुसार धन के लालची पणियो को त्रास देती हुई अपने प्रभु इन्द्र के बल और ऐश्वर्य का बड़ी ही कुशलता के साथ वर्णन करती है। सरमा-पणि-संवाद नि:सन्देह तत्कालीन नारियो की प्रखर-बुद्धि का परिचायक है।

देखा जाये तो ऋक्संहिता के दशम-मण्डल का ९५वाँ सूक्त (उर्वशी-पुरूरवा-संवाद) भी दौत्यकर्म की ओर एक संकेत है, जिसमे "उर्वशी" अपने पति राजा "पुरूरवा" को चेतावनी देती है कि यदि तुम इसी प्रकार नारी सौन्दर्य के पीछे दौड़ते रहोगे, तो तुम्हारा राज-पाट शीघ्र ही चौपट हो जायगा। इसी सन्दर्भ मे "उर्वशी" ने "स्त्रैणानि सख्यानि न वै सन्ति" का प्रयोग किया है।

---

१. स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेना।
अन्तर्ह्यख्यदुभे अस्य धेने अथोप प्रैद्युधये दस्युमिन्द्र॥ (ऋ० ५।३०।९)

२. रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे (ऋ० १०।१०२।२)।

३. ककर्दवे वृषभो युक्त आसीदवावचीत्सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥ (ऋ० १०।१०२।६)

"एता सालावृकाणा हृदयानि" अर्थात् इन गुप्तचरी करने वाली नारियो का हृदय भेडिये के हृदय के समान छली होता है। भेडिये की उपमा से अच्छे शासक को यह चेतावनी दी गयी है कि वह सतकता स अपने राज्य का सचालन करे। नारी के नामोल्लेखन का तात्पर्य यहाँ स्पष्ट है कि उस समय दौत्यकर्म मे नारी को विशेष रूप से लगाया जाता था।

अन्य-अधिकार

ज्योतिर्विद्—

देश-जाति के अभ्युत्थान हेतु किये जाने वाले कार्यो मे सु अवसर हेतु लग्नादि का ज्ञान आवश्यक होता है। सम्भवत इसीलिये सद्गृहस्थ नारी के लिये सहिताकाल मे ज्योतिष शास्त्र की अनिवार्यता की ओर सकेत करते हुए यजु सहिता मे उसका महत्त्व कहा गया है[1]। इससे स्पष्ट है कि उस समय प्राशासनिक कार्यो मे कालविद् नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान था।

भूगर्भविद्—

वेद विद्या की ज्ञाता नारी की उस समय भूगर्भ शास्त्र मे भी रुचि थी और उससे आशा की जाती थी कि वह अपने विशष ज्ञान से खनिज पदार्थो का पता लगाकर राष्ट्र की समद्धि म योगदान करे। यही कारण है कि ऋकसहिता (६।६१।२ तथा ७।३१।२) के सूक्तो मे नारी को भूगभ-शास्त्र की वेत्ता होने की सलाह दी गयी है[2]।

प्रशिक्षिका—

यजु सहिता के उन्तीसवें अध्याय के ५०वे मन्त्र म नारी के लिये 'अश्वाजनी" शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है—घोडो को प्रशिक्षण दने वाली महिला। आर्यजन अपने विरोधियो से लडत समय अश्वा का प्रयोग विशेषरूप स करत थे, इसकी पुष्टि भी अश्वाजनी ' शब्द से होती है।

निष्कर्ष—

उपर्युक्त विवरणो से स्पष्ट हे कि सहिताकालीन नारी यज्ञ, प्रशासन, न्याय, युद्ध, दौत्य आदि सभी कार्यो को सुसम्पादित करने मे सक्षम अधिकारिणी थी। इसके

१ यमाय यमसूमथवभ्यो वतोका सवत्सराय पर्यायिणी परिवत्सरायाविजातामिदावत्सराया- तीत्वरीमिद्वत्सरायातिष्कद्वरी वत्सराविजजरा सवत्सराय पलिक्नीभृमुभ्यो जिनसन्ध साध्येभ्यश्चर्मम्नम् ॥ (यजु० ३०।१५)

२ (क) सरस्वति देवनिदो नि बहय प्रजा विश्वस्य वृसयस्य मायिन ।
उत क्षितिभ्योऽवनीरविन्दो विषमेभ्या अस्रवो वाजिनीवति ॥
(ख) सद्देदुक्थ सुदानव उत द्युक्ष यथा नर । चकृमा सत्यराधसे ॥

अतिरिक्त ज्ञान के विविध स्रोतों मे भी उसकी पैठ थी, जिसके कारण वह राष्ट्र के श्रेय और प्रेय मे अपने नर की सहयोगिनी बनकर उसके कधे से कधा मिलाकर भाग लेती थी। यही कारण है कि संहिताकालीन पुरुष नारी को "कुलपा" (अथर्व० १।१४।३) कुल का पालन करने वाली, "ध्रुवा" (यजु० १२।५३) दृढसकल्प वाली, "पुरन्ध्रि" (यजु० १४।२) समाज की नेत्री, "प्रतरणी" (अथर्व० १४।२।२६) जीवन को पतवार, "शिवा" (अथर्व० १९।४०।२) कल्याण कारिणी, "सुमङ्गली" (अथर्व० १४।२।२६) मङ्गलकारिणी आदि विशेषणो से सम्बोधित कर उसकी श्रेष्ठता, ज्येष्ठता को स्वीकार करता था।

नारी के प्रति शुभकामनाएँ—

भारत-भूमि के नौ खण्डो मे एक खण्ड "कुमारिका-खण्ड" भी है, जिसमे मोक्षदायिनी मानी जाने वाली सप्त-नगरियो मे "काञ्ची" नगरी स्थित है तथा सप्त-महानदियो मे गिनी जाने वाली "कावेरी" नदी प्रवाहित होती है। इस स्थान की अधिष्ठात्री भगवती काम-कोटि हैं, जिनकी प्रशस्ति मे किसी भक्त-कवि ने "पुण्या कापि पुरन्ध्री" तथा "नारिकुलैकशिखामणी" आदि भावो से अपनी श्रद्धा सम्पूर्ण नारी-समाज के प्रति व्यक्त की है।

भारतीय मान्यता है कि सृष्टि के आरम्भ मे जगन्नियन्ता ने अपने को दो भागो मे विभक्त कर नर-नारी के स्वरूप का सृजन किया। प्रभु का वाम-भाग नारी एव दक्षिण-भाग नर माना गया। एक भाग श्रद्धा एव दूसरा भाग विश्वास है। इनमें से किस भाग को छोटा और किस भाग को बड़ा कहा जाय, यह एक जटिल प्रश्न है, जिसका समुचित उत्तर देना यदि असम्भव नही, तो कठिन अवश्य है

ऋक्संहिता के दशम-मण्डल का ८५वाँ सूक्त "सोमसूर्या सूक्त" के नाम से प्रसिद्ध है। इसमे गृहस्थोचित शिक्षा और वैवाहिक कर्तव्यो का विशद वर्णन है। इस सूक्त मे विवाह के पश्चात् पति-पत्नी ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उनका मन सदा एकता मे बँधा रहे[1]।

साम्राज्ञी बनो—

अथर्वसंहिता मे नव-वधू को गृह पर शासन करने का आशीर्वाद दिया गया है, जिससे तत्कालीन नारी के प्रति समाज की उदात्त भावनाओ का पता चलता है[2]।

---

१. समञ्जन्तु विश्वे देवा समापो हृदयानि नौ।
स मातरिश्वा स धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥ (ऋ० १०।८५।४७)।

२ यथा सिन्धुर्नदीना साम्राज्य सुषुवे वृषा।
एवा त्व सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्त परेत्य च॥ (अथर्व० १४।१।४३)

ऋक्संहिता दशम-मण्डल के ८५वें सूक्त मे वर अपनी नवप्रणीता से अविरोध पूर्वक अधिकारयुक्त प्रीति से अपने माता पिता, भाई बहन एव घर के अन्य परिजनो पर शासन करने की बात करता है[1]। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय नारी को किस रूप मे देखा जाता था और कितना बडा विश्वास था नारी पर। यहाँ एक ऐसे समाज की कल्पना की गयी है, जहाँ नारी का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण था और वह घर की महारानी मानी जाती थी। फलत उसी का प्रभाव है कि आज भी समाज मे लोग घर की वधू को "बहूरानी" कहकर सम्बोधित करते हैं। इस सम्मानजनक उपाधि की रक्षा हेतु "गृहिणी" को आचार संहिता का पालन करना पडता था और उसकी दृष्टि मे घर का प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार आदर का भाजन था। इसकी पुष्टि काठक संहिता (३१।१) मे, ऋक्संहिता (३।५३।४) मे "जायेदस्त मघवन्सेदु- योनि" अर्थात् "पत्नी ही घर है और विश्राम-स्थल है" कहकर, की गयी है।

सम् राज (सम्राट्) शब्द का प्रयोग ऋक्संहिता (३।५५।७, ३।५६।५, ४।२१।१, ६।२७।८, ९।१९।३२) मे तथा वाजसनेयि-संहिता (५।३२, १३।३५, २०।५) मे उपलब्ध है। सम्राट् की उपाधि वाजपेय-यज्ञ सम्पन्न करने वाले भूपालो को ही मिलती थी। राजाधिराज के अर्थ मे सम्राट् शब्द का प्रयोग संहिताओ मे प्राय अनुपलब्ध है। सम् + राज्ञी (सम्राज्ञी) शब्द भी राजनैतिक परिस्थिति के कारण उस समय राजा की महारानी के अर्थ मे नही, अपितु सद्गृहस्थ की पत्नी के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, जो अपने व्यवहार से सम्पूर्ण परिवार को माला के मनको की तरह सजोये रहती थी।

पुत्रवती भव—

वैदिक-संहिताओ के वर्ण्यविषय से ज्ञात होता है कि उस समय सन्तति हेतु ही नर-नारी एक दूसरे को स्नेह-बन्धन मे बाँधते थे। सन्तति का होना पितृ ऋण की मुक्ति माना जाता था। इसलिये वैवाहिक मगलमयी वेला मे आशीर्वादात्मक शुभकामनाएँ देते हुए कहा जाता था—'पूर्ण आयु (सौ वर्ष) का उपभोग करते हुए तुम दोनो (पति पत्नी) पुत्र और पौत्रो के बीच खेलते हुए आनन्दपूर्वक गार्हस्थ्य जीवन-यापन करो एव घर को आदर्शमय बनाओ"[2]।

---

१ सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥ (ऋ० १०।८५।४६)

२ इहैव स्त मा वि यौष्ट विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥ (ऋ० १०।८५।४२)

अथर्वसंहिता मे एक सद्गृहस्थ के घर की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए, इसका बडा ही मनोहारी वर्णन मिलता है—"उपजाऊ भूमि पर सुलभता से प्राप्त जल से युक्त निर्वाह योग्य एक छोटी सी शाला (घर) हो, जो जीवन की आवश्यक सामग्री से सुसज्जित रहे। शाला को घर की अधिष्ठात्री के रूप मे सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि आपके निकटवर्ती लोगो को कभी कष्ट न हो[१]।"

ऋक्संहिता मे नारी के लिये पुत्रवती होने के लिये अनेक बार प्रार्थना की गयी है। यहा मे सन्तति देने की प्रार्थना (ऋ० १०।८५।४३) एव नारी से वीर-प्रसू होने के लिये (ऋ० १०।८५।४४) कहा गया है। भगवान् इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि वे इस वधू को दश पुत्रो की माँ बनने का आशीर्वाद दे[२]।

वीर पुत्रो को जन्म देने वाली माँ "बहुसूवरी" (अथर्व० ७।४६।२) की उपाधि से अलकृत की जाती थी। सुजाता, सुनता, सुपेवा, सुपदा, सुलाभिका, सुभद्रिका आदि अनेक वैदिक-प्रयोग नारी के वैशिष्ट्य का बताने के लिये यत्र तत्र दृष्टिगोचर होते हैं, जिनसे तत्कालीन नारी के एश्वर्यपूर्ण प्रभाव का पता चलता है।

सन्तति को जन्म देने के कारण ही नारी "जनित्री" कहलाती थी[३]। पुत्रो को जन्म देने वाली माता का समाज मे बडा आदर था[४]। इसलिये समाज म पुत्रवती होने की शुभ कामना करने वालो को लोग बडी श्रद्धा स देखत थे। राजा के घर में भी उसी नारी को "महिषी" कहलाने का गौरव प्राप्त होता था,[५] जो पुत्रो को जन्म देकर समाज, जाति को सेवा करती थी।

पुत्र भी सदा माता के अनुकूल चलता था, क्योकि उसकी दृष्टि म माँ से बढकर न कोई पवित्र था और न ही कोई महान्। स्नेह और दया की प्रतिमूर्ति माँ अपनी सन्तति को अपने स्तनो से नि सृत पय का धाराआ स पुष्ट करती थी[६] और अपने गुणा का सन्तति मे सन्निवेश करती था, जिससे वह जननी कहलाने के अधिकार से कही वचित न हो जाये।

---

१ ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्या निमिता मिता।
विश्वान्न बिभ्रती शाल मा हिंसी प्रतिगृह्णत ॥ (अथर्व० ९।३।१६)

२ इमां त्वमिन्द्र मीढ्व सुपुत्रा सुभगा कृणु।
दशास्या पुत्राना धेहि पतिमेकादश कृधि ॥ (अथर्व १०।८५।४५)

३ अथर्व० ६।११०।३।

४ पुमास पुत्र जनय त पुमाननु जायताम्।
भवासि पुत्राणा माता जातानां जनयाश्च यान् ॥ (अथर्व० ३।२३।३)

५ सुवाना पुत्रा महिषी भवति। (अथर्व० २।३६।३)

६ माता पुत्र यथा सिचाम्येन भूम ऊर्णुहि। (अथर्व० १८।३।५०)

सौभाग्यवती भव—

वैदिक संहिताओ से हमारे देश मे विवाह को एक पवित्र संस्कार माना जाता है। ऋक् संहिता का (१०।८५) सूक्त इसका साक्षी है कि उस समय विवाह-प्रथा का पूर्ण विकास हो चुका था। माता-पिता आदि संरक्षक अपनी पुत्री के लिये गुणवान्, शीलवान् तथा रूपवान् वर का अन्वेषण करते थे। ब्राह्म, दैव, आर्ष विवाहो को आज भी वैदिक काल की तरह उत्तम माना जाता है, क्योकि शास्त्रीय-विधि से सम्पन्न होने वाले ये विवाह वर और कन्या दोनो की अभिवृद्धि और सौभाग्य को बढाते हैं।

वैवाहिक सम्बन्ध नर नारी दोनो म परिवर्तन लाता है, परन्तु यह परिवर्तन उस समय नारी के जीवन को अधिक प्रभावित करता था। नारी विवाह क बाद अपने पितृ गोत्र एव जाति को छोडकर अपने पति के गोत्र एव जाति मे अपने को आज भी ढालती है। यह बात दूसरी है कि संहिताकालीन नारी पूरी गृहस्थी की केन्द्र बिन्दु मानी जाती थी गृहिणी ही घर थी, उसके बिना घर की कल्पना करना ही व्यर्थ समझा जाता था। गृहस्थी का सम्पूर्ण कार्य कलाप, अग्नि म ईंधन डाल कर उसे प्रज्ज्वलित करना, गो दोहन, दही-विलोडन भोजन पकाना, वस्त्र धोना आदि सभी कार्यो की उस समय नारी संचालिका सम्पादिका एव अधीक्षिका मानी जाती थी। यही कारण है उस समय का पुरुष अपना पत्नी का पाणि ग्रहण करते समय अपने को सौभाग्यशाली मानता था[1]।

ऋक् संहिता तथा अथर्वसंहिता मे सौभाग्यवती पत्नी की प्राप्ति हेतु अग्निदेव से प्रार्थना की गयी है[2]। विवाह-मण्डप मे वर वधू के बैठने पर गुरुजनो से वधू के सौभाग्य के लिये प्रार्थना की जाती थी। संहिता कालीन वह प्राचीन प्रथा आज भी किसी न किसी रूप मे जीवित है और वर चुटकी से सिन्दूर लेकर वधू की माँग मे छोडता है और उपस्थित लोगो से प्रार्थना करता हुआ कहता है—'यह वधू मंगलरूपा है इसको माङ्गलिक भावना से देखें तथा इसके लिये सौभाग्य का आशीर्वाद दकर ही अपने-अपने घर पधार[3]।"

---

१ गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्त मया पत्या जरदष्टिर्यथास ।
भगो अयमा सविता पुरन्धिर्मह्य त्वादुर्गार्हपत्याय देवा ॥ (ऋ० १०।८५।३६)

२ न पतिभ्या जाया दा अग्ने प्रजया सह। (अथर्व० १४।२।१)

३. सुमङ्गलीरिय वधूरिमा समत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्त वि परतन ॥ (ऋ० १०।८५।३३)

कतिपय अन्य माङ्गलिक-शब्द

भवन-द्वार—

गृहस्थरूपी भवन मे प्रवेश करने के लिये नारी को द्वार की सज्ञा देते हुए ऋक्-सहिता मे कहा गया है—"उत्तम गतिवाली तुम जीवनरूपी यज्ञ-द्वार की रक्षिका हो, तुम अपने विविध कार्यो से हमारे गृहस्थाश्रमरूपी यज्ञ को सम्पुष्ट करो[1]।" ऋक्-सहिता के द्वितीय-मण्डल के एक मन्त्र मे[2] विविध विशेषता वाले नारी द्वार की चर्चा की गयी है, जो शास्त्र-चर्चा करने की क्षमता भी रखता है।

ब्रह्मचर्याश्रम के पालन के अनन्तर गुरुकुल मे समावर्तन-सस्कार सम्पन्न कर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने वाले ब्रह्मचारी को जितेन्द्रियता से वेदाभ्यास करने वाला कन्यारूपी यही द्वार "ब्रह्मचर्येण कन्या युवान विन्दते पतिम्" (अथर्व० ११।४।१५) कहकर जयमाल पहनाता था। प्रशसनीय श्रेष्ठ गुणो से अलकृत भार्या की अभिलाषा करने वाले वर को "परिप्रीता" अच्छी प्रीतिवाली, "भद्रा" कल्याण करने वाली, "सुपेशा" सुन्दर रूपवाली विदुषी प्राप्त होती थी।

भवन-द्वाररूपी "दारा" को सम्मान देते हुए वर अपनी मागलिक मनोकामना को व्यक्त करते हुए कहता था—"प्रजायै त्वा नयामसि" (अथर्व० ५।५।२५) अर्थात् सन्तानोत्पत्ति के लिये हम आपको स्वीकार करते है।

गृहस्थ-यज्ञ-शाला के द्वार की सज्ञा से बढकर नारी के लिये अन्य शुभकामना तथा सम्मान और क्या हो सकता है?

पुण्यगन्धा—

ऋक्सहिता मे नारी के लिये "पुण्यगन्धा" विशेषण स्वय मे एक ऐतिहासिक दस्तावेज लिये हुए है[3]। यह नारी ही है, जो पुरुष को आगन, वाहन तथा विस्तर मे सुखद शयन कराती है। भगवान् ने ससार को शान्ति का पाठ पढाने की कला नारी को सौप रखी है। यही पुण्यगन्धा-नारी समय-समय पर आद्याशक्ति के रूप मे अवतरित होकर जीवलोक मे प्राण-वहन करती है और उसका लालन-पालन पोषण करती है। माता, स्त्री, कन्या, बहन के रूप मे नारी का आदर्श सदा पवित्र और

---

१. देवीर्द्वारो वि श्रयध्व सुप्रायणा न ऊतये।
प्रप्र यज्ञ पृणीतन ॥ (ऋ० ५।५।५)

२ वि श्रयन्तामुर्विया हूयमाना द्वारो देवी. सुप्रायणा नमोभि ।
व्यचस्वतीर्वि प्रथन्तामजुर्या वर्ण पुनाना यशस सुवीरम् ॥ (ऋ० २।३।५)

३ प्रोष्ठेशया वह्येशया नारीर्यास्तल्पशीवरी ।
स्त्रियो या. पुण्यगन्धास्ता. सर्वा. स्वापयामसि ॥ (ऋ० ७।५५।८)

गन्धवान् रहा है। संहिताकाल से ही नारी में मातृत्व-भावना भरी हुई है। यही कारण है कि भारतवर्ष में स्त्रीत्व माता का बोधक बन गया है, क्योंकि मातृत्व में जिस महानता, स्वार्थशून्यता, कष्ट सहिष्णुता एवं क्षमाशीलता के हमें दर्शन होते हैं, उसकी अन्यत्र कल्पना भी नहीं की जा सकती।

"पुण्यगन्धा" नारी अपने आदर्शमय जीवन से घर को स्वर्ग बनाने की क्षमता रखती है, अपने सादे रहन-सहन से समाज को सुख-सुविधा का पाठ पढ़ा सकती है। सम्भवतः इन्हीं विशेषताओं के कारण ही हमारे मन्त्रद्रष्टा ऋषि-महर्षियों ने नारी को पुण्यगन्धा कहा है।

नारी के प्रति समाज की यह बहुत बड़ी उदात्त, मंगलमयी शुभकामना है, जब वह नारी के सामने पुण्यगन्धा कहकर नतमस्तक होता है।

शिवा—

यजु संहिता के प्रथम अध्याय में मातृभूमि को "सूक्ष्मा" उत्तमा, 'शिवा" कल्याणकारिणी, "स्योना" सुखदायिनी, 'सुषदा" सुखपूर्वक बसने योग्य, "ऊर्जस्वती" श्रेष्ठ रस से सम्पन्न, "पयस्वती' पुष्टिकारक दूध, घृत आदि पदार्थों से युक्त कहा गया है[1]। जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से भी महत्त्वशालिनी बताने वाले आर्यों की दृष्टि में उपर्युक्त सभी विशेषण मातृरूपा नारी के लिये भी गतार्थ होते हैं।

संहिताकालीन पुरुष नारी को गृहलक्ष्मी, ज्ञानदात्री सरस्वती एवं शिवकारिणी शिवा के रूप में देखता रहा है। ऋक्संहिता में नारी की पवित्रता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—"सर्वप्रथम चन्द्र-देवता ने नारी को शुचिता प्रदान करने हेतु अपनाया, गन्धर्व ने उसकी वाणी में माधुर्य संचार करने के उद्देश्य से उसे आश्रय दिया तथा अग्निदेव ने उसके अंग अंग में पवित्रता भरकर उसे पति के रूप में पुरुष के हाथों में अर्पित कर दिया[2]। इस तरह देवताओं से परिवर्द्धित नारी सदा शिवा रही है। दुर्भाग्यवश हमारे कुछ तथाकथित विद्वान् इस मन्त्र से तत्कालीन बहुविवाह प्रथा एवं नियोग-प्रथा की बात करते हैं, जो पूर्णतया निराधार एवं अनर्गल है, क्योंकि सोम, गन्धर्व और अग्नि में पतित्व की भावना केवल नारी के क्रमिक

---

१ सूक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च।

(यजु० १।२७)

२ सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥
सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो ददग्नये।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥ (ऋ० १०।८५।४०-४१)

समाज सिर की पगडी के समान आदर देता था[1]। उस समय उपदेश केवल नारी के लिये ही नहीं, अपितु पुरुष के लिये भी कुछ आदर्श निर्धारित थे, जिनका पालन उसके लिये अनिवार्य था। सत्कार-योग्य नारी गुणवान् पुरुष को सदा आदर देती थी, उसे देवतुल्य पूज्य मानती थी। दानशील होना पुरुष के पौरुष का सूचक था। ऋक्संहिता मे[2] दानशील व्यक्ति को ही ग्रामणी (ग्राम-प्रधान) बनाया जाता था, इसका स्पष्ट उल्लेख है। दानदाता पुरुष ही सुन्दर लक्षणों वाली नारी को प्राप्त करता था[3] और आदर्श दानशील व्यक्ति का समाज मे बडा आदर था। युद्ध मे ऐसे व्यक्ति की रक्षा स्वय देवता करते थे तथा उसको शत्रुओं पर विजय सुनिश्चित होती थी।

दो नारी रखने वाले पुरुष को हेय दृष्टि से देखा जाता था। ऐसे आदर्शहीन पुरुष की तुलना रथ के धुरी के बीच शब्द करने वाले पशु के साथ करते हुए ऋक्संहिता मे कहा गया है[4]।

गार्हस्थ्य-जीवन की पृष्ठभूमि—

वैदिक-विवाह के समय प्रयुक्त कतिपय मन्त्र दाम्पत्य-जीवन के कर्तव्यों की ओर सकेत करते है, जिनका उच्चारण करता हुआ वर विष्टर (आसन), अर्घ्य आदि ग्रहण करता है। इन मन्त्रो मे तत्कालीन सामाजिक-भावना और संस्कृति के सम्यक् दर्शन होते हैं।

पारस्कर-गृह्यसूत्र के अनुसार गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने को उत्सुक वर अर्घ्य (पूजनीय) है। समादरणीय छ. व्यक्तियो की गणना मे कहा गया है—'षडर्घ्या भवन्त्याचार्य-ऋत्विग्-वैवाह्यो-राजा-प्रिय-स्नातका" अर्थात् गुरु, यज्ञ कराने वाला, वर, राजा, प्रिय और ब्रह्मचारी स्नातक पूजनीय हैं। इसी कथन का समर्थन आगे चलकर याज्ञवल्क्य स्मृति मे भी करते हुए कहा गया है—

"प्रतिसवत्सर त्वर्घ्या. स्नातकाचार्यपार्थिवा ।
प्रियो विवाहश्च तथा यज्ञ यत् ऋत्विजं पुन." ॥

---

१. अदित्यै रास्नासीन्द्राण्या उष्णीष ।
पूषासि घर्माय दीष्व ॥ (यजु० ३८।३)

२ दक्षिणावान्प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति ।
तमेव मन्ये नृपति जनाना य प्रथमो दक्षिणामाविवाय ॥ (ऋ० १०।१०७।५)

३ भोजा जिग्यु सुरभि योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्व या सुवासा ।
भोजा जिग्युरन्त पेय सुराया भोजा जिग्युर्ये अहूता प्रयन्ति ॥ (ऋ० १०।१०७।९)

४ उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानि. ।
वनस्पति वन आस्थापयध्व नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम् ॥ (ऋ० १०।१०१।११)

विष्टर-रहस्य—

कन्या का पिता "विष्टर प्रतिगृह्यताम्" कहकर वर को सादर विष्टर (आसन) देता है। वर विष्टर को दोनो हाथो से लेकर अथर्वसंहिता मे पठित[1] "वर्ष्मोऽस्मि " इत्यादि मन्त्र पढ़कर उसको अपने पैरो के नीचे दबा देता है। इसमे विष्टर के *अभिमानी देवता का व्यवहार* प्रस्तुत है। *इस मन्त्र मे वर अपनी श्रेष्ठता एव ज्येष्ठता* सिद्ध करता हुआ गृहस्थ धर्म मे आने वाली बाधाओ पर साहस से विजय प्राप्त करने का सकेत करता है। वर का आशय स्पष्ट है कि जो भी व्यक्ति मेरे सत्कार्यो मे बाधक बनकर मेरी उन्नति मे अवरोध पैदा करेगा, मैं उसको विष्टर की तरह ही अपने नीचे दबाकर अपने गार्हस्थ्य-जीवन को समुन्नत करूँगा।

विष्टर सम्बन्धी इस मन्त्र का ऋषि अथर्वण है, छन्द अनुष्टुप तथा देवता विष्टर है। इस मन्त्र के द्वारा दाम्पत्य-जीवन मे प्रवेश करने से पूर्व दाम्पत्य-भाव के *प्राप्ति की भूमिका* का निर्देश है। *यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा के आधार पर* इस मन्त्र का अर्थ गृहीत है, जिसमे—'शान्तो दान्तो उपरतस्तितिक्षु समाहितो भूत्वा आत्मन्ये-वात्मान पश्यति सर्वमात्मान पश्यति" का भावार्थ छिपा हुआ है। इसम वशीकारात्मक "शम" के बाद प्रयुक्त "दम' के आधार पर दम्पति से बाह्य-इन्द्रियो को वश मे रखने का अर्थ विवक्षित है। इस प्रकार दम्पति से यह आशा की जाती है कि वह पितृ ऋण से मुक्ति हेतु काम्य सन्तति का उत्पादन अवश्य करे, परन्तु आर्यभावना के सर्वथा विपरीत ऐन्द्रिय सुखो के इन्द्रजाल म न फँसे।

इस मन्त्र के माध्यम से सभी प्राणियो मे आत्म भावना जागृत करने के साथ ही साथ दाम्पत्य-जीवन मे अन्तर्निहित जन कल्याण की ओर ध्यान दिलाया गया है। *हीन-इन्द्रियोन्मुख* प्रवृत्तिशील व्यक्तियो को विष्टर के *तुल्य मानकर* उन पर सूय के समान चतुर्दिक् अपनी प्रकाश दीप्ति को स्थापित करने को कहा गया है। इस मन्त्र मे जीवन निर्वाह हेतु एक पद्धति का निर्देश किया गया है, जिस पर चलकर मानव अपने दाम्पत्य जीवन को अजर-अमर बना सकता है।

पाद्य-रहस्य—

विष्टर पर बैठ जान के बाद कन्या का पिता वर को "पाद्य प्रतिगृह्यताम्" कहकर पाद्य (जल) देता है, जिस लेकर वर यजु.सहिता म पठित[2] 'विराजो दोहोऽसि"

---

१ वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूय ।
इम तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति ॥ (अथर्वसहिता)

२ विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय ।
मयि पाद्यायै विराजो दोह ॥ (यजु सहिता)

मन्त्र से अपने पैर धोता है। इस मन्त्र के ऋषि प्रजापति हैं, आप् देवता हैं और चरण-प्रक्षालन में इसका विनियोग होता है।

गार्हस्थ्य-जीवन हेतु कितनी समीचीन भद्र-भावना इस मन्त्र में परिव्याप्त है। इस मन्त्र मे जल को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—"हे जल! तुम सभी प्राणियों के प्राणधारक के रूप मे विराजमान हो। आपकी कृपा से सस्योत्पादन होता है, जो प्राणिमात्र के जीवन का मुख्य साधन है। हिरण्यगर्भरूप! मैं आपको स्वीकार करता हूँ।"

सम्पूर्ण चराचर ब्रह्माण्ड का अभिमानी पुरुष ही हिरण्यगर्भ है, उसकी पूरक-कामना इसमे सन्निहित है। गर्भरूप मे हिरण्यगर्भ की अवस्थिति वर्णित है—"आत्मा वै जायते पुत्र", यही भावना विवाह के बाद पुत्रोत्पत्ति के रूप में प्रतिफलित होती है। इन्द्रिय लोलुपता, स्वार्थपरता से विमुखता ही गृहस्थ-दम्पति की वास्तविक सम्पत्ति है, जिसे सन्तति के रूप मे मानव प्राप्त करता है[1]।

राष्ट्र-धर्म के सचार से ही राष्ट्र-समृद्धि सम्भव है। इस भावना को "पाद्य" ग्रहण के रूप में दिखाया गया है। जल ही हिरण्यगर्भ को पूर्ण करने का साधन है, विशिष्ट दीप्ति है, वास्तविक सम्पत्ति है, क्योंकि "सलिलमेवाग्र इदमासीत्, तत्र संवत्सरमुषित्वा हिरण्यगर्भ समवर्तत" में कहा गया है कि सृष्टि के आदि मे केवल जल ही जल था और यही सृष्टि-निर्माता की आदि रचना थी।

उपर्युक्त मन्त्र मे अभीष्ट का निर्देश करने के बाद उस अभीष्ट की पूर्ति हेतु "आप स्थ युष्माभि" मन्त्र में[2] प्रार्थना की गयी है कि 'हे जल! आपके द्वारा ही सभी अभीष्ट कामनाओं की उपलब्धि होती है"।

ध्यान देने योग्य यहाँ यह है कि इस प्रार्थना मे जल के अनेक पर्यायो के रहते हुए भी "आप्" शब्द का ही प्रयोग क्यो हुआ है? आशय स्पष्ट है कि "आप्" शब्द विशिष्ट अखण्डता या व्याप्ति का बोधक है। व्याप्ति अर्थात् व्यापक अर्थ का बोध कराने वाली "आप्" धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर बहुवचनान्त "आप." शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ प्रकृत-मन्त्र मे भी "आप्नवानि" क्रिया का बहुवचनान्त प्रयोग हुआ है। यहाँ इस बहुवचनान्त "आप" शब्द के ग्रहण करने का तात्पर्य है कि भारतीय संस्कृति संस्कार तथा सभ्यता मे व्यष्टि या खण्डात्मक भावना की तुलना मे समष्टि या अखण्डात्मक गृहस्थ-भावना का श्रेयस्कर मानती है। भारतीय-

---

१ आपो ह यद्बृहती विश्वमायन्गर्भन्दधाना जनयन्तीरग्निम्।
ततो देवाना समवर्ततासुरेक कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ (यजु० २७।२५)

२ आप स्थ युष्माभि सर्वान् कामानवाप्नवानीति॥ (यजु संहिता)।

संहिता-परिवार की आस्था जनहित पर आधारित है, व्यक्तिविशेष पर नही, कदापि नही, इसके साथ यह भी ध्वनित होता है ।

संहिताकालीन दाम्पत्य-जीवन अनात्मवाद का नही, आत्मवाद का, भोगवाद का नही, योगवाद का, स्वार्थवाद का नही, परमार्थवाद का, नास्तिकवाद का नही, आस्तिकवाद का, राष्ट्रवाद का नही, अन्ताराष्ट्रवाद का डिण्डिम घोष करता रहा है, जिसकी प्रतिध्वनि आज भी "सर्वे भवन्तु सुखिन." के रूप मे या रामचरित-मानस के मर्मज्ञ गोस्वामी तुलसीदास के शब्दो मे "सीय राम मय सब जग जानी" के निनाद मे प्रतिध्वनित हो रही है ।

यजु.संहिता (३।४१) मे "गृहा मा बिभीत" अर्थात् गार्हस्थ्य जीवन के पवित्र दायित्व और कर्तव्यो को निर्भीकता से निष्ठापूर्वक करने की आज्ञा दी गयी है । इसके साथ ऋक्संहिता (१०।४३।६) मे "मनुर्भव जनया दैव्य जनम्" अर्थात् मनन-शील बनकर दैवी-सन्तान उत्पन्न करने को कहा गया है, जो गार्हस्थ्य-जीवन के नियमो का पालन करने मे सक्षम हो एव अन्नादि से अतिथियो का स्वागत-सत्कार करने मे तत्पर रहे । कहा भी है—जो अन्न-धन-सम्पन्न व्यक्ति अन्नाभिलाषी निर्धन व्यक्तियो के सम्मुख आने पर मन को कठोर कर लेता है और स्वय आनन्दपूर्वक भोजन करता है, उसे सन्मित्र नही मिलते । इसके विपरीत जो व्यक्ति अन्नाभिलाषी याचक को सानन्द अन्न देता है, वह स्वादु भोजन करता ह । इतना ही नही ऐसे दाता के पास पर्याप्त अन्न धन की सम्पत्ति रहती है और उसे कठिन समय मे सच्चे मित्र भी सुलभ रहते हैं । इन मन्त्रो के आधार पर यह सुव्यक्त है कि गृहिणी को चाहिए कि वह अन्न आदि से घर को परिपूण रखे, जिससे उत्तम सत्कार म किसी प्रकार की बाधा न हो । अतः वैदिक-नारियो के संहिताकालीन उदात्त विचार समाज के उन्नायक थ, जा आज भी अनुकरणीय हैं[1] ।

वैवाहिक जावन ही गृहस्थ जीवन है, जिसमे नारी के आगमन से ही मनुष्य के लिए ब्रह्मचय के बाद के अनक क्रिया-कलाप सम्मुख आते ह, और इसका निर्वाह यद्यपि दम्पति करते हे, किन्तु "न गृहं गृहमित्याहु गृहिणी गृहमुच्यते" इस परम्परा-प्राप्त वचन के अनुसार गृह से तात्पय गृहाधिष्ठात्री देवी स हाता है । गार्हस्थ्य जीवन के पूर्वोक्त प्रदर्शित सभी आचरण गृह के व्याज से गृहिणी मे निक्षिप्त हैं । प्रेम, दया,

१ य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मन कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितार न विन्दते ॥
स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुत सखायम् ॥ (ऋ० १०।११७।२-३)

सहानुभूति के व्यवहार से ही गार्हस्थ्य जीवन की पूर्णता होती है, अत. इस दृष्टि से ऋग्वेद आदि की अनेक संहिताओ म दम्पत्ति को सम्बोधित कर उपदेश दिया जाता है। जैसे—

दम्पत्ति एक मन होकर उत्तम कार्यो के सम्पादन के लिए साथ-साथ गतिशील हो, अर्थात् क्रियाओ का सम्पादन करें। नित्य परमेश्वर की प्रार्थना करें। दम्पति इस सुखदायक गृह मे सतत जागरूक हर्षातिरेक, प्रेममय, आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करें। शोभन पुत्रो और सुचारु गृहस्थ वाले होकर चिरकाल तक प्रकाशमय उषाकाल की किरणो का साक्षात्कार करें।

इस मन्त्र के द्वारा दम्पत्ति को एक-मन होकर उत्तम कर्मा मे सलग्न होकर जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी गयी है। परस्पर प्रेम और आनन्दमय जीवन व्यतीत करने मे एकमात्र यही साधन है। वैमनस्य की स्थिति मे न तो गार्हस्थ्य जीवन के कर्तव्यो का पालन सम्भव है और न आनन्दमय उषा की किरणो के साथ जागकर प्रकाशपूर्ण जीवन यापन की ही सम्भावना है। अपना जीवन प्रेमपूर्ण न रहे, तो आगे की क्रियाएँ सर्वथा निष्फल होनी निश्चित ही हैं[1]।

ऋग्वेद एवम् अथर्ववेद के मन्त्रो मे कुटुम्बियो के साथ नारी के व्यवहार की शिक्षा-दीक्षा के आधार पर यह स्पष्ट हो रहा है कि अपने लोगो के साथ कैसा व्यवहार होना चाहिए और राष्ट्र की उन्नति की दृष्टि के लिए कैसा आदर्श दाम्पत्य-जीवन वैदिक ऋषियो का काम्य है। महाकवि कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल मे महर्षि कण्व के द्वारा प्रस्तुत शिक्षा मे इसकी छाया स्पष्ट अभिव्यक्त है।

माता पिता, नौकर, पशु सभी सुखपूर्वक शयन करें, आत्मीय-जन पिता, पुत्र, पौत्र, पितामह, माता, बन्धुजन उनके साथ आदरपूर्ण व्यवहार करें[2]।

ब्राह्मणो का प्रिय करें, क्षत्रियो का प्रिय करें, वैश्यो का प्रिय करे, शूद्रो का प्रिय करें, ब्राह्मणो, क्षत्रियो, वैश्यो और शूद्रो के प्रति रुचि हो और ऐसी रुचिवालो

---

१ (क) या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावत ।
देवासो नित्ययाशिरा ॥ (ऋग्वेद—८।३१।५)

(ख) स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तरायो जीवावुषसो विभाती ॥ (अथर्व० १४।२।४३)

२ (क) सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विश्पति. ।
ससन्तु सर्वे ज्ञातय· सस्त्वयमभितो जन ॥ (ऋ० ७।५५।५)

(ख) आत्मानं पितर पुत्र पौत्र पितामहम् ।
जाया जनित्री मातर ये प्रियास्तानुप ह्वये ॥ (अथर्व० ९।५।३०)

के प्रति भी मेरी रुचि हो। इस प्रकार सभी वर्णो के प्रति सौमनस्य की कामना एव सार्वभौम प्रेम सम्पूर्ण विश्व के प्रति कल्याण की भावना का उन्नायक है[1] एव सन्मित्र के लिए ऐसी रुचिवाली का ही चयन किया है।

सभी मनुष्यो का जलस्थान एक हो, सभी अन्नो को समान रूप से बाँटकर व्यवहार मे लाओ। एक कौटुम्बिक बन्धन मे आबद्ध किया जा रहा है, अत मिलकर कर्म करो। जैसे रथ चक्र पत्ति को एक नाभि (नेमि) मे सम्बद्ध रहते हैं और समान रूप मे कर्म करते हैं, वैसे हो तुम्हारे हृदयो को समान करे और तुम्हारे मन विद्वेष-रहित हो। गौ जैसे सद्य जात बच्चे के साथ प्रेम करती है, वैसे ही तुम एक दूसरे की प्रीति से सम्पन्न रहो। सौ वर्षो तक समान ऐश्वर्य की प्राप्ति मन, वाणी और क्रिया से समान पक्षपाती जीव को ही सुलभ होती है। इस मन्त्र मे सौ वर्षो तक सुखी जीवन व्यतीत करने का एकमात्र साधन समत्व के व्यवहार को माना है, वह भी द्वेषरहित। मानव की गृहस्थ सम्पत्ति विचार और व्यवहार या रहन-सहन का साम्य ही है। यह समत्व-व्यवहार मानव से ही नही, वरन् सभी पशु-पक्षियो के साथ करने का उपदेश इन वैदिक-मन्त्रो के द्वारा प्रस्तुत किया गया है[2]।

परिशीलन—

वैदिक-संहिताकालीन नारी, नर की भाति ही अपने गृहस्थ जीवन मे यज्ञादि अधिकारो से सुसज्जित एव अलकृत थी। बाल्यावस्था मे अपने पितृगृह म कमनीय क्रीडाएँ करती हुई कन्या को प्रौढ पाण्डित्य प्राप्त करने का जन्मसिद्ध अधिकार था। विवाह के समय वर अपने बन्धु बान्धवो को सम्बोधित करते हुए नारी के जिस "सुमगली" स्वरूप का साक्षात्कार करने का उनसे आग्रह करता था, वह एक दिन को तपश्चर्या का परिणाम नही होता था, क्योकि उसके पीछे कन्या के माता-पिता की

१ (क) प्रिय मा कृणु देवेषु प्रिय राजसु मा कृणु।
प्रिय सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ (अथर्व० १९।६२।१)
(ख) रुच नो धेहि ब्राह्मणेषु रुच राजसु नस्कृधि।
रुच विश्यषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ (यजु० १८।४८)

२ (क) समानी प्रपा सह वोऽन्नभाग समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्नि सपर्यतारा नाभिमिवाभित ॥ (अथर्व० ३।३०।६)
सहृदय सामनस्यमविद्वेष कृणोमि व।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्स जातमिवाघ्न्या ॥ (अथर्व० ३।३०।१)
(ख) ये समाना समनसो जीवा जीवेषु मामका।
तेषा श्रीर्मयि कल्पतामस्मिल्लोके शत समा ॥ (यजु० १९।४६)

उस साधना का सम्बल छुपा रहता था, जिसके कारण उनकी बेटी के सौभाग्यवर्धन की प्रार्थनाएँ की जाती थी। सौभाग्यवती पुत्रवती नारियों द्वारा वधू को सिन्दूर लगाने की जो प्रथा हमारे समाज मे आज भी प्रचलित है, नि.सन्देह उसके पीछे हमारी संहिताओं का सरल, सरस सदुपदेश ही कारण है।

शारीरिक एवं आध्यात्मिक दोनो ही दृष्टियो से पुरुषवर्ग के आगे नारी-समाज का आत्मसमर्पण—विवाह संस्कार मे "सप्तपदी भव" कहते ही नारी अपने पितृ-गोत्र, जाति को छोड़कर अपने पति की सर्वात्मना हो जाती है—"स्वगोत्राद् भ्रश्यते नारी विवाहात् सप्तमे पदे"। वस्तुत. नारी और नर का वैवाहिक-संस्कार दो आत्माओं का ऐसा संगम है, जो कभी भी अलग नही किया जा सकता। आपस्तम्ब मे "जायापत्योर्न विभागोऽस्ति" अर्थात् विवाह के बाद पति-पत्नी बने नर और नारी मे कोई भेद नही रहता, कहा गया है।

वीरवती, पुत्रवती, सौभाग्यवती बनी संहिताकालीन नारी अपने पति के कन्धे से कन्धा एवं कदम से कदम मिलाकर अपनी गृहस्थी को स्वर्ग बनाने के लिये अहर्निश तत्पर रहती थी। दूसरी ओर पुरुष भी अपनी पत्नी को सहचरी, सहधर्मिणी मानकर उसका सम्मान बढाते हुए जीवन ज्योति को सदा प्रज्वलित रखने मे अपना पुरुषत्व मानता था।

काश! आज का समाज भी वैदिक संहिताओं का सन्देश सुनता और जीवन को सुखद बनाने के लिये नर नारी को समाज की उन्नति मे सहभागी मानता। "दहेज" जैसी दानवी दानवृत्ति से विरत होकर अपनी बेटी, बेटे और बहूरानी मे समदर्शी बनने का प्रयास करता।

सप्तम अध्याय

संहिताओं में नारी के कर्त्तव्य

वेद के सम्बन्ध मे सामान्यत. यह धारणा है कि वेदो मे नारी के लिये कुछ सकुचित एव सीमित विचारधाराएँ एव कर्तव्यो की सङ्कीर्ण मर्यादा रेखाएँ हैं, जो नारी के सर्वाङ्गीण विकास एव साम्प्रतिक युग के अनुसार प्रतिकूल एव असङ्गत सिद्ध होती हैं। वस्तुत. वेदो के विषय मे ये विचार भ्रान्तिमूलक है। वैदिक सहिताओ तथा अन्य वैदिक-साहित्य मे नारियो के महनीय कर्तव्यो का विपुल निर्देश प्राप्त होता है। प्रस्तुत अध्याय के अन्तगत वैदिक-सहिताओ मे नारियो के कर्त्तव्य तथा उनसे सम्पृक्त अधिकार का भो विवेचन करने का प्रयास किया गया है।

सम्पूण नारी-समाज का वर्गीकरण मूलत तीन रूपो मे किया जाता है। सर्वप्रथम माता के रूप मे, द्वितीय भगिनी, पुत्री या कन्या के रूप मे तथा तृतीय पत्नी के रूप मे। वैदिक साहित्य मे नारी के कर्त्तव्यो का अन्वेषण भी इन्ही तीन रूपो के अनुसार किया जा सकता है। इन तीन रूपो के वर्णन-प्रसङ्ग मे वैदिक-सहिताओ म नारियो क विभिन्न विशषण उपलब्ध होते हैं, जिनके द्वारा हम नारो समाज के कर्त्तव्यो का वदानुशासन प्राप्त करते है।

(१) माता एव उसके कर्त्तव्य—

वैदिक सहिताओ मे "माता" पद जन्मदात्री माता के अतिरिक्त मुख्यत पांच महनोय नारीतत्त्वो के लिये दृष्टिगोचर होता है। ये हैं—(१) पृथ्वी[१], (२) गौ[२], (३) अदिति[३], (४) उषा[४] तथा (५) रात्रि[५]। इन नारीतत्त्वो से सम्बन्धित मन्त्रो के पर्यालोचन से माता के विशिष्ट कर्त्तव्यो का निर्देश सहिताओ मे प्राप्त होता है। यहाँ यह अवधेय है कि निघण्टु म पठित पृथिवीवाचक नाम गौवाचक नामो मे भी परिगणित है।

---

१. 'माता भूमि' (अथव० १२।१।१२), 'माता पृथिवी' (ऋ० १।१६४।३३)

२ माता रुद्राणाम् (ऋ० ८।१०१।१५)

३. अदितिर्माता (ऋ० १।८९।१०)

४ माता देवानाम् (ऋ० १।११३।१९)

५ ह्वयामि रात्रिं जगतो निवशनीम् (ऋ० १।३५।१)

के द्वारा यह भी निर्देश किया गया है कि इन कर्त्तव्यो से युक्त नारी सभी मानवो को उपदेश देने की अधिकारिणी है[१]।

ऐतरेय ब्राह्मण मे, या गौः सा सिनीवाली, कहा गया है[२]। अर्थात् गौ-माता सिनीवाली अन्नपूर्णा होती है। नारी-माता भी सभी परिवारजनो का भोजनादि से पोषण करने के कारण सिनीवाली है। सभी नारियो को अपने इस कर्तव्य मे सावधान रहने का निर्देश शतपथ ब्राह्मण मे स्पष्ट कर दिया गया है—योषा वै सिनीवाली[3], अर्थात् स्त्री ही अन्नपूर्णा है।

उपर्युक्त यजुर्वेद के मन्त्र मे सरस्वती-शब्द नारी एव गौ दोनो के प्रति प्रयुक्त हुआ है। स्वामी दयानन्द ने सरस्वती का अर्थ "प्रशसित विज्ञानवाली" किया है। गौ-माता का वाचक मानने पर सरः का अर्थ दुग्ध होगा। अतः सरस्वती का अर्थ दुग्धवाली हुआ। यह अर्थ भी वात्सल्य से पूरित शिशुओ का पोषण करने वाली नारी-माता के प्रति उपयुक्त है। नारियो को इस कर्तव्य के प्रति भी सावधान रहना चाहिए। इसी कारण शतपथ-ब्राह्मण मे "सरस्वती हि गौ" कहा गया है[४], साथ ही "योषा वै सरस्वती[५]" अर्थात् नारी को भी सरस्वती बतलाया गया है। यजुर्वेद[६] मे पठित "महीना पयोऽसि" का भी तात्पर्य गौ-पक्ष मे अमृततुल्य गो-दुग्ध स्पष्ट है। इस प्रकार गौ के मातृत्व द्वारा वैदिक-सहिताओ मे नारी के मातृत्व कर्त्तव्यों का निर्देश दिया गया है।

अदिति का मातृत्व—

सामान्यतया अदिति शब्द की व्युत्पत्ति 'दो अवखण्डने' धातु से की जाती है, न दितिः—अदितिः। अर्थात् जिसका खण्डन-विभाजन न किया जा सके, वह अदिति है। वेदो मे अदिति-शब्द का पुष्कल प्रयोग प्राप्त होता है, जिनमें कही अदिति-शब्द अखण्डनीय, अविनाशी परमात्मा का वाचक है तथा बहुत्र पृथ्वी, वाणी, गौ तथा अखण्डनीय ज्ञानशक्ति-युक्ता नारी का वाचक है। ऋषि दयानन्द ने अदिति-शब्द का अर्थ करते हुए ऋग्वेद भाष्य[७] मे स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार उत्पन्न हुए बालक के लिए माता सुखप्रद होती है, उसी प्रकार अदिति भी हमारे प्रति सदा सुख-कारिणी है। ऋग्वेद मे अन्य स्थानो पर अदिति को विदुषी माता[८] तथा पूर्ण सुख

१ सुहृत ब्रूतात् (मा० स० ८।४३)। २ ऐ० ब्रा० ३।४८। ३ श० ब्रा० ६।५।१।१०।
४ तदेव—१४।२।१।७। ५ तदेव—२।५।१।११। ६ मा० स० ४।३।
७. ऋ० (१।४३।२) यथा लोकाय अदितिः।
८. ऋ० २।२९।३।

देनेवाली[1] कहा गया है। अतः अदिति के मातृत्व द्वारा माता का विदुषी तथा पुत्रो के प्रति सुखकारिणी होने का कर्त्तव्य वेदो मे उपदिष्ट किया गया है।

यजुर्वेद-संहिता मे अदिति माता को अखण्ड विद्या का अध्यापन करनेवाली विदुषी[2] तथा अखण्ड ऐश्वर्य वाले आकाश के समान दत्तभरहिता[3] महिला कहा गया है। यजुर्वेद-संहिता के ही एक मन्त्र मे राजपत्नी के गुणो का वर्णन करते हुए, राजकुल की स्त्रियाँ पृथ्वी एव आकाशादि के समान धैर्यशालिनी हो, यह कहकर उन्हे अदिति-शब्द से सम्बोधित किया गया है[4]। इस प्रकार यजुर्वेद-संहिता से भी अदिति के समान उत्कृष्ट मातृत्व के लिए प्रत्येक नारी-माता के लिये पुत्रो को अध्यापन कराने, क्षोभरहिता होने तथा धैर्यशालिनी रहने के कर्त्तव्यो का निर्देश प्राप्त होता है।

अदिति-सम्बन्धी वेद के इन मनोहारी वर्णनो को देखकर किसी ऐसी दिव्या अदिति माता का चित्र मस्तिष्क मे उभर आता है, जो विद्या-विज्ञान से पूरित होने के कारण अखण्डनीय शक्तिमती, समस्त ऐश्वर्य सम्पन्न सुखदात्री तथा वाक्पटुता के कारण सर्वत्र समादृता हो। अदिति को नारी ही नही, माँ का गौरवपूर्ण पद वेद मे दिया गया है। निश्चय ही ऐसी अखण्डनीय अद्वितीय शक्ति के वर्णन द्वारा माता के ही स्वरूप का चित्रण किया गया है।

मध्ययुग मे नारी की अवमानना प्रारम्भ हो गयी। नारी को वेद-शास्त्रो के अध्ययन से वंचित कर दिया गया तथा घोर पर्दा-प्रथा से प्रतिबन्धित कर उसे अदिति बन्धनमुक्ता से बन्धनयुक्ता बना दिया गया। विद्या से शून्य होने के कारण नारी अन्धविश्वासो से आवृत अपने गौरवमय अदितिरूपी मातृत्व के कर्त्तव्य को भूल बैठी। ऐसी अवस्था मे नारी के महिमामय-स्वरूप का पुनर्दिग्दर्शन महर्षि दयानन्द ने वेदो के आधार पर किया।

योग्य सन्तति उत्पन्न करने वाली विदुषी माता का ऋणी विश्व का प्रत्येक व्यक्ति होता है। निर्माण का यह कार्य वह सुन्दरता से कर सके, शिशुहृदयो मे सुसंस्कार का बीजारोपण कर सके, एतदर्थ विधाता ने माता को सुकोमलता एव स्वाभाविक भावुकता प्रदान की है। योग्य माताओ की गौरव कथा से इतिहास परिपूर्ण है। आज की शिक्षित माताएँ भी वैदिक आदर्शो को 'अदिति-माता' के स्वरूप से भिन्न हैं। वैदिक अदिति माता सयम एव नैतिक आदर्शो की प्रतिमूर्ति है। बहुत

१ ऋ० (५।४२।२) दयानन्द भाष्य।

२ मा० स० (११।७१) दयानन्द-भाष्य।

३. मा० स० (१३।१८) दयानन्द भाष्य।

४. मा० स० (११।१८) दयानन्द भाष्य।

से अस्वस्थ निर्बल रोगी सन्तानो की माँ "अदिति माता" नही कही जा सकती। सयम एव आदर्शो का पालन करते हुए दिग्दिगन्त का मुख उज्ज्वल करने वाली, एक भी सन्तति की निर्मात्री नारी ही "अदिति-माता" है।

नारी-मुक्ति आन्दोलन से प्रभावित साम्प्रतिक शिक्षित नारियो के हृदय मे पुरुषो के प्रति प्रतिद्वन्द्विता एव घृणा का प्रादुर्भाव हो रहा है। यह प्रवृत्ति समाज के लिये घातक है। महिला-वर्ग द्वारा "अदिति" के अदितित्व की प्राप्ति हेतु वैदिक आदर्शो को अपनाकर इस प्रकार की खण्डन-प्रवृत्तियो को दूर करना होगा।

उषा का मातृत्व—

"वस्" दीप्तौ धातु से निष्पन्न होने वाली "उषा" का वर्णन ऋक् सहिता के लगभग २० सूक्तो मे पाया जाता है। दीप्ति-सम्पन्न उषा का सूर्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध व्यक्त किया गया है। सूर्य के मार्ग को माँ के समान प्रशस्त करने के कारण उषा को सूर्य की माता के रूप मे वर्णित किया गया है। नित नवीना होकर भी प्राचीना कहलाने वाली "उषा" माँ ही अपने आगमन के साथ मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सम्पूर्ण जीवो को कार्यरत कर देती है। बिना भेद-भाव के मातृरूपा उषा सभी लोगो का मार्ग प्रशस्त और उनके कार्यो मे बने बाधक अन्धकार का विनाश करती है। यह केवल "उषा" ही है, जिसमे नारी के विविध रूपों की झांकी मिलती है। एक ओर सूर्य का मार्ग प्रशस्त करने के कारण उषा को उसकी मा कहा गया है, तो दूसरी ओर सूर्य का अनुसरण करने के कारण उषा को सूर्य की पत्नी के रूप मे वर्णित किया गया है, एव "दुहित. दिव." कहकर सूर्य के साथ उसके भाई-बहन के स्वरूप का चित्रण है[1]।

शाश्वत नियमो तथा देवो के आदेशो का पालन करने वाली "उषा" प्रात.काल देवताओ और उपासको को जगाती है तथा उन्हे होम-कर्म हेतु प्रेरित करती है। अपने कर्तव्य-मार्ग पर सदा आरूढ "उषा" अपनी दैनिकचर्या पूरी करने के बाद सान्ध्य-वेला मे अपनी छोटी बहन "रात्रि" को बुलाकर अपना उत्तरदायित्व सौंप देती है। इस प्रकार हमारी उषा-माँ रात्रि-रूपी माँ सी (मौसी) अहर्निश हमारी चौकसी करती है। यही कारण है कि इन दोनो बहनो को वैदिक-संहिताओ मे "उषासानक्ता" एव "नक्तोषासा" की सज्ञा से भी पुकारा जाता है।

"प्रचेता" (उत्कृष्ट ज्ञानवाली), "सूनरी" (सुन्दरी), "मघोनी" (दानशीला), "सुभगा" (सौभाग्यशाली) आदि विशेषणो से अलकृत समय पर उपस्थित होकर

---

१ सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिव.।
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती ॥ (ऋ० १।४८।१)

प्रकृति के नियमों का पालन करने वाली "उषा" पहले थी, आज भी है। इसके आने पर लोग वैसे ही तैयार हो जाते हैं, जैसे समुद्र में यात्रा करने वाले तत्पर हो जाते हैं[1]। "उषा" का मातृ-वर्णन अन्धकार को दूर करने एव प्रकाश फैलाने के रूप मे (ऋ० ५।८०।५-६), प्राणियों को कार्य मे लगाने के अर्थ मे (ऋ० ४।५१।५) एवं ऋत का पालन करने के रूप मे (ऋ० १।९२।१२, १।१२३।९, १।१२४।२, ७।७६।५) मे उपलब्ध है। ऋक्-सहिता मे माता द्वारा उबटन कर स्वच्छ की गयी कन्या के समान उषा के स्वरूप का वर्णन किया गया है[2]।

रात्रि का मातृत्व—

"रात्रि" शब्द का प्रयोग विश्राम देने वाली रात के सम्बन्ध मे (ऋ० १।३५।१, १।९४।७, १।११३।१) हुआ है। थान्त बालक को मा की गोद मे जो सान्त्वना भरा विश्राम मिलता है, उसकी अन्यत्र कल्पना करना ही दुष्कर है। ठीक इसी प्रकार दिन के व्यस्त कार्यक्रमों से थान्त एव क्लान्त मानव-मात्र को ही नहीं, जीवमात्र को जो सुखद सन्तोष "रात्रि" मे मिलता है, उसकी अन्यत्र कल्पना भी नहीं की जा सकती। यही कारण है कि वैदिक-सहिताकालीन नर विश्राम हेतु रात्रि-माँ का आह्वान करता है[3]। ऋक्सहिता मे रात्रि को सूर्य की पुत्री के रूप मे वर्णित किया गया है[4]। यहीं पर रात्रि और उषा को दो बहनों के रूप में चित्रित करते हुए कहा गया है कि "ये दोनो परस्पर बधी हुई है, आकाश मे क्रमपूर्वक गमन करती हैं और एक दूसरे के वर्ण को मिटा देती हैं। दोनो बहनों का मार्ग एक है, एक मन वाली ये दोनो बहने विभिन्न वर्ण की होते हुए भी अपने कर्त्तव्य-मार्ग मे एक दूसरे से कभी नहीं टकराती[5]।

निष्कर्ष—

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पृथिवी, गौ, अदिति, उषा एव रात्रि किस प्रकार मातृरूप मे नारी के कर्त्तव्यों का पालन करती हुई सृष्टि के सचालन मे सहयोग करती है। पृथिवीरूपी जन्मभूमि और जन्म देने वाली माता को स्वर्ग से भी श्रेष्ठ बताने

---

१ उवासोषा उच्छाच्च नु देवी जीरा रथानाम्।
ये अस्या आचरणेषु दध्रिरे समुद्रे न श्रवस्यव ॥ (ऋ० १।४८।३)

२ सुसकाशा मातृमृष्टेव योषाविस्तन्व कृणुषे दृशे कम् ॥ (ऋ० १।१२३।११)

३ ह्वयामि रात्रिं जगतो निवेशनी। (ऋ० १।३५।१)

४ यथा प्रसूता सवितु। (ऋ० १।११३।१)

५ समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।
न मेथेते न तस्थतु सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥ (ऋ० १।११३।३)

के पीछे वैदिक-संहिताओं का सन्देश ही मूल कारण है। घास-फूस खाकर भी अपने मधुर दूध से पोषण करने वाली गो-माता को रुद्रों की भी माता कहा गया है। देवों की माता अदिति एवं अहर्निश हमारी सुख-सुविधाओं को जुटाने वाली उषा एवं रात्रि-माँ के उपकारों का प्रतिकार करने की क्षमता मानव आज तक न जुटा सका है और न भविष्य में भी उसमें जुटा सकने का सामर्थ्य सम्भव है।

कन्या एवं उसके कर्त्तव्य—

कन्या या पुत्री नारी-जीवन की आधारशिला है। समाज के विकास में इसका वही महत्त्व है, जो किसी सुन्दर, सुदृढ़ भवन के निर्माण में नींव का होता है। समाज-रूपी भवन में कमनीयता, पवित्रता एवं दृढ़ता लाने के लिये आवश्यक है कन्या, पुत्री या दुहिता कहलाने वाली नारी के उस स्वरूप को सम्यक् रूप में संवारा जाये, जो अपने जन्मजात गुणों और संस्कारों के कारण कन्या "कमनीया भवति" इस सम्मान को प्राप्त करती है। लगता है कन्या के इसी कमनीय 'क-न्वार' पर ही रीझकर हमारे पूर्वजों ने देश की सीमाओं को काश्मीर से कन्याकुमारी और कच्छ से कटक तक बांधते हुए उसकी सांस्कृतिक राजधानी काशी स्वीकार की होगी।

वैदिक-संहिताओं में पुत्री के रूप में कन्या का समादर था और समाज उसको देवी के रूप में पूजता था। लोग पूषा-देवता से प्रार्थना करते थे कि उनके घर में कमनीय कन्या का जन्म हो। ऋक्संहिता[1] में ऐसी दो बहनों का वर्णन है, जो अपनी माता की गोद में लेटी हुई हैं। ये बहनें और कोई नहीं द्यावा (द्यौ)—पृथिवी हैं, जिन्हें माता-पिता का आभूषण माना गया है। ऋक्संहिता के एक स्थल में कहा गया[2] है कि 'पिता को जो आनन्द पुत्र से मिलता है, वही आनन्द मां को अपनी पुत्री से मिलता है"। पुत्रहीन पुरुष भी पुत्री के गर्भ से उत्पन्न बालक पर निर्भर करता है। पुत्री सम्मान की अधिकारिणी थी। द्यावा पृथिवीरूपी पुत्रियों से संग्राम में रक्षा करने तथा मंगल करने की प्रार्थना की गयी है[3]।

संहिताकाल में कन्याओं के मुख्य कर्त्तव्यों में वेदाध्ययन के साथ गाय दुहने (दुहिता) तथा गो-रक्षण का कार्य था। विवाह से पूर्व कन्याएँ माता-पिता की सहायता करती हुई अनेक घरेलू कार्यों का सम्पादन करती थीं। गो-दोहन, गो-रक्षण के अतिरिक्त कृषि की देख भाल करना, जलाशयों से जल भरना, रूई धुनना, सूत

१ सङ्गच्छमाने युवती समन्ते स्वसारा जामी पित्रोरुपस्थे।
अभिजिघ्रन्ती भुवनस्य नाभिं द्यावा रक्षतं पृथिवी नो अभ्वात्॥ (ऋ० १।१८५।५)

२ ऋ० ३।३१।१–२।

३ दिवे नो द्यावा पृथिवी अनेहसा॥ (ऋ० ६।७५।१०)

कातना, वस्त्र बुनना तथा उन पर कसीदा आदि काढना ऐसे कार्य थे, जिनको करने से उनके माता पिता को सुख मिलता था और समाज आर्थिक दृष्टि से समृद्ध होता था। इस सम्बन्ध मे वैदिक सहिताओ मे अनेक मन्त्र मिलते हैं[1], जिनमें कन्याओ के कर्त्तव्यो का स्पष्ट उल्लेख है।

कन्या का पाणिग्रहण सस्कार माता-पिता या इनके अभाव म बडा भाई सम्पन्न कराता था, परन्तु सहिताओ मे ऐसे विवरण भी मिलते है जहाँ कन्या को अपना जीवन साथी चुनने छूट दी गयी है[2]।

नेत्रहीन या कुष्ठ रोगादि से आक्रान्त शरीर वाली कन्याओ के सामने अपने चिर साथी को चुनने की भारी समस्या रहती थी। ऋक्सहिता (१०।२७।११) मे एक नेत्रहीन कन्या क आश्रयदाता के सम्बन्ध मे प्रश्न किया गया है कि इसको वरण कौन करेगा ? इस प्रकार ऋक्सहिता (८।९१) सूक्त की द्रष्टी तर्जस्विता की प्रतिमूर्ति "अपाला" के सामने भी अपने शरीर की कुष्ठता के कारण वैवाहिक जीवन का प्रश्न था, जिसे आपने अपनी अमोघ तपश्चर्या से हल कर दिया। इन्द्र से वरदान माँगते हुए "अपाला" ने कहा—' मरे पिता के सिर पर केश (बाल) उग जायें, मेरे पिता क खेत लहलहा उठें और मेरे शरीर से त्वग्दोष (कोढ) दूर हो जाये"।

महर्षि च्यवन और राजकुमारी सुकन्या का उल्लेख (ऋ० १।११६।१०, ११७।१३, ११८।६ तथा १०।३९।४ मे) हुआ है। सुकन्या ने अपने महनीय चरित्र से यहाँ एक आदश उपस्थित किया है, जिसमे एक सुकन्या के सभी कत्तव्यो का सन्निवेश परिलक्षित है। पतिव्रता मे कितनी दृढता होती है, इसका दर्शन सुकन्या के उन वाक्यो से होता है, जिनका प्रयोग उसने उसको परीक्षा लेने वाले अश्विनीकुमारो क प्रति करते हुए कहा है, जिनका भाव है—च्यवन मरे आराध्य देव हैं, इनकी सेवा मरे जीवन का चरम लक्ष्य है। आर्य महिलाओ को बाहरी चाकचिक्य कभी प्रभावित नहीं करता, क्योंकि वे हृदय के भावपक्ष को पहचानती हैं। उसे तो वह बन्धन प्रिय है, जिसमे उसने स्वय को समझ बूझ कर बाधा है।

कन्याओ को अपने कर्तव्यो का बोध कराने के उद्देश्य से उन्हे "सुसकाशा" तथा मातृमृष्टा' (ऋ० १।१२३।११) कहा गया है, जिसका अर्थ सुस्पष्ट है—अपने गुणो के कारण अच्छी लगने वाली और मातृशिक्षा से पवित्र बालिका। अथर्वसहिता (१।१४।३) मे कन्या के लिये 'कुलपा" शब्द का प्रयोग हुआ है, जो यह सकेत करता है कि उस पर दोनो (पितृ एव पति) कुलो की रक्षा का बोझ रहता है।

---

१ ऋ० २।३।६, २।३८।४।

२ कियती योषा मर्यतो वधूयो परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा स्वय सा मित्र वनुत जने चित्॥ (ऋ० १०।२७।१२)

पत्नी एवं उसके कर्त्तव्य—

वैदिक संहिताओं में पति की सेवा के लिए नारी के लिए कहीं भी कोई कर्त्तव्य सूची नहीं बनाई गयी है, क्योंकि उस समय नर नारी का समागम दो समान शक्तियों का सम्मेलन माना जाता था। पुरुष सम (पॉजिटिव) शक्ति का प्रतीक था, तो नारी विषम (निगेटिव) शक्ति मानी जाती थी। एक के बिना दूसरा असहाय एवं निष्क्रिय माना जाता था। अन्तःकरण की प्रवृत्तियों के अनुसार बुद्धि का अंश सम (पॉजिटिव) एवं मन का अंश विषम (निगेटिव) मानते हुए शरीर को भी दो भागों में विभाजित करते हुए दाहिना भाग पुरुष का और वाम-भाग नारी का माना गया है। सूर्य शक्ति और चन्द्र-शक्ति के प्रतीक नर-नारी सृष्टि के उत्पादन, संचालन आदि में समान अधिकार रखते थे। साहस, उद्यम आदि साहसिक कार्यों में यदि पुरुष की श्रेष्ठता थी तो धैर्य, सहनशीलता, त्याग एवं समर्पण भाव में नारी अद्वितीय मानी जाती थी। वृहदारण्यक में कहा भी गया है कि—"सृष्टि के आदि में आत्मा एकाकी होने के कारण रमण करने में असमर्थ था। इसलिए उसने अपने को स्त्री-पुरुष के रूप में विभाजित किया। संकल्प के अनुसार परमात्मा अपने अर्द्धभाग में पुरुष एवं शेष अर्द्धभाग में स्त्री बनकर "अर्द्धनारीश्वर" (शिव) हो गये"। इस प्रकार सच्चिदानन्द प्रभु अपने सत्भाव से स्थित रहते हुए चित्त भाव से द्रष्टा बनकर अपने आनन्दभाव से सृष्टिप्रपंच करने लगे। पति पत्नी के रूप में स्थापित यह सम्बन्ध स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीनों शरीरों के साथ आत्मा का माना गया है, जिसके फलस्वरूप नारी अपनी भोगस्पृहा को अन्य सभी स्थानों से हटाकर सर्वात्मना अपने पति में ही केन्द्रीभूत करती थी।

गृहपत्नी के रूप में नारी अपना सार्वजनिक जीवन आरम्भ करती थी। अपने सेवाभाव के कारण ही नारी उस समय घर कहलाती थी[1]। गृहस्थाश्रम में प्रवेश के समय नर नारी को शुभ आशीर्वचनों के माध्यम से कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ रहकर घर को आदर्श बनाने को कहा जाता था[2]। नारी को अपने पतिदेव के लिए मंगल-कारिणी बनने का उपदेश दिया गया है[3]; जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय कुछ नारियाँ ऐसी भी अवश्य रही होंगी, जो अपने पति का अनिष्ट करती होंगी; क्योंकि विधेयात्मक नियम अभाव का संसूचक होता है।

---

१ जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु। (ऋ० ३।५३।४)

२ इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। (ऋ० १०।८५।४२)

३ अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा। (ऋ० १०।८५।४४)

एक गृहस्थ के घर की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए, इसका बड़ा ही सुस्पष्ट वर्णन करते हुए कहा गया है—"पानी की सुलभतायुक्त उपजाऊ भूमि पर निर्वाह-योग्य एक छोटी-सी शाला (घर) हो, वह आवश्यक जीवन-यापन सामग्री से पूर्ण हो"।" इसके साथ ही साथ इसी मन्त्र मे शाला को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—"हे शाले! (घर की अधिष्ठातृ नारी) तू अपने शरणागत को किसी प्रकार का कष्ट न देना"। "तृणो से आच्छादित तोरण-वन्दनवारो से अलंकृत शाले! तुम अपने निवासियो को रात्रि मे शान्ति प्रदान करने वाली हो, तथा लकडी के खम्भो पर हस्तिनी के समान अल्प-भूमि पर अवस्थित हो"। अथर्व संहिता (९।३।२१) मे शाला (घर) की तुलना गर्भ के साथ करते हुए कहा गया है कि—'हम विस्तृत भूमि वाले घर मे जठराग्नि और गर्भ के समान निवास करते हैं"।

उपर्युक्त विवरणो से संहिताकालीन गार्हस्थ्य जीवन की सादगी एवं सुचारु व्यवस्था की चर्चा की गयी है, जिसका सम्पूर्ण श्रेय गृह-पत्नी को जाता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि जो नारी अपने घर की सुन्दर व्यवस्था करने मे असफल होती थी, उसको समाज मे आदर की दृष्टि से नही देखा जाता था।

श्रेष्ठ पति की प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा की जैसी अभिव्यक्ति नारी-रत्न-शिरोमणि घोषा-काक्षीवती द्वारा दृष्ट सूक्त मे मिलती है, उसका यदि अन्यत्र अभाव कहा जाये, तो अत्युक्ति नही होगी। 'घोषा" ने अश्विनीकुमारो से प्रार्थना करते हुए कहा है[२] "आप मुझे ऐसे सुख का उपदेश करें, जिससे मै बलवान् एवं चाहने वाले पति के घर को प्राप्त करूँ"। अपने पति की प्रियतमा बनने की 'घोषा" की भावना कितनी उत्कट है कि वह अपने पति को धन-सन्तान से युक्त करने के साथ ही साथ उसके

---

१ ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्या निमिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसी प्रतिगृह्णत॥
तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी।
मिता पृथिव्या तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती॥ (अथर्व० ९।३।१६-१७)

२. न तस्य विद्म तदु षु प्र वोचत युवा ह यद्युवत्याः क्षेति योनिषु।
प्रियोस्रियस्य वृषभस्य रेतिनो गृहं गमेमाश्विना तदुश्मसि॥
आ वामगन्त्सुमतिर्वाजिनीवसू न्यश्विना हृत्सु कामा अयंसत।
अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्याँ अशीमहि॥
ता मन्दसाना मनुषो दुरोण आ धत्तं रयिं सहवीरं वचस्यवे।
कृतं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथेष्ठामप दुर्मतिं हतम्॥

(ऋ० १०।४०।११-१३)

जीवन में पड़ने वाले विघ्नों की समाप्ति की भी प्रार्थना करती है। पति के प्रति पत्नी की अटूट श्रद्धा का स्मरण कराते हुए महाराज पुरूरवा अपनी देवपत्नी उर्वशी से कहता है—"आपसी स्नेह-बन्धन में बँधे पति-पत्नी के स्नेह-तन्तु तोड़ने की इच्छा भला किसे होगी, जहाँ तेजोरूप सन्तति प्रदीप्त हो उठी हो"।

संहिताकालीन पतिव्रता सुकन्या के पिता शर्यात पश्चिमी आर्यावर्त के सम्राट् थे। एक बार वे मृगया खेलने गये और उनके साथ सुकन्या भी थी। संयोगवश ये लोग च्यवन ऋषि के आश्रम के पास पहुँच गये और कुछ लोगों ने अज्ञानवश ऋषि का अपमान कर दिया। वहाँ क्रुद्ध ऋषि को शान्त करने के लिए राजा को अपनी पुत्री सुकन्या का विवाह करना पड़ा। अपने वृद्ध पति की अभ्यर्थना एवं परिचर्या को जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानने वाली राजकुमारी सुकन्या का चरित्र निःसन्देह भारतीय नारी के उस उज्ज्वल पक्ष को उपस्थापित करता है, जिसके लिए आर्य-जाति सदा गौरव का अनुभव करती है। सुकन्या का अपने पति के प्रति जो पवित्र विचार था, उसी की झाँकी हमें शतपथ-ब्राह्मण (१२।८।२।६) में देखने को मिलती है, जहाँ—"पति को सच्चाई और पत्नी को विश्वास, पति को मन एवं पत्नी को वाणी मानते हुए स्पष्ट कहा गया है—"जहाँ पति है, वहीं पत्नी है"। इसी शतपथ-ब्राह्मण (४।१।५।९) में अपने वृद्ध पति की आलोचना अश्विनीकुमारों के मुख से सुनकर पतिव्रता सुकन्या स्पष्ट उत्तर देती है—"मैं किसी भी दशा में अपने पति का परित्याग नहीं करूँगी, जिसे एक बार मेरे पूज्य माता-पिता ने मुझे अर्पित किया है"।

सुकन्या के उपर्युक्त इस निर्मल चरित्र का मूल आधार ऋक्-संहिता (१।११६।१०, १।११७।१३, १।११८।६ तथा १०।३९।४) के ये स्थल हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि संहिताकालीन नारी बड़ी से बड़ी कठिनाई में पड़कर भी अपने पति की सेवा में किसी प्रकार की भी न्यूनता नहीं आने देती थी।

वस्त्र-निर्माण—

संहिताकालीन नारियाँ अपने पतियों के लिये स्वयं वस्त्र बुनती थीं[१]। इन वस्त्रों के निर्माण के पीछे भारतीय नारियों का देशप्रेम छिपा हुआ है। ऋक्-संहिता (३।२६।५) में आया "वर्पनिर्णिज" शब्द यह स्पष्ट करता है कि उस समय मातृ-भूमि के प्रति स्नेह करने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपने वस्त्रों का निर्माण स्वयं करता था। "वर्प" शब्द देशबोधक है, तो "निर्णिज्" शब्द पहनने वाले वस्त्रों का परिचायक है। माताएँ अपनी सन्तति (पुत्र-पुत्री) के आयुष्य-वर्धन हेतु कपड़े बुनती थीं—"वस्त्रा

१ को दम्पती समनसा वि यूयोदध यदग्नि स्वशुरेषु दीदयत्। (ऋ० १०।९५।१२)

२ ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः।
वासो यत्पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात्॥ (अथर्व० १४।२।५१)

पुत्राय मातरो वयन्ति" (ऋ० ५।४७।६) और बच्चो के लिए सुविचारो का उपदेश भी प्रदान करती थी।

ऋक्-सहिता (२।३८।४) मे रात्रि की तुलना वस्त्र बुनने वाली नारी से की गयी है, जिसकी व्याख्या करते हुए आचार्य सायण ने कहा है—"वयन्ती वस्त्र वयन्ती नारीव" इस उपमा से भी स्पष्ट है कि उस समय वस्त्रो का निर्माण नारी का एक पुनीत कर्तव्य था। उषा और रात्रि दोनो की समानता कपडे बुनने वाली नारी से करते हुए ऋक् सहिता (२।३।६) मे कहा गया है—"ये (उषा–रात्रि) दोनो परस्पर अनुकूल होकर पट बुनने वाली नारी के समान चलती है। विवाहपद्धति के अनुसार विवाह के समय नारी को वस्त्र देते समय अथर्वसहिता की एक ऋचा पढी जाती है[1], जिसका आशय स्पष्ट है कि नारी को कातना-बुनना, सीना पिरोना, किनारे मे झालर आदि लगाने का कार्य करना चाहिए।

वैदिक-सहिताकाल मे अपने पति की सेवा करने वाली नारी कभी भी अपना वस्त्र अपने पति को नही पहनने या ओढने देती थी, क्योकि ऐसा करने मे अनिष्ट की सम्भावना होती थी[2]।

उपर्युक्त तथ्यो से स्पष्ट है कि सहिताकालीन नर-नारी का सम्बन्ध बड़ा ही पवित्र था। पुरुष यदि गृह-स्वामी था, तो नारी गृह-स्वामिनी, पुरुष यदि अन्नदाता था, तो नारी साक्षात् अन्नपूर्णा थी। भोजन बनाना, सीना-पिरोना, बच्चो का लालन-पालन, घर की देख-रेख के साथ अपने पति की पूर्ण मनोयोग से सेवा करना नारी का मुख्य धर्म था। यह सच है कि नारी पत्नी, सहचरी के रूप मे उचित परामर्श देकर घर को स्वर्ग बनाने की अपने मे अद्भुत क्षमता एव सामर्थ्य रखती है।

सन्तति-पालन—

नारी को नर की तुलना मे श्रेष्ठ मानते हुए मैत्रायणी-सहिता मे कहा गया है—"स्त्रिय. पुसोऽतिरिच्यन्ते" (४।७।५) अर्थात् कुलीन नारिया पुरुषो से बढकर है। काठक-सहिता (३०।१) मे भी उपर्युक्त कथन का समर्थन किया गया है। ऋक्सहिता (१।७९।१) मे अग्निदेव की तुलना अपने कर्तव्य मे तत्पर एक यशस्विनी नारी के साथ की गयी है। वैदिक-सहिताओ मे नर की तुलना मे नारी के सौभाग्य का अधिक वर्णन हुआ है, जिसकी पुष्टि यम यमीसवाद-सूक्त (ऋ० १०।१०।१०), पणि-सरमा-

१ या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निर या देवीरन्ता अभितोददन्त।
तास्त्वा जरसे स व्ययन्त्वायुष्मतीद परि धत्स्व वास.॥ (अथर्व० १४।१।४५)

२ अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद्वध्वो वासस. स्वमङ्गमभ्यूर्णुते॥ (अथर्व० १४।१।२७)

सवाद सूक्त (ऋ० १०।१०८।५), सूर्या विवाह सूक्त (ऋ० १०।८५।३६) एव अथर्व-संहिता (१४।१।५०) मे आये वणना से होती है।

नारी की कामना करने वाला संहिताकालीन पुरुष, सन्तान-उत्पादिका पत्नी की प्राप्ति हेतु स्थान स्थान पर प्रार्थना करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। अथर्वसंहिता—"स न पतिभ्यो जाया दा अग्ने प्रजया सह" (१४।२।१), अर्थात् "हे अग्निदेव! हमें सन्तानवती पत्नी दो"। "प्रजा जनय पत्ये अस्मै" (अथर्व० १४।२।३१-३२), इस मन्त्र मे तो पुरुष स्वय नारी से प्रार्थना करता है कि वह सन्तानोत्पत्ति कर सूर्या के समान सदा उसके साथ रहे।

कठिन-कार्य—

नर इस बात को अच्छी तरह समझता है कि वैवाहिक सस्कार सम्पन्न कर लेना या सन्तानोत्पत्ति करना कोई कठिन कार्य नही है। उसकी दृष्टि मे यदि कोई कठिन कार्य है, तो वह है सन्तान हेतु गर्भधारण, प्रजनन एव उसके लालन, पालन तथा पोषण का कार्य। नारी के इस गुरुतर कार्य की ओर ऋक्संहिता (१०।१८४) का सूक्त प्रकाश डालता है, जिसमे प्रजापति से प्रार्थना की गयी है कि वे नारी को गर्भधारण की शक्ति दें, सरस्वती गर्भ की रक्षा करें, अश्विनीकुमार गर्भस्थ शिशु का पालन करें, जिससे वह दसवें मास मे सकुशल, मातृगर्भ से बाहर आ सके।

पुत्रोत्पत्ति की कामना करने वाले पति पत्नी को आशीर्वाद देता हुआ होता (पुरोहित) कहता है कि "मैंने हृदय चक्षु से देखा है, तुम्हारी सन्तानोत्पत्ति की कामना फलवती हो"[1]।

समाज का अभ्युदय तथा राष्ट्र की स्वाधीनता नारी की जागृति पर उसी प्रकार अवलम्बित है, जिस प्रकार सन्तति का जनन, पालन-पोषण एव संवर्द्धन। कर्तव्यपालन मे सदा व्यस्त रहने वाली संहिताकालीन नारियाँ प्रात उठकर शौचादि से निवृत्त होकर चून पीसती, कुए से जल भरती, रसवर्द्धक भोजन बनाती और पति-पुत्रादि कुटुम्बियो को खिलाने के बाद चरखा आदि कातती थी। इसके अतिरिक्त गो सेवा, अतिथि सत्कार आदि ऐसे कार्य थे, जिन्हे करती हुई नारियाँ दाम्पत्य जीवन का आनन्द उठाती थी। इसका सकेत ऋक्संहिता (१।९२।३, १।११९।११४, २।३।२, ५।४७।६, २।३२।४) के स्थलो पर मिलता है, जिनमें व्यस्त नारियो के जल भरन, बुनाई, सिलाई आदि कर्तव्यो की चर्चाएँ हैं। अथर्ववेदसंहिता (१४।२।५१) मे तो

१ अपश्य त्वा मनसा दीध्याना स्वाया तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूया प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे॥ (ऋ० १०।१८३।२)

विवाह के तत्काल बाद ही वधू द्वारा बुने हुए वस्त्र को वर द्वारा पहनने की बात भी की गयी है।

माता के साथ विरोध कर पुत्र-पुत्री कभी सुखी नहीं रह सकते। माता की छाता से चिपककर प्राणदायिनी मातृस्तन्यधारा का पान करने से ही सन्तान अमरता प्राप्त कर सकती है। दुर्भाग्यवश संहिताओं के सन्देश की उपेक्षा करने वाला आज का समाज रोगग्रस्त होकर जीवन-यापन करता है, क्योंकि उसने प्रकृति माता से नैसर्गिक सम्बन्ध तोड़कर कृत्रिम जीवन को प्रश्रय दे दिया है।

पत्नी-संस्कार—

गर्भ की स्थिति मे नारी को निराहार रहकर "पुसवन-संस्कार" करना पड़ता था, जिसका उद्देश्य था पुत्रोत्पत्ति की कामना। यह संस्कार गर्भ मे शिशु के स्पन्दन के पूर्व सम्पन्न होता था। अथर्वसंहिता (५।२५) मे गर्भाधान एवं पुसवन-संस्कार का स्पष्ट उल्लेख है। इसके अतिरिक्त ऋक्संहिता (१०।१८४।१-३) मे देवताओ से गर्भ प्रदान हेतु प्रार्थना की गयी है और ऋक्संहिता (१०।१८३) सूक्त मे भी गर्भाधान का संकेत मिलता है। तैत्तिरीय-संहिता (२।५।१।१-५) म पति-पत्नी-समागम के कतिपय नियम दर्शाए है, जिनका पालन करने से नारी को ब्रह्महत्या का दोष नहीं लगता। रजस्वला की स्थिति मे समागम का पूर्ण निषेध किया गया है[1]। इसके अनन्तर दुष्टात्माओ से सन्तति की सुरक्षा हेतु "सीमन्तोन्नयन-संस्कार" किया जाता था, जिसमे पति अपनी पत्नी के केशो को कघी आदि से सँवारता था। यद्यपि इस संस्कार का स्पष्ट संकेत वैदिक संहिताओ म नहीं है, परन्तु गृह्यसूत्रो मे इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। सन्तानोत्पत्ति का समय ज्यो-ज्यो निकट होता है, परिवार के लोग चिन्तातुर होकर देवी-देवताओ की प्रार्थना करने लगत है कि गर्भस्थ जीव शीघ्र निर्गत हो। इसका संकेत ऋक्संहिता (५।७८।७–९) म मिलता है। इस प्रार्थना के कार्य को "सोष्यन्ती-कर्म" कहा जाता था। अथर्वसंहिता का (१।११) सूक्त इसी "सोष्यन्ती-कर्म" का द्योतक है।

गर्भ से शिशु के निर्गत होने के बाद 'जातकर्म संस्कार" होता था, जिसका संकेत ऋक्संहिता (९।९६।१७, ९।१०९।१२) म शिशु के स्नान के रूप म मिलता है। "प्राशन संस्कार" के पश्चात् "स्तन-प्रदान" का कार्य सम्पन्न होता था, जिसका संकेत ऋक्संहिता (१।१६४।४९) म है।

कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय षोडश-संस्कारो म से प्रारम्भ के तीन (गर्भाधान, पुसवन, सीमन्तोन्नयन) संस्कार शिशु के जन्म के पूर्व किये

१ तै० स० २।५।१।५-६।

जाते थे और छः (जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध) सस्कार शिशु की बाल्यावस्था से सम्बन्धित थे। इस प्रकार स्पष्ट है कि इन नौ सस्कारो को सम्पन्न कराने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व माता-पिता का था। वेदारम्भ से पूर्व उपनयन-सस्कार भी माता-पिता की स्वीकृति के बाद आचार्य सम्पन्न कराते थे। समावर्तन-सस्कार के अनन्तर विवाह-संस्कार भी बहुधा माता-पिता की स्वीकृति पर ही निर्भर रहता था। यदि देखा जाये, तो माता के रूप मे नारी अपनी सन्तति का भरण-पोषण करने मे आजीवन व्यस्त रहती है। यह नियम सहिताकाल से लेकर आज तक चलता आ रहा है और हमारा विश्वास है कि जब तक सूर्य-चन्द्र, भूमि और आकाश रहेंगे, तब तक यह मातृ-स्नेह-स्रोत भी अपनी सन्तति के संरक्षण हेतु अजस्र गति से सदा चलता रहेगा।

सद्गृहस्थ—

ऋक्सहिता में[1] गार्हस्थ्य-जीवन हेतु खाद्य एव पेय पदार्थो के निर्माण की व्यवस्था देते हुए कहा गया है—"जहाँ स्थूल पत्थर खाद्यपदार्थ-निर्माण हेतु चलता है, जहाँ सिल-बट्टा की गति अबाध रूप मे विद्यमान है, जहाँ गृह-नारियाँ अतिथि-सत्कार हेतु मथानी को रस्सी में बाँधकर दही मन्थन करती हैं और जहां निरन्तर ओखली मे बजता हुआ मूसल अपनी विजय-दुन्दुभी बजाता है, वहाँ देवराज इन्द्र का आगमन होता है"। एक प्रसग मे स्त्री की कामना करने वाले पुरुष की तरह इन्द्र का आह्वान करने की बात ऋक्सहिता (४।२०।५) मे कही गयी है।

अथर्वसहिता (४।३४।७) मे स्पष्ट कहा गया है कि गृहस्थ नारी द्वारा निर्मित ये भोज्य-सामग्री केवल अपने लिये ही नही; अपितु पुनर्जन्म के सुफल की इच्छा से इनका निर्माण अन्य लोगो की भलाई हेतु किया जाता था। सहिताकालीन नारियाँ

---

१ यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुल ॥
यत्र द्वाविव जघनाधिषवण्या कृता।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः ॥
यत्र नार्यपच्यवमुपच्यव च शिक्षते।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुल. ॥
यत्र मन्था विबध्नते रश्मीन्यमितवा इव।
उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुल ॥
यच्चिद्धि त्व गृहेगृह उलूखलक युज्यसे।
इह द्युमत्तम वद जयतामिव दुन्दुभि. ॥ (ऋ० १।२८।१-५)

अपने घर आये हुए अभ्यागतो का पूर्ण सत्कार करती थी। इस विषय मे कहा गया है—हे नारियो ! तुम दूध और घी के घडो से एवं अन्नदानादि से अभ्यागतो को पूर्ण-तृप्त करो[1]"।

यजु संहिता मे भी नारियो द्वारा सुव्यवस्थित गृहस्थ-जीवन का वर्णन किया गया है, जहाँ देव, ऋषि, पितर और अतिथियो की सेवा के लिये समीचीन पदार्थो की व्यवस्था रहती थी। अपने पितरो से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि यहाँ घृत, दूध, रसयुक्त अन्न और पके हुए फलो की रसधार प्रवाहित है, कृपया इससे तृप्त हो[2]।

इतना ही नही, क्षुधापीडित सामान्य जनो के अतिरिक्त इष्ट मित्र, बन्धु-बान्धव आदि का विना भेदभाव के अन्न, जल हेतु आह्वान किया जाता था। सभी लोगो की सेवा करना उस समय जीवन का परम लक्ष्य माना जाता था। राष्ट्रधर्म के अभाव मे परलोक की अभिलाषा को तुच्छ माना जाता था। राष्ट्रहित मे बाधक परिग्रह एव सग्रह की भावनाओ से दूर रहकर नर-नारी कर्तव्य-पथ पर आरूढ रहते थे। एक गृहस्थ नर नारी का आह्वान होता था—"हे सुहृद्भाव वाले ! आप हमारे घर मे प्रेमपूर्वक आने की कृपा करे, यह घर स्वास्थ्य-वर्धक, बलशाली दुग्धादि पदार्थो से सुसम्पन्न है। अपरिमित वैभवयुक्त यह घर मित्रो के आमोद प्रमोद के साथ प्यास को दूर करने वाला है, इसलिए इस घर मे निर्भीक एव नि संकोच होकर आगमन कीजिए[3]"।

---

१ पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेत घृतस्य धाराममृतेन सम्भृताम् ।
इमा पातॄनमृतेन समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ (अथर्व० ३।१२।८)

२ ऊर्जं वहन्तीरमृत घृत पय कीलाल परिस्रुतम ।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ (यजु० २।३४)

३ ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनि सुमवा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्व मा बिभीत मत ॥
इम गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्त पयस्वन्त ।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायत ॥
येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहु ।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायत ॥
उपहूता भूरिधना सखाय स्वादुसमुद ।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥ (अथर्व० ७।६०।१-४)

विधवा और उनके कर्तव्य—

"सधवा" नारी के जीवनवृत्त का विस्तृत वर्णन किया गया है, जिससे स्पष्ट है कि संहिताकाल में उसका समाज में सर्वोच्च स्थान था (ऋ० १०।१८।७)। "लाजा-होम" में सर्वप्रथम वधू अपने को नारी मानती है और अथर्वसंहिता (१४।१।३८) के अनुसार सौभाग्यवती कहलाती है। नारी के सौभाग्य के सूचक दो तत्त्व होते हैं—पति का दीर्घ जीवन और नीरोग जीवन (ऋ० १०।८६।११)। इसी प्रकार सधवा नारी के जीवन के दो ही प्रधान उद्देश्य हैं—एक में तो वह चाहती है कि उसका पति लम्बी आयु वाला हो—"आयुष्यमानस्तु मे पतिः"। और दूसरे में अपने कुटुम्ब की वृद्धि हेतु वह सदा कामना करती है—"एधन्ता ज्ञातयो मम"। इस प्रकार सधवा नारी की पतिपरायणता तथा विचारशीलता सुतरां सिद्ध होती है (ऋ० १।२८।३, १०।८५।४७)। पातिव्रत्य का पालन न करने वाली नारी का समाज में आदर नहीं था और उसको हेय दृष्टि से देखा जाता था (शतपथ-ब्राह्मण—२।५।२।२०)।

विधवा—

"*विगत धवः पतिर्यस्या, सा = विधवा*" अर्थात् पति-वियुक्ता नारी। संहिताकाल में पति-रहिता नारी के सामने अपने जीवन को आगे चलाने के लिए दो ही प्रमुख रास्ते थे—प्रथम तो वह अपने पति के स्वर्गस्थ हो जाने पर पुनर्विवाह (अथर्व० ९।५।२७-२८) करे या फिर अथर्वसंहिता (१८।३।१) के अनुसार पति के साथ सह-मरण को स्वीकार करे, जिसके सम्बन्ध में संकेत है—"हे मनुष्य! पतिलोक की इच्छा करती हुई यह विधवा नारी तुम्हारे समीप आने की इच्छावाली है"।

यद्यपि ऋक् संहिता में पुनर्विवाह एवं सहमरण के संकेत कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते, तथापि ऋक्संहिता (१०।१८।७) से विधवाओं का आभास मिलता है, जिसमें "नारीरविधवा:" कहा गया है। ऋक्-संहिता में विधवा-शब्द का तीन बार प्रयोग हुआ है (४।१८।१२, १०।४०।२ एवं ८)। उस समय सतीप्रथा का प्रचलन नहीं था; किन्तु ऋक्संहिता (१०।१८।८) की ऋचा में कहा गया है—"हे नारी! उठो, जिसके पास आप बैठकर समय-यापन कर रही हैं, वह अब निर्जीव है। अब तुम इसके साथ विवाहित होकर जीवन यापन करो"। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस समय किसी न किसी रूप में विधवा-विवाह को स्वीकृति रही होगी। इसके विपरीत वैधव्य-जीवन की कठिनाइयों तथा असुविधाओं की ओर कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं[1], जिनमें काँपती हुई पृथ्वी के साथ विधवा का साम्य है।

---

१ प्रैषामज्मेषु विथुरेव रेजते भूमिर्यामेषु यद्ध युञ्जते शुभे।
ते क्रीळयो धुनयो भ्राजदृष्टयः स्वयं महित्वं पनयन्त धूतयः॥ (ऋ० १।८७।३)

अथर्व-संहिता (१२।५।४८, १८।३।१) में मृतक के लिये बाल बिखराये हुए अस्त-व्यस्त जीवन वाली नारियों द्वारा दोनों हाथों से छाती पीटकर रोने का वर्णन है। अथर्व-संहिता के १८वें काण्ड का तृतीय-सूक्त अन्त्येष्टि-संस्कार पर विस्तृत प्रकाश डालता है, जिसमें विधवा स्त्री अपने पति के साथ चिता पर लेटती है और बाद में सम्बन्धी जनों द्वारा चिता से हटा ली जाती है, सम्भवतः पुनर्विवाह हेतु। इस सूक्त के चतुर्थ-मन्त्र में "अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व" अर्थात् "हे नारी! यह गोपति तुम्हारा है, इससे प्रेम करो"। इससे प्रतीत होता है कि उस समय गोपतियों में पुनर्विवाह का प्रचलन था। इसकी पुष्टि तीसरे मन्त्र से भी होती है, जिसमें—"अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्" अर्थात् "मैंने मृतक व्यक्ति के पास से विवाह हेतु वधू को अन्यत्र ले जाते हुए देखा है"। यह विवाह प्रायः पति के छोटे भाई (देवर) से ही होता था, क्योंकि विधवा नारी अपने मृतक पति के घर से सम्बन्ध-विच्छेद करना अच्छा नहीं मानती थी।

ऋक् संहिता की एक अन्य ऋचा (१०।४०।२) में अश्विनीकुमारों के आह्वान की तुलना विधवा नारी द्वारा देवर को बुलाने के साथ करने का संकेत है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस समय पुनर्विवाह का प्रचलन रहा होगा।

निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि संहिताकालीन विधवा नारी का जीवन एक वैराग्यवती सन्यासिनी-सा था, जिसमें वह सदा अपने पति की निराकार मूर्ति की उपासना करती हुई जीवन यापन करती थी। संयमशीला, तपस्विनी विधवा अपने मृत पति की आत्मा के साथ अपनी आत्मा को मिलाकर अनन्त आनन्द का अनुभव करती थी। आर्य-जाति की नारी की यह विशेषता है कि वह परलोकगत अपने पति के हृदय के साथ सूक्ष्म जगत् में सम्बन्ध करके उन्हीं के चरणों में तल्लीन होकर दिवा निशि आनन्द का अनुभव करती हुई अपनी योनि से मुक्ति-लाभ में आस्था रखती है। संहिताकालीन समाज की आस्था थी कि जिस प्रकार जीवन्मुक्त महापुरुष शरीर-त्याग के समय परब्रह्म में लीन हो जाता है, ठीक उसी तरह सती विधवा भी अन्त में अपने पति के स्वरूप में लवलीन होकर उसके साथ अपना अभेद-सम्बन्ध स्थापित करती है। दुर्भाग्यवश वैदिक-संहिताकालीन सधवा नारी के समान विधवा नारी की भी उत्तरोत्तर स्थिति दयनीय होती गयी और आगे चलकर उसे वैधानिक रूप से प्राप्त पति की सम्पत्ति आदि अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया।

ब्रह्मवादिनी के कर्त्तव्य—

वैदिक-संहिताओं में नारी के विवाहित तथा अविवाहित दोनों रूपों का नितान्त गौरवपूर्ण इतिहास मिलता है। विवाह के पश्चात् जिनका अध्ययन अवरुद्ध

हो जाता था, वे सद्योद्वाहा कहलाती थी और दूसरी ओर अपने पिता या भाई के घर अविवाहित रहकर जिनका अध्ययन-अध्यापन आजीवन चलता था, वे ब्रह्मवादिनी के नाम से जानी जाती थी। आजीवन कौमार्यव्रत धारण करने वाली इन नारियो का समाज मे बड़ा आदर था, क्योकि जन-कल्याण हेतु इनके विविध कार्य चलते रहते थे। ऐसी ज्ञानी नारियो को समाज मे पुरुषवर्ग के समान ही प्रचार-प्रसार का पूर्ण अधिकार था।

ऋक्-संहिता (७।४०।७) मे ब्रह्मवादिनी, अध्ययन-अध्यापन तथा समाज को उपदेश देने वाली नारियो के गुणो का वर्णन करते हुए कहा गया है—"हे पूषन्! सरस्वती और देव-नारियाँ हमे जो धन देती हैं, उसमे आप बाधक न बनें, कल्याण-दाता देवगण हमारी रक्षा करें और जल-वृष्टि दें"। इस मन्त्र मे सरस्वती एव अन्य देवियो द्वारा दिये गये धन मे बाधक न बनने की बात कही गयी है। यह कौन सा धन था, जिसकी रक्षा एव प्राप्ति के लिये व्यग्रता व्यक्त की गयी है। हमारी दृष्टि से यह वही धन है, जिसका उपदेश स्थान-स्थान पर इन ऋषिकाओ ने किया है, जो संहिताओ के सूक्तो का साक्षात्कार करने के कारण कवयित्रियां भी मानी गयी हैं।

घोषा—

महर्षि कक्षीवान् की पुत्री है और शरीर मे श्वेत दाग (कोढ) होने के कारण विवाह के अयोग्य ठहराई जाती है। अन्त मे अपनी तपश्चर्या से अश्विनीकुमारो को प्रसन्न करती हुई दिव्य-काया पा जाती है। इस ब्रह्मवादिनी नारी ने स्वयं ब्रह्मचारिणी के रूप मे ब्रह्मचर्य का उपदेश तथा कन्या के समस्त कर्त्तव्यो का जो उल्लेख ऋक्-संहिता के दशम-मण्डल के ३९वें एव ४०वें सूक्तो में किया है, वह निःसन्देह भारतीय-संस्कृति की अमर-निधि है। उदाहरणार्थ ऋक्संहिता (१०।४०।१०) को ही देखें, जिसमे "घोषा" ने अश्विनीकुमारो को सम्बोधित करते हुए कहा है—"हे अश्विनीकुमारो! जो लोग अपनी पत्नी की रक्षा हेतु चिन्तातुर रहते हैं और उन्हे यज्ञादि कर्तव्यो मे लगाते हैं, उनकी स्त्रियाँ सुख से रहती हैं"। "घोषा" की स्पष्ट घोषणा है, इसी सूक्त की पांचवी ऋचा मे कि "मैं राजकुमारी "घोषा" सब ओर घूमती हुई गुणानुवाद एव चिन्तन करती हूँ"।

"घोषा" का यह कथन कितना हृदयग्राही है, जब वह ऋक्-संहिता (१०।३९।६) मे प्रार्थना करती हुई कहती है—"हे अश्विनीकुमारो! मैं तुम दोनो को बुलाती हूँ, सुनो। पिता जैसे अपनी सन्तति को उपदेश देता है, वैसे ही आप मुझे शिक्षा दें। मेरा कोई यथार्थ बन्धु नही है। मेरा कुटुम्ब भी नही है और न मेरे पास बुद्धि-बल ही है, आप मेरी रक्षा करें"।

"घोषा" द्वारा प्रतिपादित ऋक्संहिता के दशम-मण्डल के ३९वें सूक्त के मन्त्र ६, ७ और १४ से स्पष्ट है कि उस समय नारी अपने उपदेशात्मक कार्य के लिये स्वतन्त्र थी, स्त्रियाँ रथ-निर्माण मे भी दक्ष थी एव कन्याओ को वस्त्राभूषणों से अलकृत कर पति के घर भेजा जाता था। इसके अतिरिक्त ऋक्-संहिता (१०।४०।१०) मे स्पष्ट सकेत है कि उस समय नारी को यज्ञादि-अधिकार के साथ सामाजिक समादर भी सुलभ था, जिसका डिण्डिमघोष "घोषा" ने किया है।

रोमशा—

ब्रह्मवादिनी रोमशा (लोमशा) द्वारा दृष्ट ऋक्संहिता (१।१२६।६–७) सूक्त मे नारी के गौरव की चर्चा का उपदेश देते हुए कहा गया है—'नारी को अल्प गुणो वाली न समझो। यह गान्धारी के समान रोम एव अवयवो से पूर्ण है"। आगे कहा गया है—"हे प्रियतम! आप मेरे समस्त अगो का अवलोकन कर, इनमे आपको कही भी कोई अभाव दृष्टिगोचर नही होगा"।

"रोमशा" को बृहस्पति की पुत्री एव "भावभ-य" की धर्मपत्नी माना गया है। कहा जाता है कि इनके पूरे शरीर मे रोमावली थी, इसी कारण इनके विवाह-कार्य मे बाधा थी। नारी-समाज मे बुद्धि विकास का उपदेश देना इनका मुख्य विषय था। रोमशा-शब्द को सार्थकता के विषय मे कहा गया है—इस नारी के प्रत्येक रोम मे शास्त्रीय ज्ञान था, इसलिए इस नारी को 'रोमशा" कहा गया है।

सूर्या—

ब्रह्मवादिनी "सूर्या" ने अपने दृष्ट ऋक्संहिता (१०।८५) सूक्त मे विवाह-सम्बन्धी जितना सुदर विवेचन किया है, सम्भवत उसका दूसरा उदाहरण यदि अन्यत्र असम्भव नही, ता दुर्लभ अवश्य कहा जा सकता है। इस सूक्त म आध्यात्मिक, आधिदैविक एव आधिभौतिक तीनो तत्वों का सम्मिश्रण है। "सूर्या' के उपदेश का साराश है—'हे बहू! पति के घर ऐसी वस्तुओ का सग्रह करो, जो तुमको भी प्रिय हो। मैले कपडो को साफ करो। गन्दे कपडे पहनने मे और नित्य स्नान न करने से शरीर मे रोग उत्पन्न होते हैं। यदि तुम रोगी हो जाओगी, तो सम्पर्क के कारण तुम्हारे पति के शरीर म भी विविध रोग फैल जायेंगे। अत पति के हित को ध्यान मे रखते हुए नारी का स्वच्छ एव पवित्र रहना चाहिए, क्योंकि पति अपने सौभाग्य-वर्धन हेतु नारी का पाणिग्रहण करता है'। इस प्रकार सूर्या ने अपने उपदेश से गृहस्थ नारियो को सदुपदेश दिया है।

विश्ववारा—

ब्रह्मवादिनी विश्ववारा द्वारा दृष्ट ऋक्संहिता (५।२८) सूक्त का साराश है कि स्त्रियो को सावधान-चित्त से अतिथि-सत्कार करना चाहिए। अग्निहोत्री अपने पति के यज्ञकुण्ड की पूरी देखभाल करनी चाहिए—यही नारी का पुनीत कर्त्तव्य है। अग्निदेव की प्रार्थना करते हुए इस सूक्त की तीसरी ऋचा मे कहा गया है—"हे अग्नि! *महासौभाग्य की प्राप्ति हेतु आप बलवान् बनें, आपके द्वारा प्राप्त धन परोपकार मे लगे,* स्त्रियो का दाम्पत्य-सम्बन्ध सुदृढ हो एव दुष्कर्म, लोभादि पर आपका आक्रमण हो"।

अन्य ब्रह्मवादिनियाँ—

दीर्घतमा ऋषि की पत्नी, महर्षि काक्षीवान् तथा दीर्घश्रवा की माता एव प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी घोषा की पौत्री का नाम "उशिज" था, जिसने ऋक्संहिता के प्रथम-मण्डल के ११६ से १२१ मन्त्रो का सकलन किया था। इस ऋषिका की सास का नाम "ममता" कहा गया है। ऋक्संहिता के अष्टम-मण्डल के प्रथम सूक्त की ३४वी ऋचा की द्रष्ट्री "शश्वती" ब्रह्मवादिनी थी। अङ्गिरा ऋषि की पुत्री शश्वती के पति थे महाराज "आसग"। इस ऋचा मे अतीव श्रेष्ठ उपदेश है। ब्रह्मवादिनी "वाक्" अभृण ऋषि की पुत्री थी, जिन्होने ऋक्संहिता के दशम-मण्डल के १२५वें सूक्त का साक्षात्कार किया था। इस सूक्त मे अद्वैतवाद के सिद्धान्तो का प्रतिपादन है, जिनके आधार पर भगवान् शङ्कराचार्य ने अपने अद्वैतवाद का प्रचार-प्रसार किया। इस सूक्त मे नारी के पौरुष का बडा ही सजीव वर्णन है। यहाँ नारी को ही आद्या शक्ति मानकर कहा गया है—"मै जिस पुरुष की रक्षा करना चाहती हूँ, उसे और लोगो की अपेक्षा अधिक बलशाली बनाकर उसमे उत्तम मेधाशक्ति भर देती हूँ"।

यह वैदिक-संहिताकालीन सुख-सुविधाओ का ही सुफल था कि उस समय श्रद्धा-कामायनी (ऋ० १०।१५१), ब्रह्मजाया "जुहू" (ऋ० १०।१०९), शची पौलोमी (ऋ० १०।१५९) आदि अनेक ऋषिकाएँ उत्पन्न हुईं, जिन्होंने सामाजिक सुव्यवस्था हेतु अपने उपदेशो से नारी को कर्तव्य-बोध कराते हुए भारत को भा रत बनाये रखने मे अपना अमूल्य योगदान दिया।

दासी (उपपत्नी)—

संहिताओ मे "दासी" (अनार्या लडकी) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अथर्व-संहिता (१२।३।१३ एवं १२।४।९) मे दृष्टिगोचर होता है। "दासी" शब्द का प्रयोग तैत्तिरीय-

संहिता मे "गवा सत्र" के अवसर पर सिर पर पानी का कुम्भ रखकर अग्नि के चारो ओर प्रदक्षिणा करने वाली नारियो के लिए हुआ है[1]।

ऋक्संहिता (५।३४।६, ६।२२।१०, ६।३३।३, ६।६०।६, १०।३८।३, १०।८३।१ आदि) मे "दास" शब्द का प्रयोग अनेक बार दस्यु या दानव अर्थ मे आया है। इन दासो के पास उस समय अतुल चल-अचल सम्पत्ति थी, किन्तु समाज मे उनका आदर न था। आर्यो के साथ युद्ध मे जब ये दास मरते थे, तो उनकी पत्नियो को बन्दी बनाकर विजेता लोग अपने घरेलू कार्यो मे लगा लेते थे। कभी-कभी ये दासियाँ घर की उपपत्नी बनने का गौरव भी प्राप्त कर लेती थी (ऐ० ब्रा० २।९)। ऋक्संहिता मे इन्द्र से एक सौ भेडे, एक सौ गधे और एक सौ दास प्रदान करने की बात कही गयी है[2]। ऋक्संहिता (७।६।३) मे पणि और दास शब्द का प्रयोग एक साथ करते हुए कहा गया है—"यज्ञ-विमुख, कटुवक्ता, दुर्बुद्धि वाले इन पणियो को अग्निदेव दूर रखे और इनका पतन करे'। इन पणियो की विस्तृत गतिविधियो का परिचय ऋक्संहिता (१०।१०८) के "पणि-सरमा" सवाद-सूक्त मे मिलता है। ऋक्संहिता (४।२८।४) मे "विशोदासी", (ऋ० ४।३२।१०) "पुरोदासो", (ऋ० ५।३०।५) "दास-पत्नी" आदि शब्दो का प्रयोग मिलता है, परन्तु इन शब्दो का प्रयोग यहाँ घर मे काम करने वाली नारियो के अर्थ मे नही है, क्योंकि इनका प्रयोग विशेषण के रूप मे यहां हुआ है। इससे स्पष्ट है कि ऋक्संहिता के समय तक दास या दासी-प्रथा प्रचलित नही थी।

संहितोत्तर-काल मे दास-दासियो को निजी सम्पत्ति मानकर दिये जाने के भी प्रमाण मिलते हैं। उदाहरणार्थ ऐतरेय-ब्राह्मण (८।४।४४) मे—"दशनागसहस्राणि दशदासीसहस्राणि ददामि" कहा गया है। दासियो का कर्त्तव्य था कि वे अपने स्वामियो की आज्ञा का बेरोक-टोक पालन करें।

साधारणी (गणिका)—

ऋक्संहिता (१।१६७।४) मे आकाश मे कभी चमकती, कभी कड़कती और कभी छिपती हुई विद्युत् की तुलना मनुष्यो की गुप्तरूप मे रहने वाली उपपत्नी से की गयी है। यहां "साधारणी" शब्द का प्रयोग किया गया है, जो सम्भवतः

---

१ कुम्भानधिनिधाय दास्या मार्जालीय परि।
नृत्यन्ति पदो निघ्नतीरिदं मधु गायन्त्य ॥ (तै० स० ७।५।१०।१)

२ शत मे गर्दभाना शतमूर्णावतीनाम्।
शत दासा अति स्रज ॥ (ऋ० ८।५६।३)

उस समय की नगर-वधुवो (वेश्याओ) का परिचायक है। "नर्तकी" (ऋ० १।९२।४) और "गर्ताहगिव सनये" (ऋ० १।१२४।७) आदि शब्दो का प्रयोग भी किया गया है, जिनसे उस समय की सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र नारियो का बोध होता है, जो अपने निजी स्वार्थ हेतु पर-पुरुष का ससर्ग करती थी। अथर्वसहिता के चौदहवें तथा बीसवें काण्ड मे अनेक बार नग्नी, महानग्नी, पुश्चली (व्यभिचारिणी) आदि शब्दो का प्रयोग हुआ है, जिससे उस समय की गणिका-वृत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है।

"अतीतवरी" शब्द का प्रयोग मनचली महिला के लिये वाजसनेयि-सहिता (३०।१५) मे और "रामा" शब्द का प्रयोग तैत्तिरीय-सहिता (५।६।८।३) मे हुआ है।

नारी-समाज की भूरि भूरि प्रशसा करने वाली वैदिक-सहिताओ मे यत्र-तत्र नारी की निन्दा परक उक्तियाँ भी मिलती है। यथा—ऋक्सहिता (१०।९५।१५), जिसमे नारियो के हृदय को तुलना भेड़िये के हृदय के साथ की गयी है और मैत्रायणी-सहिता (१।१०।११) मे नारियो को असत्यवादिनी कहा गया है। लगता है कि ये कथन सभी नारियो के लिये नही थे; अपितु उपर्युक्त साधारणी आदि नारियों के लिए ही प्रयुक्त होते थे, जो स्वतन्त्र-बुद्धि से अपना जीवन-यापन करती थी।

नारी-कृत्या-परिहार—

वैदिक-सहिताओ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय कुछ अभिचारो (जादू-टोनो) का भी प्रचलन था। इन अभिचारों के दो प्रकार थे—एक तो मगल-कारक थे, जिनके द्वारा व्यक्ति अपने स्वास्थ्य, सुख-समृद्धि की पूर्ति करता था, दूसरे प्रकार के वे अभिचार थे, जिनमे अपने प्रतिद्वन्दियो का उच्चाटन, मारण या वशीकरण किया जाता था। दोनो प्रकार के अभिचारो के मन्त्र सहिताओ मे मिलते हैं। विशेषकर इस प्रकार के मन्त्रो का सग्रह "अथर्वाङ्गिरस" के नाम से जाना जाता है।

नारी के कर्त्तव्य-परिपालन के प्रसग में यहां कृत्या-परिहार की चर्चा करना नितान्त आवश्यक है। कृत्या क्या है? जीव को क्यों पकड़ती है? यह एक भिन्न विषय है, जिसका विचार एक स्वतन्त्र विषय हो सकता है। यहाँ तो नारी के विषय मे चर्चा है, जहाँ ऋत्विज् ऋक्सहिता (१०।८५।२४) मे विवाह के समय कहता है—"मैं वधू को वरुण के पाश-बन्धन से मुक्त करता हूँ और सत्य कर्मो वाले पतिगृह मे प्रतिष्ठित करता हूँ"। "पितृकुल से पृथक् करता हूँ" (ऋ० १०।८५।२५) वाक्य और इसके अनन्तर (ऋ० १०।८५।२७) "पति के साथ अपने शरीर का सम्पर्क करो" वाक्य निश्चित ही विचारणीय हैं।

पति के घर मे पहुँचने के बाद और पति से संसर्ग करने से पूर्व कृत्या-अभिचार किया जाता था। इस अभिचार-देवता का रंग नील-लोहित कहा गया है। जब तक इसका परिहार नही होता था, तब तक कन्या के सम्बन्धियो की सुख-समृद्धि अवरुद्ध रहती थी। कृत्या के हटने के बाद ही पति अपनी पत्नी से सम्पर्क करता था। कृत्या-अभिचार की पूर्ति के लिए आवश्यक था कि कन्या अपने पितृकुल से जिन वस्त्रो को पहनकर आयी है, उनका परित्याग करे। ऐसी धारणा थी कि यदि कन्या अपने पितृकुल वाले इन वस्त्रो मे पति के पास जायेगी, तो कृत्या का दोष पति को भी लग जायगा। इस प्रायश्चित्त के समय नारी के हाथ से ब्राह्मणो को दान दक्षिणा भी दिलाई जाती थी।

निष्कर्ष—

"कृत्या" के इस क्रिया-कलाप का निष्कर्ष हमारी दृष्टि मे यह है कि नारी अपने पति के घर आकर सर्वतो-भावेन उसकी हो जाये। सविता की आज्ञा से वरुण-देव जीव-मात्र को अपने पाशो मे बाँधते हैं। इस नियम के अनुसार वरुण ने कन्या को उसके पितृकुल मे बाँधा था और अब विवाह के समय स्वय ही मुक्त कर दिया है। इस मुक्ति के बाद अब कन्या पितृकुल की जाति, वश, गोत्र को छोडकर वर के गोत्रादि की हो जाती है। पितृकुल से पहनकर आये वस्त्रो के परित्याग का अर्थ स्पष्ट है कि वधू बनी इस कन्या को अब अपने पितृकुल की चिन्ता नहीं, अपितु पतिकुल की चिन्ता करनी है। यहाँ आकर भी यदि वधू अपने पितृकुल के कल्याण की चिन्ता करती हुई वर-पक्ष की अवहेलना करती थी, तो उसे कृत्या दोष लगा रहता था।

लगता है कि कृत्या-परिहार की इस परम्परा से पतिव्रता नारियो को उपदेश दिया जाता था कि वे अपने पति के घर की साम्राज्ञी हैं और अपने सद्व्यवहार से उन्हे इस घर को स्वर्ग बनाना है, जो उन्हे सौपा गया है।

परिशीलन—

वैदिक-सहिताएँ आर्यभावना को वहन करती है। ये विदग्ध मन की मननोत्तर भाव-भाषा से सुसम्बद्ध रूप मे अवस्थित हैं। वैदिक-सहिताओ का प्राक्तन इतिहास एवं इसका प्रणेता अलक्ष्य है और परवर्ती इतिहास भी अज्ञात है, किन्तु यह वही साहित्य है, जिसके सुनिश्चित सिद्धान्तो का प्रभाव आज भी विश्व के जन-जन एव कण-कण पर परिव्याप्त एव जीवन्त है। आर्यभावना के इतिहास के अनुधावन में पुरातत्त्व एक शृङ्खलाबद्ध सुसम्बद्ध इतिहास को प्रस्तुत करता है। अतः यह गङ्गोत्री के हिमवाह के समान न केवल कन्याकुमारी से कश्मीर तक के सांस्कृतिक एवं

सामाजिक तत्त्वों का बोधक है, वरन् ध्रुवपद के रूप में विश्व की संस्कृति का धारक एवं पोषक है। हम लोगो के पूर्ववर्ती मनीषियों ने मुख्यत दो दृष्टियाँ सर्वप्रथम सम्मुख रखी हैं—(१) वेद स्वतः प्रमाण, (२) वेदोत्तर सामाजिक भावनाओं के आलोक में इसके तात्पर्य का उद्भावन, किन्तु इन दोनों तथ्यों की सिद्धि के लिए वेद में ही अवगाहन करना अनिवार्य है। दीर्घयुगवाहित आदिमानव के अस्पष्ट मनन के प्रतिबिम्ब के रूप में वेद की ऋचाओं का अवलोकन तथ्य से कहीं दूर किसी अज्ञानान्धकार के गर्त में निमज्जन की ओर आलोक-सम्पात करेगा। अत युग युग से आती हुई सुनियन्त्रित भावना और साधना के परिप्रेक्ष्य में ही अवलोकन से विश्व-मानव के चित्त के प्रकर्ष कतिपय अनतिवर्णनीय सङ्केत की अवधारणा का सामर्थ्यलाभ कर सकते हैं। प्राण धर्म के साथ संकेतित वस्तु ही तो सनातन है। अध्यात्म प्रगति के क्षेत्र में इसकी उपयोगिता अरविन्द के अनुसन्धान के बाद भी आज अवशिष्ट है; किन्तु, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में इसकी साङ्केतिक दृष्टि का ऊहापोहात्मक अनुसन्धान इस अध्याय की मुख्य पृष्ठभूमि है।

पाश्चात्य दीक्षा से अनुप्राणित व्यक्तियों का यह कथन भी पुन पुन. सुनने को मिलता है कि सामाजिक जीवन के लिये अपेक्षित ज्ञान की सामग्रियाँ, अर्थात् व्यवहार में आने वाली बातें वेद में नहीं हैं। अत अन्य ग्रन्थों की शिक्षा के बिना मनुष्य सामाजिक स्तर ही नहीं बना सकता, किन्तु अध्ययनकाल में पाश्चात्यों के आरोप एवं उन्हीं के चश्मे से उपलब्ध भारतीय मनीषियों की दृष्टियों को आक्षेपरूप में मानकर वैदिक ऋचाओं के अनुशीलन से आपात रमणीय ये आक्षेप सर्वथा निरस्त हो गये। जीवन के आगमन की भूमिका के साथ वैदिक मन्त्रों का अक्षुण्ण प्रवाह मरणोपरान्त भी चलता ही रहता है। यह सत्य है कि आकस्मिक रीति-कलापों के महत्त्व, जो समय समय पर स्थान-विशेष या जाति-विशेष की उपलब्धि हैं, वे वेद में नहीं हैं, क्योंकि वे आगन्तुक हैं, अविनीत शिष्टाचार हैं। इसका प्रधान कारण गोत्र और गुरुपरम्परा का अतिशय महत्त्व होने के कारण उस काल में एक उद्देश्य में लगे हुए व्यक्तियों के साथ कौटुम्ब व्यवहार होता था और यह धर्मशास्त्र के युग के विकासक्रम में सुस्पष्ट है—"ये बान्धवा बान्धवाश्च येऽन्यजन्मनि बान्धवा." के आधार पर यहाँ का क्रियाएँ चलती थीं, जिनका अवशेष आज भी तर्पण के मन्त्रों में अवशिष्ट है। पञ्च महायज्ञों में जितना महत्त्व देव-यज्ञ का था, उससे अन्यून महत्त्वशाली अतिथि-यज्ञ नहीं था। होटल में आवास की बाध्यता उस युग में नहीं थी। मृत्यु को भी अतिथि की ब्रह्माग्नि से दग्ध होने की चिन्ता अपरिहार्य थी और वह अतिथि की सेवा में सन्नद्ध होता था। फलत यह कहा जा सकता है कि वैदिक-भावनाएँ खण्ड या भेद पर आधृत न थीं, वरन् अखण्ड, अभेद और एकात्मवाद

पर प्रतिष्ठित थी। अन' आज को खण्ड की सत्यता के परिप्रेक्ष्य मे सामाजिक नियमो का अभाव वेद मे स्वाभाविक ही है। ब्राह्मभेद के आधार पर स्थित सामाजिक व्यवस्था व्यष्टिगत चिन्तन की भूमि है, जो आर्य-भावना के विपरीत है।

वेदो के समस्त शब्दो के अर्थ का अपरिज्ञान ही मानवोपयोगी आवश्यक ज्ञान-बीज के अभाव का सूचक है। स्वाध्याय समाप्त है, शिक्षा के बिना कल्पित ज्ञान कितने दिनो तक उसकी श्री को समृद्ध रख सकता है। आरोपित, कल्पित रीति-रिवाजो की उपेक्षा कर मन्त्रो की पुन पुन आवृत्ति स गृहस्थ जीवन का मूलाधार अवश्य ही मिलेगा। प्राथमिक जीवन मे वैदिक-अध्ययन के बाद गृहस्थ जीवन मे प्रविष्ट होने से वेद की मूल-भित्ति पर जीवनधारा प्रवाहित थी और आज जीवन अध्ययनशून्य अज्ञान की मूल-भित्ति पर अवस्थित है, अत इस अज्ञान का मूलाधार वेद मे कैसे सुलभ हो सकता है।

लोकमान्य तिलक के "ओरायन" ग्रन्थ के अध्ययन में यह सुविदित है कि वेद किन्ही नियमो के बाद नही बने, प्रत्युत उनस आवश्यक नियम सुलभ हुए और जीवन को नियन्त्रित किया गया। यज्ञोपवीत को ही ल, जिसका जीवन से ही नही, सभी आश्रमो के अग्रज एव ज्ञानप्राप्ति के मूल रूप म निर्देश है। "अष्टवर्षं ब्राह्मण-मुपनयीत तमध्यापयीत च"। यज्ञोपवीत विद्यारम्भ के लिए व्रत का धारण है। इस व्रत का मूल वेद के संहिताभाग मे ही उपलब्ध है। जीवन मे एक ऐसा ऋत = नियम था, जो उसके सत्य का अभिधान करता था। एक माला और मेखला के रूप में ब्रह्मचर्य-व्रत का यह ऋत था, जो उसे सत्य-ज्ञान की ओर अग्रसर करता था। गले, कन्धे और कटि से इसका सम्बन्ध स्वाभाविक भी है, यद्यपि पारसी इसे कटि से ही सम्बद्ध रखते थे। गोत्रों की वृद्धि के साथ इसका विकास विस्तार अस्वाभाविक नही है। लडका यज्ञोपवीत के साथ पढने जाने लगे और बहन शादी आदि का लोभ देकर उसे घर म रहने को बाध्य करें और आप इसका मूलाधार वद की संहिताओ म खोज, तो यह एक विडम्बना होगी।

भारतीय साहित्य नारी-जीवन के कर्त्तव्य की गाथा है। वद हो या परवर्ती साहित्य, सर्वत्र अधिष्ठात्री देवी के रूप मे इनकी परिव्याप्ति है। देवत्व अखण्डशक्ति की परिव्याप्ति एव दीप्ति की आभा है। देवत्व का सुसम्बद्ध रूप अदिति के जननीत्व की सूचना है। "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष" (ऋ० १।८९।१०) मन्त्र मे 'दा-अवखण्डने' अवखण्डनार्थक दो-धातु से दिति और अखण्ड सत्य के रूप म अदिति निष्पन्न है और उसी अखण्ड सत्य के रूप मे देदीप्यमान प्रतीक आदित्य है। आगे महाभारत के वर्णन मे लिखा गया है कि—"गान्धारी की धर्मशीलता, कुन्ती की धीरता और विदुर की प्रज्ञा ही द्वैपायन का महाभारत है"—

विस्तारः कुरुवंशस्य गान्धार्य्याः धर्मशीलताम् ।
क्षत्तुः प्रज्ञा धृति कुन्त्याः सम्यग्द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥

रामायण, जिसे आचार्यो ने करुण-रसप्रधान माना है, उसके विश्लेषण के प्रसङ्ग मे भी कहा गया है—

"कृत्स्न रामायण प्रोक्तं सीतायाश्चरितं महत्" ।

इन विश्लेषणो के आधार पर यह स्पष्ट है कि भारतीय-सस्कृति ने नारियो के कर्त्तव्यो को अतिशय कठोर कर दिया है। आचार्य श्रीहर्ष ने दमयन्ती के मुख से कहलवाया है—"परेण पुसा हि ममापि सकथा कलावलाचारसहासनासहा" । इस प्रकार विश्व के कण-कण के साथ वज्र से कठोर एव पुष्प से भी सुकुमार आचरण की बाध्यता नारी-जीवन का वैशिष्ट्य है। इनके महनीय त्यागमय जीवन से भारतीय गौरव-गाथा देदीप्यमान है। सस्कृति, मूर्त-विग्रह और भारतीय-सस्कृति की प्रतिकृति अक्षुण्ण रूप से इनके जीवन मे लक्षित है। इनकी दूरदर्शिता, हृदय के अन्त स्थल की गम्भीर मूक-वेदना का प्रकाशन कतिपय शब्दो मे सम्भव नही है। लोक-चेतना से समर हेतु अपने पति और पुत्र को विदाई देते हुए ममता की अधिष्ठात्री देवी को थोडा भी सङ्कोच नही होता । कभी-कभी "सर्वोपकारकरणाय सदार्द्र-चित्ता" के रूप मे करुणा से ये इतनी अभिभूत हो जाती है कि अपनी सन्तति का बलिवेदी पर समर्पण करते हुए भी आनन्दातिरेक का अनुभव करती है। भारतीय वैदिक-नारियो के चरित्रो का दिग्दर्शन करने के लिए कवि की बाध्यता उनकी वाणी को सफलता के लिए ही है—

वाग्जन्यवैफल्यमसह्यशल्यम् ।
गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत् ॥ (नै० ८।३२)

नारी की ज्ञान दीप्ति एवं विश्व के उद्वोधन की भूमिका के दिग्दर्शन "वाक्" (ऋ० १०।१२५) सूक्त के कतिपय मन्त्रो मे होते हैं, जिनका भावार्थ है—"जीव पुन-पुन. जन्म-मृत्यु के घात-प्रतिघात से, रोग-शोक के अनुपात की मर्मभेदी पीड़ा से, चचलता के घोर आवर्तन से मथित-दलित-छिन्न-मर्म होकर, हताशा के साथ उष्ण, दीर्घ नि.श्वास का परित्याग कर रहे है, परन्तु मैंने तुम्हारे लिए अपना विशाल वक्ष.स्थल अनावृत कर दिया है और अनन्त भुजाओ का प्रसारण कर तुम्हारे पीछे दौड़ रही हूँ। तुम मेरी सन्तति हो, मैंने तुझे कभी भी अपनी गोद से दूर नही किया है। यहां दुःख और सन्ताप कहाँ ? जिसे देखकर तुझे भीति और आशङ्का है, वह मेरा ही स्तन्य है, सत्य उद्भासित है, ज्योति से दिङ्मण्डल उद्भासित है, मधुमय व्योम मातृमुख से मुखरित है और अन्तरिक्ष प्रणव-नाद से परिपूरित है, मातृगोद

को अमृत सञ्जीवनी-धारा मे अवगाहन करो और अभेद की अनुभूति के साथ जीवन के आनन्द की उपलब्धि करो" ।

आत्मा-परमात्मा की अभेदात्मक शक्ति का स्वरूप ही तो नर-नारी का स्नेह-बन्धन है, जिसे उपर्युक्त सूक्त मे "वाक्" देवी ने स्पष्ट किया है। केवल आत्मज्ञान से यदि कार्य चल जाता, तो माया की सृष्टि की आवश्यकता ही नही होती। ठीक इसी प्रकार नर के कर्त्तव्यो के विना नारी और नारी के कर्त्तव्यो के परिपालन के विना स्रष्टा की सृष्टि का चलना असम्भव है। सच तो यह है कि जिस प्रकार आत्मा और माया की अभेद-भूमि मे विश्वहित की भावना निहित है, उसी प्रकार नर-नारी की एकात्मकता पर ही गृहस्थ-जीवन आश्रित है। यदि इसे कोई स्वीकार नही करता, तो अन्त मे यही कहना पडेगा—"नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति" ।

———

अष्टम अध्याय

नारी का सम्बन्धगत समादर

नारी और परिवार—

सृष्टि के विकास मे परिवार, समाज की एक ऐसी इकाई है, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी प्रारम्भिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। सामाजिक प्राणी होने के कारण व्यक्ति अकेला रहना पसन्द नही करता। अपनी इस स्वाभाविक प्रवृत्ति की पूर्ति या अभिव्यक्ति हेतु वह सर्वप्रथम विपरीत-लिंगी (नारी) के साथ रहने की इच्छा व्यक्त करता है (ऋ० १०।८५।२५), जहाँ उसे सुख-साधनिका सन्तति की सम्प्राप्ति सम्भाव्य लगती है। इसी परिप्रेक्ष्य मे नारी को मगलमय आशीर्वाद मिलता है कि "वह (नारी) पतिगृह मे पुत्र-प्रसवा होकर सुखी जीवन के साथ पति मे अगाध स्नेह रखती हुई वृद्धावस्था तक अपने घर की सचालिका बनी रहे" (ऋ० १०।८५।२७)। यही से नारी का पारिवारिक जीवन आरम्भ होता है। यह सच है कि व्यक्ति परिवार की सदस्यता के बाद ही समाज की सदस्यता से परिचित होता है।

परिवार की सदस्यता के कारण पति-पत्नी के रूप मे परिणत नर-नारी के सयोग का उद्देश्य केवल सन्तानोत्पत्ति ही नही; अपितु उसके भरण-पोषण का गुरुतर उत्तरदायित्व भी माना गया है। किसी परिवार मे पति-पत्नी और बच्चो के अतिरिक्त दादा-दादी, भाई-भावज एव भतीजे आदि भी होते है, जैसा कि ऋक्सहिता (१०।८५। ४२, ४६) मे उल्लेख किया गया है। परिवार के सभी सदस्यों का घनिष्ठ सम्बन्ध मानव-जीवन से होता है, इसलिये उनका आपसी मेल-जोल आवश्यक माना गया है। सहिताकालीन पति-पत्नी एक दूसरे के पूरकरूप मे कार्य करते थे, फलत. परिवार और समाज का सर्वांगीण विकास घटित होता था (ऋ० १०।८५।४३,४४,४७)।

ऋक्सहिता मे ब्रह्म और जीव के आपसी सम्बन्धो को व्यक्त करने वाली ऋचा वस्तुत. पति-पत्नी के सम्बन्धो की परिचायिका है, जिसमे कहा गया है कि "ये दोनो एक डाल पर बैठने वाले पक्षी हैं, दोनो मे मित्रता है और एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं"[1]। वस्तुतः परिवार की इकाई मे पति-पत्नी दो होकर भी एक हैं और एक होकर भी दो है, जिन्हे पुरुष और प्रकृति के परिवर्तित नाम नर-नारी से पुकारा जा सकता है।

---

१ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते। (ऋ० १।१६४।२०)

यह नारी ही है, जो अपने विनय, सन्तोष, धीरता, गम्भीरता, सहनशीलता, श्रमशीलता, मितव्ययिता आदि सहज गुणो से परिवार की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने तथा सभी को एक सूत्र मे बाँधे रखने की अपूर्व शक्ति रखती है। नारी को धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी पुरुषार्थ-चतुष्टय की साधिका कहा जा सकता है, क्योंकि यह परिवार की प्रत्येक समस्या का समाधान अपने हृदय मे संजोये हुए अन्त म पति के साथ परमपद प्राप्त करती है।

समीक्षण—

कन्यादान के पूर्व कन्या का पिता जब "परस्पर समीक्षेथाम्" कहता है, तो उस समय की वरोक्तिया भी नारी के प्रति नर के अगाध समादर की प्रमाण हैं, जिनमे कहा गया है—"हे वधू! तुम इस घर मे कल्याणकारिणी होकर सबका मगल करो। घर मे रहने वाले सभी लोग और जानवर तुम्हारे सद्व्यवहार से प्रसन्न और सुखी हो। प्रसन्नचित्त, प्रभावयुक्त तुम सदा देवताओ की उपासिका एव वीर-प्रसवा बनो"[1]।

समञ्जन—

संहिताकाल मे कन्यादान से पूर्व "समीक्षण" की तरह ही कन्या का पिता भावी पति-पत्नी का विवाह-मण्डप मे "समञ्जन" भी करवाता था। सम्भवत. समञ्जन की यह प्रक्रिया उस समय के समाज मे प्रचलित आज की उबटन आदि लगाने की तरह की कोई विधि रही होगी, जिसको पूर्ण करते हुए वर कहता था—"जल, वायु आदि देवगण हमे एक रखें और सभी लोग हमे पारस्परिक प्रीतिवाला बनाये"[2]। इस समञ्जन की प्रथा का चाहे और जो भी उद्देश्य रहा हो, इतना तो स्पष्ट है कि इस विधि मे उस समय के भावी दम्पति का स्नेह और साहचर्य अभिव्यक्त होता है।

वर की वैवाहिक प्रतिज्ञाएं—

वर-कन्या का चयन, समञ्जन, समीक्षण आदि समस्त कार्य कन्यादान के पूर्व घटित होने वाले कार्य हैं, जिनमे नर-नारी को यह सुअवसर उपलब्ध रहता है कि व एक दूसरे को प्रेम-पाश मे बांधने से पूर्व अच्छी तरह समझ ले, क्योंकि आर्ष-विवाह का कार्य जोड़ने का है, तोड़ने का नही। यही कारण है कि विवाह मे पति अपनी

---

१ ऋ० १०।८५।४३-४५।

२ समञ्जन्तु विश्वे देवा· समापो हृदयानि नौ।
स मातरिश्वा स धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥ (ऋ० १०।८५।४७)

पत्नी का हाथ पकड़कर कहता है—"हे वरानने ! मैं तुम्हारे और अपने सौभाग्यवर्धन के लिये तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ। वृद्धावस्था तक तुम मेरा साथ देना, यही मेरी प्रार्थना है। भग, अर्यमा, सविता, पुरन्ध्रि आदि देवताओं ने गृहस्थ धर्म की सुरक्षा तथा उसके सुचारु सचालन हेतु तुम्हें मुझे दिया है"[1]। इसी भाव को आगे चलकर पारस्कर-गृह्यसूत्र (१।६।३) में दूसरे शब्दों में वर्णित करते हुए कहा गया है—"हे वधू ! जैसे मैं तुम्हें ग्रहण करता हूँ, वैसे ही तुम भी मुझे ग्रहण करती हो। मैं साम हूँ, तो तुम ऋक्संहिता हो, यदि तुम पृथिवी हो, तो मैं सूर्य के समान हूँ। आओ, हम दोनों प्रसन्नता पूर्वक एक दूसरे के प्रति रुचि, समान विचार रखते हुए सौ वर्ष तक जीयें"।

पति-द्वारा आदर—

अथर्वसंहिता में पति द्वारा पत्नी के समादर में कहे गये कतिपय मन्त्र—"हे प्रिये ! ऐश्वर्यरूप तुम्हारे हाथ को मैं ग्रहण करता हूँ। आज से तुम मेरी धर्मपत्नी हो और मैं तुम्हारा पति हूँ। हम दोनों मिलकर घर के सभी कार्यों का सम्पादन करें, जिससे हमारे सब कार्य सिद्ध हो सकें और हमारे यहाँ उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य, सुख आदि की वृद्धि होती रहे"[2]। "हे अनघे ! सम्पूर्ण जगत् का पालन करने वाले परमात्मा ने तुमको मुझे अर्पित किया है। अत. तुम मेरे साथ सौ वर्ष तक सुखी जीवन व्यतीत करो"। "हे शुभानने ! त्वष्टा ने इस कल्याणकारी वस्त्र को बृहस्पति की आज्ञा से निर्मित किया है। यह त्वष्टा (बिजली) जिस तरह सर्वत्र व्याप्त होकर सुशोभित है, वैसे ही तुम मेरे द्वारा अलंकृत होकर सर्वत्र सुख प्राप्त करो"। वर की उत्कट अभिलाषा है कि अश्विनीकुमार, इन्द्र-अग्नि, मित्र-वरुण, आकाश-पृथिवी आदि देवता नारी का सन्तति आदि से सदा समृद्ध करें (अथर्व० १४।१।५४)। इसी प्रकार अथर्वसंहिता के १४वें काण्ड के प्रथम अनुवाक् के ५७वें मन्त्र में वर अपनी पत्नी से कहता है—"हे कल्याणि ! जैसे मैं कुल की वृद्धि हेतु तुम्हारे प्रेम में निमग्न हूँ, वैसे तुम भी मेरे प्रति अनुरागवती बनो"।

---

१ गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथास ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्य त्वादुर्गार्हपत्याय देवा. ॥ (ऋ० १०।८५।३६)

२ भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥
ममेयमस्तु पोष्या मह्य त्वादाद् बृहस्पति ।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरद. शतम् ॥
त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पते प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्ता प्रजया ॥ (अथर्व० १४।१।५१–५३)

नारी का साम्राज्ञीत्व—

संहिताकालीन नारी के गौरव को द्योतित करते हुए कहा गया है—जिस प्रकार शक्तिशाली सागर, नदियो पर शासन करता है, वैसे ही तुम अपने पति के घर पहुँचकर महारानी बनो। इस घर में तुम सास-श्वसुर, देवर, ननद मे साम्राज्ञी बनकर रहो"[1]।

वैदिक-संहिताओ मे पति को घर का सम्राट् और पत्नी को साम्राज्ञी कहा गया है। संहिताओ मे जहाँ-जहाँ पत्नी का वर्णन आया है, प्राय उसे साम्राज्ञी, महिषी आदि सम्मान-जनक शब्दो से पुकारा गया है। नारी-समाज के प्रति इस प्रकार के सम्मानप्रद तथा पूज्य भावो की उपलब्धि आर्य ग्रन्थो को छोडकर अन्यत्र यदि असम्भव नही, तो दुर्लभ अवश्य कही जा सकती है। पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम को व्यक्त करते हुए कहा गया है—"ये पति पत्नी आपस मे चकवा-चकवी की तरह प्रेम करते हुए पूर्ण आयु को प्राप्त करें"[2]।

ऋक्संहिता (१०।८५।३३) मे अपनी नव-वधू पर गर्व करता हुआ वर मण्डप मे ही अपने सम्बन्धियो से कहता है—"आप लोग इस मगलमयी वधू को अच्छी तरह देखें और अपना आशीर्वाद देकर ही अपने-अपने घर वापस जाये"। इसके पश्चात् वैवाहिक-कार्य सम्पन्न कर वर-वधू जब अपने घर जाते है, तो वहा वर अपनी नव-वधू का स्वागत और समादर करता हुआ कहता है—"हे वरानने! चक्रवर्ती सम्राट् की पत्नी की तरह तुम इस घर मे माता पिता और भाई-बहनो पर अविरोध-पूर्वक प्रीति से उनके हृदयो को अपने सद्व्यवहार से जीतती हुई शासन करो"[3]।

ऋक्संहिता मे एक जुआरी अपनी पत्नी के सम्बन्ध मे पश्चात्ताप करता हुआ कहता है—"मेरी यह सुन्दर सुशीला स्त्री मुझसे कभी भी किसी बात पर आज तक रुष्ट नही हुई। इसने सदा मेरी और मेरे सम्बन्धियो की सेवा की

---

१ यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥
सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥ (अथर्व० १४।१।४३-४४)

२ इहेमाविन्द्र स नुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम्॥ (अथर्व० १४।२।६४)

३ सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ (ऋ० १०।८५।४६)

है, किन्तु इन पासों ने अब मुझमें अत्यन्त अनुराग रखने वाली भार्या से भी विरक्त कर दिया है"[१]। जुआरी इस बात पर दुःखी है कि उसके इस आचरण के कारण उसे अपनी सास एवं पत्नी के स्नेह से वंचित होना पड़ा है। जुआरी को इस बात की गहरी चिन्ता है कि *उसके इस व्यवहार से उसकी धर्मपत्नी का चरित्र भी* उज्ज्वल नहीं रह पाता; क्योंकि अन्य विजेता जुआरी आकर उसकी पत्नी से हँसी-मजाक करने लगते हैं[२]।

जुआरी अपनी स्त्री की इस दुर्दशा पर उस समय विशेष रूप से सन्तप्त होता है, जब वह और लोगों की स्त्रियों को अच्छा खाता-पीता एवं पहनता हुआ देखता है[३]। भार्या को प्रसन्न रखने के लिए जुआरी को जुआ छोड़कर कृषि करने को कहा गया है (ऋ० १०।३४।१३)।

परिवार में सब सुखी रहें—

गृहस्थाश्रम को स्वर्गाश्रम बनाने की भावना से ही वैदिक-संहिता में कहा गया है—"पुत्र, माता-पिता के अनुकूल हो, पत्नी अपने पति के साथ मधुर और शान्ति-दायक वचन बोले, घर में पिता-पुत्र एवं माता का सन्तति के साथ संघर्ष न हो, भार्या और भर्ता में सौमनस्य हो। भाई-भाई और बहन-बहन आपस में कभी भी द्वेष न करें, अपितु एकमत और एकव्रत वाले होकर शुभ वाणी बोलते हुए सुख के भागी बनें"[४]।

परिवार को सुखी रखने के लिए *सौ हाथों से कमाने और हजार हाथों से* बाँटने को कहा गया है—"शतहस्त समाहार सहस्रहस्त संकिर" (अथर्व० ३।२४।५)। ईश्वर द्वारा प्रदत्त वस्तु का उपभोग करने और दूसरे के धन के प्रति निःस्पृह रहने से समाज सुव्यवस्थित रहता है (यजु० ४०।१)। केवल अपने स्वार्थ में रहने वाले व्यक्ति को ऋक्-संहिता (१०।११७।६) में "केवलाघो भवति केवलादी" कहा गया है। अन्न-याचना करने वाले को भोजन कराने से दीर्घ-पुण्य की प्राप्ति होती है (ऋ० १०।११७।५)।

---

१ न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्॥ (ऋ० १०।३४।२)

२. अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः। (ऋ० १०।३४।४)

३ स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्। (ऋ० १०।३४।११)

४ अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ (अथर्व० ३।३०।२-३)

सात मर्यादाएँ—

संहिताकाल मे समाज की इस प्रथम इकाई (परिवार) को ठीक रखने के लिए वैवाहिक सप्तपदी की तरह सात मर्यादाओ की घोषणा भी की गयी है, जिनका पालन जनहित की दृष्टि से नर-नारी के लिये सदा आवश्यक रहा है[1]। हमारी दृष्टि से इन सात मर्यादाओ मे "अहिंसा" का प्रथम स्थान है, जिसका वर्णन यजु-संहिता (१२।३२) मे किया गया है और इस मर्यादा की पुष्टि मे "मांसाहार" का निषेध अथर्वसंहिता (२।२४।१) मे दृष्टिगोचर होता है। "सत्य" को ग्रहण करना एव असत्य का परित्याग करना दूसरी मर्यादा मानी गयी है (यजु० १।५)। "अस्तेय" को तीसरी मर्यादा मानते हुए चोरी करना पाप माना गया है (अथर्व० १४।१।५७)। "शौच" को चतुर्थ मर्यादा की संज्ञा देते हुए कहा गया है—"जो लोग अन्दर-बाहर से पवित्र रहते है, वे दीर्घजीवी, नीरोग होकर सभी प्रकार के साधनो से सम्पन्न रहते हैं" (ऋ० १०।१८।२)। "ब्रह्मचर्य" को पाचवीं मर्यादा मानते हुए इसके परिपालन मे अद्भुत् शक्ति का परिचय दिया गया है (अथर्व० ११।५।१९)। "स्वाध्याय" को छठी मर्यादा मानते हुए वेदाध्ययन एव उसके अनुकूल आचरण करने को कहा गया है (ऋ० ९।६७।३१)। "ईश्वर-स्मरण" को सातवी मर्यादा मानते हुए सर्वतोभावेन ईश्वर के आगे आत्म-समर्पण की बात कही गयी है (ऋ० १।५७।४)।

उपर्युक्त सात मर्यादाओ के अतिरिक्त परिवार की पवित्रता, सुख और समृद्धि के लिये संहिताओ मे "मद्यपान" का पूर्ण निषेध वर्णित है[2]। "जुआ निषेध" हेतु तो ऋक्संहिता (१०।३४) के पूरे सूक्त म जुआरी के घर की हृदयविदारक दशा का वर्णन किया गया है, जिससे अन्य परिवार के लोगो को शिक्षा मिलती है कि वे इस अधम एव निकृष्ट खेल से अपने को पृथक् रखें।

नारी-अनादर का परिणाम—

ब्रह्मचर्य-व्रत द्वारा ही श्रेष्ठ जाया (स्त्री) की प्राप्ति सम्भव है, इसका प्रतिपादन अथर्वसंहिता में किया गया है[3]। ऐसे दम्पति (नर-नारी) की अभिवृद्धि हेतु परिजनो द्वारा प्रार्थना की जाती थी कि "यह वर-वधू दूध तथा अन्य राष्ट्र के

---

१ सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ (ऋ० १०।५।६)

२ हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते ॥ (ऋ० ८।२।१२)

३ ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥ (अथर्व० ५।१७।५)

अपरिमित साधनो के साथ आगे बढ़ें"[१]। त्वष्टा ने जाया को उत्पन्न किया और यह जाया ही पुन पुत्रोत्पत्ति का कारण बनती है, इसका समर्थन अथर्वसंहिता मे दृष्टिगोचर होता है[२]।

पत्नी की अवहेलना तथा सन्ततिनिरोध से राष्ट्र की अतुलनीय और अपूरणीय क्षति होती है। इसका विस्तृत वर्णन अथर्वसहिता (५।१७।११-१७) मे किया गया है[३]। इतना ही नही जाया रहित (अविवाहित) व्यक्तियो से भी राष्ट्र की क्षति होती है, इसका वर्णन भी किया गया है[४]।

विश्व के इतिहास मे वैदिक-सहिताओ को छोड़कर सम्भवतः दूसरा ग्रन्थ नही होगा, जिसमे नारी के सम्मान को इतना बडा महत्त्व दिया गया हो। जहाँ नारियो का सम्मान नही होता, वहाँ विपत्तियाँ अपना साम्राज्य स्थापित कर लेती है और अन्त मे नारी (जाया) का अपमान जगत् के विनाश का कारण बन जाता है[५]।

तेजस्विनी पत्नी की कामना—

ब्रह्माण्ड के दो चक्रो की तरह नर-नारी जगत्-जीवन के दो साधन हैं। इन दोनो की समता को विकास और विषमता को विनाश कहा जा सकता है। यही कारण है कि सूर्या के समान तेजस्विनी नारी की कामना की गयी है[६]। तेजस्विनी नारी के द्वारा भौतिक पदार्थो की कौन कहे, स्वर्ग को प्राप्ति भी सम्भव है। इसी

---

१ तेन भूतेन हविषाऽयमा प्यायता पुन.।
जाया यामस्मा आवाक्षुस्ता रसेनाभि वर्धताम्॥ (अथर्व० ६।७८।१)

२ त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टाऽस्यै त्वां पतिम्।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायु कृणोतु वाम्॥ (अथर्व० ६।७८।३)

३ पुनर्दाय ब्रह्मजाया कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम्।
ऊर्ज पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते॥
नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शय।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यत ब्रह्मजायाचित्त्या॥ (अथर्व० ५।१७।११-१२)

४ नास्य धेनु कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम्।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया॥ (अथर्व० ५।१७।१८)

५ य गर्भा अवपद्यन्त जगद् यच्चापलुप्यते।
वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान्॥ (अथर्व० ५।१७।७)

६. यदयात शुभस्पती वरेय सूर्यामुप।
विश्वे देवा अनु तद् वामजानन् पुत्रः पितरमवृणीत पूषा॥ (अथर्व० १४।१।१५)

बात की पुष्टि अथर्वसंहिता मे की गयी है[1]। वस्त्रो के प्रयोग का वर्णन प्रायः तेजस्विनी नारियो के लिये ही किया गया है। अथर्वसंहिता मे नारी को सम्बोधित करते हुए कहा गया है—"हे आयुष्मती! तुम इस वस्त्र को धारण करो"[2]।

वैदिक संहिताकालीन समाज मुख्यत. नीवी, वासस्, अधिवास एव उष्णीष, इन चार वस्त्रो को ही धारण करता था। "नीवी" का अथर्वसंहिता (८।२।१६, १४।२।५०) तथा तैत्तिरीय-संहिता (६।१।१।३) मे वर्णन है। "वासस्" का वर्णन ऋकसंहिता (१।१२४।३) म प्राप्त है। "अधिवास्" वस्त्र का वर्णन ऋक्संहिता (१।१४०।९, १।१६२।१६, १०।५।४) मे मिलता है। "उष्णीष्" का वर्णन केवल अथर्वसंहिता (१५।२।५) मे मिलता है। इसके अतिरिक्त वधू के वस्त्रो का वर्णन ऋक्संहिता (१०।८५।१४ तथा १०।८५।२) मे मिलता है। उषा के वर्णन-प्रसग मे अधिकाश तुलनाएँ कन्याओ या बन्धुआ के साथ की गयी है, जिनसे स्पष्ट है कि उस समय नारी का समाज मे स्थान "उषा" की तरह नित नवीन बना हुआ था।

गृहपत्नी की विविध तुलनाएँ—

यजुर्वेदसंहिता (१।६) मे एक प्रश्न करते हुए मानव से पूछा गया है कि "हे पुरुष! तुमको कार्यों मे कौन लगाता है?" इससे पूर्व यजु संहिता (१।३) मे भी जिज्ञासा की गयी है कि "हे पुरुष! तुमने ईश्वर को किस परम पावनी शक्ति से गौ के रस के सदृश पुष्टिप्रद रस प्राप्त किया है?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है—"यह, उस यज्ञ-पुरुष (परमात्मा) की परमेश्वरी-शक्ति है, जिसका प्रकाश वेदो मे है, जो सम्पूर्ण जगत् की रचना करता है और निखिल जीवमात्र को कार्यों मे लगाता है"[3]। इस प्रकार परम पुरुष की आद्याशक्ति नारी को विश्वकर्त्री और विश्वधात्री उपाधियों से विभूषित किया गया है।

गृहपत्नी के दृष्टान्त से राष्ट्र का वर्णन करते हुए कहा गया है—"हे पुरुष! तुम न डरो और न उद्विग्न हो, क्योंकि मैने (परमात्मा ने) तुम्हारे हित के लिए द्वित अर्थात् स्त्री-पुरुष(पति-पत्नी) को नियुक्त किया है"[4]। इस मन्त्र म शासक (राजा)

---

१ आशासाना सौमनस प्रजा सौभाग्य रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा स नह्यस्वामृताय कम्॥ (अथर्व० १४।१।४२)

२ या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्तॉ अभितोऽददन्त।
तास्त्वा जरसे स व्ययन्त्वायुष्मतीद परि धत्स्व वास॥ (अथर्व० १४।१।४५)

३ सा विश्वायु सा विश्वकर्मा सा विश्वधाया॥ (यजु० १।४)

४ मा भेर्मा संविक्था अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्।
त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा॥ (यजु० १।२३)

को कहा गया है कि तुम भय-रहित होकर राष्ट्रमय यज्ञ का संचालन करो; क्योंकि राष्ट्र के प्रतिपालक, पोषक पति-पत्नी तुम्हारे साथ हैं ।

पृथिवी के साथ मातारूप में नारी की तुलना करते हुए उसे अन्नदात्री, ज्ञानदात्री, सुखदात्री कहा गया है[1], जिसकी पुष्टि आगे चलकर मनुस्मृति में "माता मूर्त्ति पृथिव्या" कहकर की गयी है। इस प्रकार इस मन्त्र में नारी को शिक्षा और उत्तम स्वास्थ्य की आधारशिला माना गया है। माता-पिता के ऋण से मानव आजीवन उऋण नहीं हो सकता, इसलिये उत्तम पदार्थों से माता-पिता तथा वृद्धजनों के तर्पण की बात कही गयी है[2]।

वेद-वाणी एवं विद्युत् के सदृश पत्नी का वर्णन करते हुए पुरुष, पत्नी के सम्बन्ध में कहता है—"धारण, पोषण में समर्थ, कार्यकुशल, दूरदर्शिनी पत्नी के माध्यम से मैं सम्पूर्ण कार्यों का सम्पादन करूँ। मैं उसके तथा वह मेरे जीवन को कभी भी हानि न पहुँचाये और मैं उसके सम्यक् दर्शन से वीर पुत्र को प्राप्त करूँ"[3]।

पुत्रोत्पत्ति के प्रसंग में नारी की तुलना विद्युत् से करते हुए तथा "उर्वशी" को विद्युत् एवं "पुरूरवा" को मेघ मानते हुए अग्नि के दृष्टान्त से राजा और प्रजा की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है[4]।

नारी की तुलना सेना से करते हुए कहा गया है—"हे भार्ये ! तुम गृहस्थ-सम्बन्धी समस्त कार्यों की संचालिका हो, मैं तेरा पति हूँ और राजा के राज्य में सेनापति। मेरा कर्त्तव्य है कि मैं अपने शत्रु की सेनारूपी "स्त्री" पर अधिकार करते हुए आक्रामकों का वध करूँ"[5]।

पत्नी और पृथिवी द्वारा अपने योग्य पालक पति के धारण का वर्णन यजु:संहिता (८।४१–४२) में किया गया है। विशेष रूप से यजु:संहिता के अष्टम अध्याय का ४३वाँ मन्त्र तो बड़ा ही हृदयग्राही है, जिसमें गौ, स्त्री और पृथ्वी पर समानरूप से घटने वाले विशेषणों का वर्णन किया गया है[6]। यजु:संहिता (११।३९) में विदुषी नारी के दृष्टान्त से प्रजा को उसके पालक के सम्बन्ध में उपदेश दिया गया है।

---

१. पृथिवी मातर्मा मा पृथिवी माता ह्वयताम् ॥ (यजु० २।१०)

२. स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ (यजु० २।३४)

३. समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा ।
मा म आयुः प्रमोषीर्मोऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि सन्दृशि ॥ (यजु० ४।२३)

४. अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि । (यजु० ५।२)

५. आददे नार्यसीदमहं रक्षसा ग्रीवा अपि कृन्तामि ॥ (यजु० ५।२२)

६. इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति ।
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात् ॥ (यजु० ८।४३)

पवित्र यज्ञ की घृत-धाराओं से उत्तम नारियों तथा कन्याओं की तुलना की गई है, यह तुलना नि सन्देह अद्वितीय है[1] ।

"यज्ञ" भारतीय समाज में भगवान् के रूप में माना जाता है और उसको बढ़ाने वाली घृत धाराएँ पवित्रता की प्रतीक। गार्हस्थ्य-कार्य भी एक प्रकार का यज्ञ है, जिसे पति अपने सत्प्रयासों से पूर्ण करने की चेष्टा करता है। इस प्रयासरूपी अग्नि की लपटें जब कभी भी मन्द पड़ने लगती हैं, तो पत्नी उसे अपने सहयोग से प्रदीप्त करती है। सप्तपदी की अन्तिम प्रतिज्ञा का बड़ा ही महत्त्व है, जिसमें पति पत्नी को सखा कहकर सम्बोधित करता है। सखा के इस भाव का परिस्फुरण वाल्मीकि-रामायण (४।१।५२) में उस समय भगवान् राघवेन्द्र के मुख से होता है, जब वे सीता के अपहरण के बाद कहते हैं—"सीता के सभी भाव सचमुच मुझमें समाहित थे और मेरे भाव सीता में"। पत्नी के प्रति विलाप करते हुए महाराज "अज" का कथन कितना हृदयग्राह्य है—"इन्दुमती मेरे घर की शोभा, मन्त्रणा के समय मन्त्री, भोजनादि के समय सखी, ललित-कलाओं के ग्रहण के समय शिष्या थी" (रघुवंश ८।६७)। इस सम्बन्ध में उत्तर रामचरित (१।३९) का 'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यत्" इत्यादि कथन एवं "मालती-माधव" (३।१८) में '*स्त्रीणां भर्त्ता, धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु*", *कितना प्रभावशाली है कि* "नारी के लिये पति और पति के लिये नारी का सम्बन्ध अच्छेद्य होता है।" सचमुच रथ और उसके पहिया एवं वीणा तथा उसके तारों के सहयोग की तरह ही पति-पत्नी का सहयोग होता है, जिसके कारण यह जीवनरूपी यज्ञ पूरा होता है।

पुत्र द्वारा समादर—

संहिताओं में आदर्श-पुत्र के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा गया है— "पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः" (अथर्व ३।३०।२), अर्थात् वह सन्तति (पुत्र-पुत्री) श्रेष्ठ है, जिसके विचार अपनी जननी के विचारों के अनुकूल होते हैं। पुत्र की दृष्टि में भी माता का स्थान सदा सर्वोपरि रहा है, क्योंकि पुत्र या पुत्री की विवादास्पद स्थिति में माँ का हृदय ही सर्वप्रथम चीत्कार कर उठता है—"मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा

१ *अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्।*
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥
कन्या इव वहतुमेतवा उ अञ्ज्यञ्जाना अभिचाकशीमि।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत्पवन्ते ॥ (यजु० १७।९६-९७)

स्वसारमुत स्वसा" (अथर्व० ३।३०।३) अर्थात् भाई-भाई मे और बहन बहन मे द्वेष नही होना चाहिए। उस प्रदेश को पवित्रतम माना गया है, जहाँ ब्रह्म क्षत्र (ज्ञानी-वीर) तेज मिलकर राष्ट्रोन्नति हेतु कार्य करते है।

मातृमान् पुत्र—

वैदिक पञ्च-महायज्ञो (ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेव-यज्ञ, अतिथियज्ञ) मे पितृ-यज्ञ को स्थान देने के पीछे भी हमारे पूर्वजो का उद्देश्य स्पष्ट है कि वे ही पुत्र आदर के भाजन है, जो उत्तमोत्तम पदार्थो से अपने माता-पिता या अन्य पितरो का समादर करते हैं (यजु० २।३४)। पितरो और देवो मे एकरूपता दिखाने की दृष्टि से भी यह कहा गया है[1]। माता के प्रति आदर एव सम्मान व्यक्त करते हुए मातृभक्त पुत्र का यह कथन कितना हृदयग्राही है, जब वह कहता है—"उत्तम उपदेश देने वाली, उत्तम गुणो वाली, उत्तम शिक्षा देने वाली मा! आपके बिना हमारी स्थिति नगण्य है, आप हमारा मार्ग प्रशस्त करे"[2]। एक रोगी पुत्र के हृदय मे भी अपनी माता को देखने की कितनी उत्कट अभिलाषा होती है, इसका जीवन्त प्रमाण सहिता मे देखने को मिलता है[3]।

एक मातृमान् पुत्र जब पृथिवी को माता कहकर सम्बोधित करता हुआ कहता है—"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" (अथर्व० १२।१।१२), तो उसके हृदय मे एक ही भाव और सम्बन्ध रहता है, जिसका दर्शन हम माता और बालक के सम्बन्धो मे पाते हैं। विभिन्न मधुरिमाओ से भरा हुआ पृथिवी का अक्षय भण्डार जीव के लिये उसी तरह उन्मुक्त रहता है, जिस प्रकार माता का विशाल हृदय अपने बेटे के लिये। माता के इस हृदय को न पहचाननेवाले के लिये तो पृथिवी माता एक मिट्टी का ढेर मात्र है, जिस तरह जननी का शरीर अस्थिमात्र। मातृस्वरूप का सच्चा साक्षात्कार तो उस मातृमान् पुत्र को ही होता है, जो श्रद्धा भाव से उसकी उपासना करता है[4]।

---

१ देवा पितरः पितरो देवा। यो अस्मि सो अस्मि। (अथर्व० ६।१२३।३)

२ अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि॥ (ऋ० २।४१।१६)

३ कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात्पितरं च दृशेयं मातरं च॥ (ऋ० १।२४।१)

४ यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीत् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिण।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः॥ (अथर्व० १२।१।८)

अपने कल्याण की भावना हेतु प्रार्थना करता हुआ पुत्र सर्वप्रथम माता-पिता के हित-साधन की बात कहता है[1]। माता के प्रति संहिताकालीन सन्तति का कितना उच्च विचार था, इसका अनुमान परमात्मा की पवित्र वाणी को मातारूप में सम्मान देने वाले इस कथन से होता है, जिसमें कहा गया है—"स्तुता मया वरदा वेदमाता" अर्थात् अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिये मैंने वेद-रूपी माता की अर्चना की है।

वस्तुत माँ का यही उदारभाव ही परवर्ती वाङ्मय में सन्तति के लिये इस रूप में अवतरित हुआ होगा—"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"। इसी भावना का फल है कि पुत्र और माता के घनिष्ठ सम्बन्ध के रूप में हमारे सम्मुख शतपथ-ब्राह्मण मातृमान् पुत्रों की एक दीर्घ सूची प्रस्तुत करता है—(१) प्राश्नीपुत्र, (२) कार्शकेयीपुत्र, (३) भालुकी पुत्र, (४) शाण्डिली-पुत्र, (५) जायन्ती-पुत्र, (६) आलम्बी-पुत्र, (७) गौतमी-पुत्र, (८) आत्रेयी पुत्र, (९) पाराशरी-पुत्र, (१०) कौत्सी पुत्र, (११) भारद्वाजी-पुत्र, (१२) कर्णी पुत्र, (१३) गार्गी-पुत्र इत्यादि।

पिता द्वारा आदर—

पिता अपनी पुत्री को योग्यतम वर के हाथों में देना अपना धर्म मानता था। हविष्मान् वर के हाथों में उसे अपना हविष्मती कन्या देने पर गौरव होता था। हविष्मान् वायु अपनी ग्रहण शक्ति से जिस प्रकार रसवान् जलों को अपने में सम्पृक्त कर लेता है, उसी प्रकार प्रत्येक गृहपति को भी अपनी पत्नी को अपने में मिला लेने का उपदेश दिया जाता था। स्वयंवरा कन्या को "सूर्या" एवं वरण योग्य वर को "सूर्य" कहा गया है। इस कथन की पुष्टि ऋक्संहिता के दशम-मण्डल के ८५वें सूक्त से होती है। यजु संहिता (६।२३) में यज्ञ के प्रसंग में राजा को प्रजा की रक्षा का उपदेश देते समय 'आप' (जल) के लिये "वसतीवरी" शब्द का प्रयोग हुआ है। "वसति" अर्थात् राष्ट्र के मध्य वसी प्रजाओं को प्रतिनिधि। यहाँ "वसतीवरी" का तात्पर्य उस कन्या से है, जिसे स्वयंवर-प्रथा द्वारा प्राप्त किया जाता है, क्योंकि वसना (कामवृत्ति) की अभिलाषा वाले नवयुवक का वह वरण करती है।

कन्या के प्रति समादर-भाव व्यक्त करते हुए पिता कहता है—"हे कन्ये! मैं तुम्हारा पिता तुझे विपत्तिरहित घर वाले पुरुष को अर्पित करता हूँ। यहाँ तुम इन्द्र, अग्नि, आचार्य, ज्ञानवान् पुरुष, मित्रजनों तथा समस्त विद्वानों के लिए अन्नादि से सत्कार करने वाली बनो"[2]।

---

१ स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्य ॥ (अथर्व० १।३१।४)

२ अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ। (यजु० ६।२४)

पिता की हार्दिक इच्छा होती थी कि उसकी पुत्री सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष के समीप रहे, जिससे राष्ट्र को अजेय शक्ति का उत्तरोत्तर विकास हो सके। इसी भावना के वशीभूत होकर वह अपनी कन्या से कहता है—"हे कन्ये! मैं तुम्हे प्रेम, ज्ञान से सम्पन्न तेजस्वी पुरुष के हाथो मे देता हूँ"[१]। यजु संहिता (१७।९६-९७) मे यज्ञकुण्ड मे दी जाने वाली पवित्र घृत-धाराओ के साथ कन्याओ की तुलना के पीछे छिपा आशय यही है कि नारी-समाज अपने घर को सदा पवित्र बनाये रखे। यही कारण है कि नारी अपने पति से प्रार्थना करती है—"हे पतिदेव! सर्प के समान कुटिल मार्ग, अकारण क्रोध, अभिमान, प्राणनाशक अवगुणो को छोडकर आप सदा सत्याचरण करें, जिससे गृहस्थाश्रम, स्वर्गाश्रम बना रहे"[२]।

सामाजिक-समादर—

ऋक्-संहिता मे क्षेत्रपति के प्रसग मे सीता को देवी मानकर कहा गया है—"हे सौभाग्यवती सीते! आपकी हम स्तुति एव प्रशसा करते है, क्योकि आपके कारण हमे सुख-समृद्धिमूलक सौभाग्य की प्राप्ति होती है"[३]। यहा "सीता" शब्द भले ही हल के अग्रभाग (फाली) के लिए प्रयुक्त हुआ हो, परन्तु इसका उद्देश्य प्रकृति-प्रेमी हमारे ऋषियो की दृष्टि मे नारी सम्मान ही है। इसकी पुष्टि मे उषा देवी का उदाहरण दिया जा सकता है, जिसका वर्णन ऋक्-संहिता मे लगभग ३०० सौ बार स्तुति-रूप मे प्रस्तुत किया है। नित्य-नवीना, यौवनसम्पन्ना, शुभ्रवसना, सत्य-भाषिणी आदि विशेषणो से सम्बोधित कर उसके कन्या, भगिनी, पत्नी, मातृ आदि अनेक रूपो के प्रति आदर व्यक्त किया गया है।

"उषा" की तरह सूर्य की पुत्री "सूर्या" है, जिसने ऋक्संहिता (१०।८५) सूक्त मे वैवाहिक विषयो की विस्तृत चर्चा मे समाज मे अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। "वाक्" देवी को तो धनदात्री, ज्ञानप्रदायिनी, उपदेष्ट्री के साथ आकाशजननी माना गया है। इसी प्रकार इडा (इला), सरस्वती, भारती, होत्रा, सिनीवाली, श्रद्धा

---

१ हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा।
ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ ॥ (यजु० ६।२५)

२ माहिर्भूर्मा पृदाकुर्नमस्त आतानानर्वा प्रेहि।
घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु ॥ (यजु० ६।१२)

३. अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।
यथा न सुभगाससि यथा न सुफलाससि ॥
इन्द्र सीतां नि गृह्णातु तां पूषानु यच्छतु।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम ॥ (ऋ० ४।५७।६-७)

आदि अनेक संहिताकालीन देवियाँ हैं, जिनको उनकी विशेषताओं के कारण समाज ने नारी के रूप में सदा आदर दिया है।

वैदिक-समाज ने ऋषि की वाणी मे पति-पत्नी को आदर देते हुए चक्रवाक-दम्पति की तरह जीने का आदेश दिया है (अथर्व० १४।२।६४), और समान प्रीति वाले होकर घर मे पुत्र-पौत्रो के साथ सुखमय जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया है (ऋ० १०।८५।४२)। संहिताकाल मे माता-पिता का समान रूप मे आदर होता था। माता के सम्मान की तरह पिता के सम्मान मे भी संहिताओं मे अनेक उल्लेख हैं।

ऋक्संहिता— (१) स न. पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव—(१।१।९)
(२) त्वमग्ने प्रमतिस्त्व पितासि—(१।३१।१०)
(३) मा हवन्ते पितर न जन्तव.—(१०।४८।१)
(४, अग्नि मन्ये पितरमग्निम्—(१०।७।३)

यजु संहिता— (१) यो न. पिता जनिता—(१७।२७)
(२) गर्भो देवाना पिता—(३७।१४)
(३) पुनर्न. पितरो मनो ददातु—(३।५५)
(४) स नो बन्धुर्जनिता स विधाता—(३२।१०)

सामसंहिता— (१) त्व हि नः पिता वसो त्व माता—(४।२।१३।२)
(२) उत वात पितासि न उत भ्रातोत न. सखा—(९।२।११)
(३) अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद—(४।२।३।३)

अथर्वसंहिता— (१) प्राण प्रजा. अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्—(११।४।१०)
(२) स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु—(१।३१।४)
(३) द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता—(२।२८।४)
(४) अनुव्रतः पितु: पुत्रो मात्रा भवतु समनाः—(३।३०।२)

परिशीलन—

सामाजिक जीवन-रूपी रथ को सुचारुरूप देने मे नर-नारी-रूपी दोनो पहियों का एक-सा सहयोग अपेक्षित रहा है। यह सही है, नर जहां स्वभावतः कुछ कठोर होता है, वही नारी अपने जन्मजात संस्कारो के कारण कोमल। यही कारण है कि एक ओर पुरुष जहां अपने स्वभावानुकूल कृषि, शासन, सैन्य-संचालन आदि कठिन कार्यों की ओर प्रवृत्त होता है, वहीं नारी सुगमता से शिशुपालन, गृहसंचालन की ओर झुकती है। जब यह कहा जाता है कि नर और नारी पुरुष एव प्रकृति की तरह हैं, तो इसका आशय होता है कि ये दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। पुरुष स्रष्टा है,

तो नारी प्रेमिका के रूप मे अपनी दया, कोमलता, शान्ति तथा समर्पण भावना से उसकी सृष्टि की पोषिका है।

समानता के इस चर्चित प्रसग मे एक जिज्ञासा का उठना स्वाभाविक है कि अगर नर नारी का दर्जा एक-सा रहा है, तो नारो को अदिति, गौ, पृथिवी से लेकर मातृ-भाषा के रूप मे सहिताओ ने इतना महत्त्व और आदर क्यो दिया है ? विद्या की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती, बल का अधिष्ठातृ देवी दुर्गा और धन की अधिष्ठातृ दवी लक्ष्मी को सम्मान देकर पुरुष-वर्ग का इन अधिकारो से वचित क्यो रखा गया है ? पत्नीरूप मे राष्ट्र की परामर्शदात्री और माता क रूप म राष्ट्र को परम हितैषिणी मानने मे वे कौन से कारण है, जिनके लिए आज भी "राम" के नाम से पूर्व सीता और "कृष्ण" के नाम से पूर्व राधा का स्मरण किया जाता है ?

उपर्युक्त जिज्ञासा और शकाओ के समाधान हेतु योगिराज भगवान् कृष्णचन्द्र के इस गीतोक्त कथन की ओर ध्यान देना होगा, जिसमे अपने को "वेदाना सामवेदोऽस्मि" कहा है। यद्यपि "सामवेद" का आकार शेष वैदिक-सहिताओ की तुलना मे सबसे लघु है, क्योकि इसमे कुल १८७५ मन्त्र है, जिनमे ६९ को छोडकर अधिकाश ऋक्संहिता और १७ मन्त्र यजु सहिता और अथर्व-सहिता के हैं। इतना होते हुए भी इसकी प्रतिष्ठा सर्वोपरि है, क्योकि इसमे वैदिक-ऋषियो की आध्यात्मिक भावनाओ के साथ साधक को भक्ति-रसपूर्ण उस काव्यधारा मे डुबकी लगाने का सुअवसर मिलता है, जिसका अन्यत्र अभाव है।

नारी के सर्वाधिक समादर के पीछे भी यही भक्तिभाव मुख्य कारण है, जिसके चलते नारी अपने मृतक पति के साथ भी अपने प्राणो की आहुति देने मे गौरव का अनुभव करती रही है। वेद की पवित्र ऋचाओ की तरह नारी भी स्वाध्यायशील, धार्मिक पुरुष को पवित्र करती और उसके शरीर को निरोग रखती हुई अन्त मे उसे मुक्ति धाम तक पहुँचाती है (साम० उ० ५।२।८)। "वेदो की ऋचाओ की तरह पवित्र ये नारियाँ भी हमारा सदा मगल करे और राष्ट्र समुन्नति के पथ पर अग्रसर हों"। यही मगलमयी भावना हमारे पूर्वजो के हृदय म नारी के समादर म सन्निहित रही है।

उपसंहार

नर-नारी की समानता—

वैदिक संहिताकालीन नारी की स्थिति पर प्रकाश डालने का अभी तक प्रयास किया गया है। उपर्युक्त आठ अध्यायों में वर्णित विषयों तथा आख्यानों से संहितायुगीन स्त्री-समाज के समुत्कर्ष का सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। यह तथ्य है कि कन्या की तुलना में पुत्रप्राप्ति के लिये तत्कालीन समाज अधिक लालायित रहता था, परन्तु पुत्री को तिरस्कार या उपेक्षाभाव से देखा जाता था, इसका एक भी प्रमाण वैदिक-संहिताओं में दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि उस समय के नारी-समाज ने जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति आध्यात्मिक क्षेत्र में भी अपना वर्चस्व बनाये रखा है।

सर्वाधिक महत्त्व की बात तो यह है कि उस समय प्रकृति-माँ की गोद में स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन-यापन करती हुई कन्या अपने जीवन-साथी को चुनने में पूर्ण स्वतन्त्र थी। इस स्वतन्त्रता में यदि कहीं कोई अंकुश था, तो वह था इन्द्रिय-दमन (ब्रह्मचर्य), जिसका पालन करती हुई बालिका बलवान्, ऐश्वर्यवान् भर्ता को पाकर सुशील सन्तान उत्पन्न करती थी। अनुपम प्रीति वाले इस दम्पति की दृढ धारणा थी कि संयमित जीवन से मृत्यु के आघात को भी निष्फल किया जा सकता है (अथर्व० ११।५।१८-१९)। इस युग में पर्दा-प्रथा का न कहीं नाम था और न ही प्रचलन। यही कारण है कि नर-नारी समान रूप से सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सम्मेलनों में भाग लेते थे। नारी के बिना नर को *"श्रौत-याग"* न करने के पीछे भी नारी-सम्मान की भावना ही अन्तर्निहित है। "पत्नी ही घर है, यह इस घर की साम्राज्ञी है और इसे इस घर के सभी प्राणियों पर शासन करने का पूरा अधिकार प्राप्त है" (अथर्व० १४।१४)। नारी-समाज के प्रति इस प्रकार का समादर सम्भवतः संहिता-वाङ्मय को छोड़कर विश्व के किसी भी अन्य साहित्य में उपलब्ध नहीं है।

माता, पुत्री, पत्नी के रूप में नारी का इतना बड़ा सम्मान था कि उसने अपने पृथक् अधिकारों के बारे में सम्भवतः कभी कल्पना भी नहीं की होगी। पिता, पति, पुत्रादि अभिभावकों की मंगलमयी कामना वाली नारी ने अपने आदर्शमय अलौकिक जीवन से जिधर भी दृष्टिपात किया, वह दिशा तत्काल आलोकित होकर जगमगा उठी और वेद-विद्या (सरस्वती) बोल उठी—"विद्वान् नर-नारी का पुनीत कर्त्तव्य है कि वे मिलकर यज्ञादि उत्तम कर्मों का प्रचार-प्रसार करें। पुत्र, माता-पिता के

अनुकूल हो, पत्नी अपने पति के प्रति मधुर वचनों का प्रयोग करे, जिससे देश की उन्नति हेतु उनका गृहस्थाश्रम, स्वर्गाश्रम में परिणत हो जाये" (अथर्व० ३।२०।२-३)।

वेदाध्ययन-अधिकार—

वेद माता (सरस्वती) के मन्दिर में प्रवेश पाने का संहिताकाल में सभी को समान अधिकार था। विद्या अभ्यास में विघ्नभूत कतिपय ऐसे लोगों को हमारे तत्कालीन शिक्षा शास्त्रियों ने अवश्य ज्ञान के इस भण्डार से वंचित रखने का निर्देश दिया था, जो ईर्ष्या, असूया, उद्दण्डता, उच्छृङ्खलता आदि अवगुणों से ग्रसित रहते थे। ऐसे लोगों के अतिरिक्त शेष सभी लोग बिना जाति एवं लिंगभेद के माँ सरस्वती के संहिता-सरोवर में मज्जन करने में स्वतन्त्र थे। इस कथन की पुष्टि निरुक्तकार ने (२।१।४) की है, जिसको दूसरे शब्दों में भगवान् मनु ने अपनी रचना मनुस्मृति (२।११४) में कहा है कि "एक बार वेदमाता, वेदवेत्ता के पास जाकर बोली—"मैं तेरी निधि हूँ, तुम मेरा पालन करो, असूया करने वाले को मुझे मत देना, इसी में मेरी शक्तिमत्ता है।"

उपनयन के साथ ही यज्ञ एवं वेदाध्ययन की स्वीकृति देने वाले ऋक्संहिता (१०।१०९।४) के अनुयायियों के मन में 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयतामिति श्रुति' की भावना कब क्यों आयी, यह एक भिन्न विषय है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह विचार अभारतीय है, क्योंकि इसकी संगति यजुःसंहिता (२६।२) के साथ मेल नहीं खाती, जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा पंचम अतिशूद्र (चाण्डाल) को भी वेद पढ़ने और सुनने की अनुमति दी गयी है। कवष, ऐलूष आदि अनेक मन्त्र द्रष्टा ऋषियों के नाम के साथ जहाँ अपाला, घोषा, लोपामुद्रा, विश्ववारा, जुहू, रोमशा, शश्वती, सर्पराज्ञी आदि महिला मन्त्र द्रष्ट्रियों के साक्षात्कृत मन्त्रों का साक्ष्य वर्तमान है, वहाँ वेदाध्ययन से नारी-समाज को रोकने की बात को जड़ता ही कहा जा सकता है।

राष्ट्र की क्षति—

'संहिता", "ऋचा", "श्रुति" ये स्त्रीलिंगवाची शब्द हैं। माँ सरस्वती, दुर्गा, लक्ष्मी भी नारी के रूप में ही सम्बोधित की जाती है, फिर समझ में नहीं आता कि नारी को पूजा में नारी को निषेध करने का यह अश्लाघनीय अधिकार किसने और क्यों किसी को दिया है ? नहीं तो पवित्रता की आगार जिस नारी को तैत्तिरीय-संहिता (६।१।३) में—"मेखलया यजमानं दीक्षयति योक्त्रेण पत्नीम्" से दीक्षा का सम-अधिकार दिया गया हो और जहाँ से कात्यायन-श्रौतसूत्र (२।७।४) में "आज्यमुद्वास्य पत्नी मवेक्षयति" से देखने मात्र का गुरुतर भार सौंपा गया हो, वहाँ उसे वेदज्ञान से दूर रखने का दूसरा उद्देश्य और हो भी क्या सकता है ?

प्रसन्नता की बात—

प्रसन्नता का विषय है कि स्वतन्त्रताप्राप्ति के अनन्तर हमारे नेतृवर्ग ने अपनी केन्द्रीय एवं प्रदेशीय शासन व्यवस्थाओं में नारी-समाज की दयनीय स्थिति की ओर ध्यान देकर अनेक प्रशसनीय प्रयास किये हैं, जिनसे नारी समाज का सम्मान बढ़ा है।

यह कहा जा चुका है कि संहिताकाल में बाल-विवाह, दहेज-प्रथा एवं सती-प्रथा का अभाव था। अन्तर्जातीय विवाह एवं पुनर्विवाह (विधवा-विवाह) का प्रचलन था। एकपत्नी-व्रत (एक विवाह) को पवित्र माना जाता था और नारी-शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वैदिक-संहिताओं के अनुसार सृष्टि-विकास में पुरुष बीजरूप है, तो नारी क्षेत्ररूप मानी गयी है। नारी के लिये प्रयुक्त स्त्री, श्री जैसे सम्मानजनक शब्द इसके परिचायक हैं कि प्राचीन युग में पवित्रता, पातिव्रत्य, वात्सल्य भाव, सेवापरायणता तथा अगाध श्रद्धा आदि गुणों के कारण नारी का समाज में बड़ा समादर था।

नारी को वैदिक-संहिताकालीन गौरव मिलने में ही राष्ट्र, जाति और समाज का हित है, क्योंकि यह नारी ही है, जो परामर्श के समय नर को एक सुयोग्य मन्त्री की तरह मन्त्रणा देने में सक्षम है। बस अन्त में हम नारी शिरोमणि माता सरस्वती से ऋक्संहिता के प्रथम-मण्डल के तृतीय सूक्त की बारहवीं ऋचा के माध्यम से प्रार्थना करते हैं कि—"हे ज्ञानदायिनी माता सरस्वति! सहृदय हृदय होकर आप हमें अपने ज्ञान-सागर की तरल तरङ्गों से तरङ्गित करें, जिससे हम एक बार फिर भारत-माता की सन्तान की खाली झोली को "नारी सदा पुण्य-राशि है" की भावना से भरकर भारत को भारत बनाने के सत्संकल्प को साकार रूप दे सकने में समर्थ हो सकें"[1]।

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

॥ इति शम् ॥

---

१ महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति॥ (ऋ० १।३।१२)

संहिता-स्तवन

विधाता विबुधैर्विचार्य कथित वेदो हि मूल पर
वेदोऽसौ च विभूषितो बहुविधैर्भागैर्न पञ्चाधिकै. ।
तत्राप्युत्तमतान्विता खलु भृता मन्त्रै शुभा संहिता
लोकेऽस्मिन सतत जयन्ति विदुषा वैदुष्यविद्योतिता ॥ १ ॥

दिन यथा नैव विना दिनेश दिन दिनेशश्च विना सरोजम् ।
श्रिय समाप्नोति तथैव धर्मो वद विनोभौ खलु संहिताञ्च ॥ २ ॥

शक्ति विना चेन्न शिवस्वरूप स्फुरत्यभीक्ष्ण निखिले हि वेदे ।
नारी विना नैव नरस्य काचित स्थितिस्तु तद्वत्र मनुष्यलोके ॥ ३ ॥

ब्रह्माण्डभाण्डमध्यस्था विषया वेदमध्यगा ।
यथा भान्ति तथैवद नारीणामपि वर्णनम् ॥ ४ ॥

मन्त्रद्रष्ट्रच स्त्रियस्तत्र प्रख्याता ऋषयो यथा ।
लोपामुद्रा तथाऽपाला घोषा बह्वृचस्तथैव च ॥ ५ ॥

या नार्यो ह्युपवर्णिता खलु महावैदुष्यभाभूषिता-
स्तासा साधुममादर नरकुलै शश्वत समाराध्यते ।
नासीत् स्त्री मनुजोपभोगरचनामात्र तु काल तदा
रम्य वै गृहिणीपद प्रतिगृह प्रीत तथैवादृतम ॥ ६ ॥

नारी निरीक्ष्य सुषमासरसामपीहा काम न चुम्बति नरस्य तदा स्म काले ।
तस्या जितेन्दुवदन न च वस्त्रजालै सञ्छाद्यते स्म नयनान्धकरै सुमार्गे ॥ ७ ॥

पूजाशक्तिस्वरूपिण्या स्त्रिय सर्वविधीयते ।
राष्ट्रज्योतिश्च सैवासीत वैदिके संहितायुगे ॥ ८ ॥

सहायक-ग्रन्थ-सूची

क्रमांक	ग्रन्थ-नाम	लेखक/सम्पादक/प्रकाशक
१.	अथर्ववेद	स० प० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब बरेली, (उ० प्र०) १९६९।
२.	अथर्ववेद-संहिता	स० गोपाल प्रसाद कौशिक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी—१।
३.	अथर्ववेद	स० दामोदरपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सूरत, १९५८।
४	अथर्ववेद सायणभाष्य	स० शङ्कर पाण्डुरंग पण्डित, बम्बई, १८९८।
५	ऋग्वेद	स० प० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली, १९६९।
६	ऋक्संहिता (स्कन्द-माधव-भाष्यसहित)	स० साम्बशिव शास्त्री, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, १९२९।
७	ऋग्वेद	स० विश्वबन्धु विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर १९६५।
८	ऋग्वेद (सायणभाष्य)	वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९४१।
९	ऋग्वेद-व्याख्या	माधवकृत, स० कुन्हन राजा, सी०, अड्यार पुस्तकालय, १९३९।
१०	कल्याण-नारी अंक	गीताप्रेस गोरखपुर, १९४८।
११	काठक-संहिता	स० दामोदरपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९४३।
१२	काण्व-संहिता	स० दामोदरपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९४०।
१३.	काण्व-संहिता (भाष्यसंग्रह)	सारस्वती सुषमा, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संवत् २०११।
१४	तैत्तिरीय-संहिता	स० दामोदरपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, संवत् २०१३।
१५	निरुक्त	स० भगवद्दत्त, अमृतसर, संवत् २०२१।
१६	निरुक्तालोचन	स० सत्यव्रत सामश्रमी, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, १९०७।
१७	प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी	डॉ० गजानन्द शर्मा, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७१।

१८.	प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति	डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर, मनोहर प्रकाशन, वाराणसी, १९८०।
१९	बौद्ध और जैन आगमों में नारीजीवन	डॉ० कोमलचन्द्र जैन, सोहनलाल जैन, धर्मप्रचारक समिति, अमृतसर, १९६७।
२०	मैत्रायणी-संहिता	दामोदरपाद सातवलेकर, पारडी, १९४२।
२१	यजुर्वेद	दामोदरपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, १९५७।
२२	यजुर्वेद	म० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली, १९६९।
२३.	वाजसनेयि संहिता	सं० ए० वेबर, चौखम्बा सीरीज, वाराणसी, १९७१।
२४	वेदकालीन समाज	डॉ० शिवदत्त ज्ञानी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६७।
२५	वैदिक-कोष	डॉ० सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, १९६३।
२६	वैदिक-कोष	हंसराज, लाहौर, १९२६।
२७	वैदिक वाङ्मय का इतिहास	भगवद्दत्त १/२८ प्रणव प्रकाशन, पंजाबी बाग, दिल्ली, १९७६।
२८	वैदिक साहित्य और संस्कृति	आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, १९६७।
२९	वैदिक संस्कृति के तत्त्व	डॉ० मंगलदेव शास्त्री, समाजविज्ञान परिषद्, वाराणसी।
३०	शुक्लयजुर्वेदीय-काण्वसंहिता	माधवशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९१५।
३१	सामवेद	दामोदरपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, १९३९।
३२	सामवेद	सं० पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली, १९६९।
३३	हिन्दू-धर्मकोष	डॉ० राजबली पाण्डेय, उत्तर-प्रदेश हिंदी संस्थान, संवत २०२७।
३४	हिन्दू परिवारमीमांसा	प्रो० हरिदत्त वेदालङ्कार।
३५	हिन्दू विवाह-मीमांसा	डॉ० प्रीतिप्रभा गोयल, रूपायन संस्थान, १९७६।
३६	हिन्दू-संस्कार	डॉ० राजबली पाण्डेय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६६।
३७	हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास	प्रो० हरिदत्त वेदालङ्कार।
३८.	हिन्दू सभ्यता	राधाकुमुद मुखर्जी, राजकमल प्र०, दिल्ली, १९७१।
३९.	ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि	पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ, मोतीलाल बनारसीदास, १९६७।

४०	अथर्ववेद में सांस्कृतिक-तत्त्व	डॉ० रामछत्र मिश्र, आनन्द प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६८।
४१.	वेदकालीन जनतन्त्रस्थानशनि	रामानुज ताताचार्य, केन्द्रीय विद्यापीठ, तिरुपति, १९७० ई०।
४२	भारत में विवाह और कामकाजी महिलाएँ	प्रमिला कपूर, राजकमल-प्रकाशन, दिल्ली, १९७६।

अंग्रेजी-पुस्तकें

१	पोजिशन आफ वोमेन इन इण्डिया	महारानी बड़ौदा और एस० एम० मित्रा, लाङ्गमैन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी, १९११।
२.	इण्डियन वोमेन थ्रू दि एजेज	पी० थामस, बम्बई, एशिया १९६४।
३	वोमेन इन दि वैदिक एज	शकुन्तलाराव शास्त्री, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९५२।
४	वोमेन इन एन्शियेन्ट इण्डिया	मेरी ई० आर० मार्टिन, चौखम्बा पब्लिकेशन, वाराणसी, १९६४।
५	वोमेन इन दि वैदिक एज	के० एम० मुन्शी, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९५१।
६	वोमेन इन ऋग्वेद	डॉ० भगवत शरण उपाध्याय, नन्दकिशोर ब्रदर्स, वाराणसी, १९४१।
७	दि स्टैच्यू आफ वोमेन इन एन्शियेन्ट इण्डिया	इन्द्रा, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९५५।
८	पोजिशन आफ वोमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन	ए० एस० अल्तेकर, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६२।